प्राक्कथन

'विदेश नीतियां' विश्व के पांच प्रमुख देशों के पारस्परिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक समीक्षात्मक विवेचन है। युद्धोत्तरकाल की जटिल एवं नाजुक पृष्ठभूमि में संसार की महान शक्तियों एवं उनसे प्रभावित होने वाले प्रमुख देशों ने विश्वशांति और राष्ट्रीय हित के प्रश्नों को किस दृष्टि से देखा है और किन-किन संदर्भों में किस-किस प्रकार का सुलझाने या उलझाने का प्रयास किया है उसी का एक दिग्दर्शन पाठक इन पृष्ठों में पायेंगे।

आशा है छात्र वर्ग एवं हिन्दी माध्यम के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पाठक इसे उपयोगी एवं रोचक पायेंगे।

लेखकगण

विषय-सूची

विदेश नीति का परिचयात्मक विश्लेषण i
(The Introductory Analysis of Foreign po'icy)
विदेश नीति के अध्ययन के प्रमुख दृष्टिकोण vi
(Basic Approaches to the study of Foreign policy)
विदेश नीति के तत्व x
(The Elements of Foreign policy)
शीत युद्ध के सन्दर्भ में विदेश नीति xiii
(Foreign policy in the context of the Cold War)

१. भारत की विदेश नीति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलू १
(The Theoretical and Practical Aspects of India's Foreign Policy)

भारत की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त ...
(The Basic Principles of Indian Foreign Policy)
भारत में गुटनिरपेक्षता की नीति २७
(Non-aligned policy in India)
विदेश मन्त्री छागला और गुट निरपेक्षता की नीति ... ३३
(Foreign Minister Chagla and Non-aligned Foreign Policy)
विदेश नीति की विशेषतायें ३६
(Characteristics of the Foreign Policy)
विदेश नीति के लक्ष्य ३९
(The Objectives of India's Foreign Policy)
भारत और पाकिस्तान ४५
(India and Pakistan)
भारत और साम्यवादी चीन ६२
(India and Communist China)
भारत और नेपाल ७९
(India and Nepal)
भारत और सोवियत संघ ८४
(India and Soviet Union)
भारत और पूर्वी यूरोप के देश ८६
(India and East European Countries)
भारत और पश्चिम जर्मनी ८९
(India and West Germany)

भारत और पश्चिम एशिया ९४
(India and West Asia)
भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन ९८
(Evaluation of India's Foreign Policy)
भारतीय विदेश नीति की कालिमा १००
(The black side of India's Foreign Policy)
Suggested Readings 102

२. सोवियत रूस की विदेश नीति १०४
(Foreign Policy of U.S.S.R.)

विदेश नीति में निर्णय लेने की प्रक्रिया १०४
(Decision making Process in Foreign Policy)
सोवियत विदेश नीति के लक्ष्य ११४
(Objects of Soviet Foreign Policy)
सोवियत विदेश नीति के साधन १२०
(The Means of Russian Foreign Policy)
स्टालिनवादी विदेश नीति १२६
(Stalin's Foreign Policy)
स्टालिन के बाद की सोवियत विदेश नीति १३०
(Post-Stalin Soviet Foreign Policy)
सोवियत संघ और अमरीकी विदेश नीति १३२
(Soviet Union and American Foreign Policy)
सोवियत रूस तथा अर्ध-विकसित देश १३५
(The Soviet Union and under-developed Countries)
अर्ध-विकसित देशों के प्रति वर्तमान नीति १३७
(The present policy towards under-developed Countries)
सोवियत विदेश नीति भविष्य के संदर्भ में १३९
(Soviet Foreign Policy in the Future Context)
Selected Readings 140

३. संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति १४२
(Foreign Policy of United States of America)

नीति निर्माण की प्रक्रिया... ... ... १४२
(The policy-making process)
अमरीकी राष्ट्रपति और विदेश नीति १४३
(American President and the Foreign Policy)

राज्य विभाग का योगदान १४६
(The Role of Department of State)
अन्य अभिकरणों का योगदान १४७
(The Role of other Agencies)
सुरक्षा विभाग का योगदान १४८
(The Role of the Department of Defence)
नीति निर्माण में कांग्रेस का योगदान १४९
(The Role of Congress in Policy Making)
नीति निर्माण में जनता का योगदान १५२
(Role of Public in Policy Making)
सन् १९४५ से पूर्व अमरीकी विदेश नीति १५९
(U. S. Foreign Policy before 1945)
सन् १९४५ के बाद अमरीकी विदेश नीति १६१
(U. S Foreign Policy after 1945)
अमरीकी विदेश-नीति के उतार-चढ़ाव १६१
(The Tides of U. S. Foreign Policy)
ट्रूमैन सिद्धान्त १६६
(Truman Doctrine)
मार्शल योजना १६७
(Marshal Plan)
चार-सूत्री योजना १६८
(The Four point Programme)
सैनिक शक्ति की ओर झुकाव १६९
(The emphasis upon Military Power)
अमरीका और साम्राज्यवाद १७४
(America and Imperialism)
आइजनहावर के समय अमरीकी विदेश नीति ... १७६
(U. S. Foreign Policy during Eisenhower Administration)
विदेश नीति के नवीन सीमा प्रदेश १७७
(The New Frontiers of Foreign Policy)
Selected Readings 180

४. साम्यवादी चीन की विदेश नीति १८५
(The Foreign Policy of Communist China)
चीन का दृष्टिकोण १८५
(The Chinese Attitude)

साम्यवादी चीन में निर्णय लेने की प्रक्रिया १८७
(Decision-making in Communist China)
नीति-निर्माण में साम्यवादी दल का योगदान ... १८८
(The Role of Party in policy-making)
सरकार की औपचारिक संस्थाएं १८९
(The Formal Institutions of Govt.)
विदेश नीति का व्यावहारिक पक्ष १९१
(The Practical Side of Foreign Policy)
विदेश नीति के आधारभूत तत्व १९२
(The Basic Elements of Foreign Policy)
विदेश नीति के लक्ष्य १९३
(The Aims of Foreign Policy)
विदेश नीति के साधन १९७
(The Means of Foreign Policy)
चीन और संयुक्त राज्य अमरीका २००
(China and U. S. A.)
चीन तथा साम्यवादी रूस २०३
(China and Communist Russia)
चीन और भारत २०७
(China and India)
चीन और एशिया एवं अफ्रीका २०९
(China and Africa-Asia)
Suggested Readings 212

५. ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति २१३
(Foreign Policy of Great Britain)
ग्रेट ब्रिटेन में नीति निर्माण २१३
(Policy making in Great Britain)
शक्ति सन्तुलन की नीति २२५
(Balance of Power Policy)
ब्रिटिश विदेश नीति एवं वर्तमान विश्व-राजनीति ... २२७
(The British foreign policy and modern world politics)
मध्यपूर्व से सम्बन्धित ब्रिटिश नीतियां २३१
(British policies towards Middle East)
ग्रेट ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल २३२
(Great Britain and Commonwealth)
Suggested Readings — —

विदेश नीति का परिचयात्मक विश्लेषण

[THE INTRODUCTORY ANALYSIS OF FOREIGN POLICY]

वर्तमान संसार राष्ट्रों का संसार है जिसमें स्थित इकाईयां विज्ञान के आविष्कारों के परिणाम स्वरूप एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गई है। द्रुतगामी यातायात के साधनों ने तथा संचार की कार्यकुशल व्यवस्था ने सारे संसार को एक परिवार का रूप प्रदान कर दिया है। दो देशों के बीच की दूरी आज नाम मात्र की रह गई है; किन्तु फिर भी देशों के परस्पर विरोधी हितों ने उनके बीच अन्तर तथा मन मुटाव की खाईयों को अत्यन्त गहरा बना दिया है। सम्प्रभुता की धारणा, जिस पर कि राष्ट्र राज्य का अस्तित्व निर्भर करता है, विश्व के देशों को कुछ भी करने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। हर देश अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए एक विशेष समय में कुछ भी निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र है। किसी भी देश को कानूनी रूप से यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह दूसरे देशों के निर्णयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सके। इस प्रकार हर देश अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है और इस नाते वह स्वयं ही इस बात का निर्णय करेगा कि किस देश के साथ वह मैत्री सम्बन्ध रखे और किस के साथ वह तनाव पूर्ण संबंध रखे। दूसरे शब्दों में एक देश की विदेश नीति का स्वरूप, विशेषताएँ एवं साधन प्रायः वे ही होंगे जो कि वह स्वयं निर्धारित करेगा। इस सम्बन्ध में कोई भी देश किसी अन्य देश का हस्तक्षेप स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। एक देश की जनसंख्या चाहे कितनी ही कम हो, उसका क्षेत्रफल चाहे कितना ही छोटा हो, सैनिक शक्ति की दृष्टि से चाहे वह कितना ही हीन हो और उसके साधन स्रोतों की स्थिति चाहे कितनी ही कमजोर क्यों न हो किन्तु फिर भी जब तक वह सम्प्रभुता सम्पन्न है उस समय तक अपने से अधिक शक्तिशाली देश के दबावों का विरोध करने के लिए वह समर्थ होता है। इस दृष्टि से संसार के सभी राष्ट्र समान समझे जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ राष्ट्रों की इसी समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। यह विश्व समाज की इकाईयों की सैद्धान्तिक वस्तुस्थिति है। इसकी व्यावहारिक स्थिति इससे पर्याप्त भिन्न है।

वास्तविक व्यवहार का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी देश अपने आप में इतना स्वतन्त्र नहीं है जितना कि सिद्धान्त रूप से उसे समझा जाता है। प्रत्येक देश की राष्ट्रीय नीतियों का तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का उसके पड़ौसी देशों तथा विश्व के अन्य देशों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने पौण्ड का अवमूल्यन किया। यह उसका घरेलू

मामला था और ऐसा करने का उसे पूरा-पूरा अधिकार था किन्तु इस सब के बावजूद भी उसका यह निर्णय एक ओर तो विश्व की तत्कालीन आर्थिक स्थिति का परिणाम था और दूसरी ओर यह अन्य देशों के ऊपर भी प्रभाव डालने में सक्षम था। यही कारण है कि ग्रेट ब्रिटेन के मुद्रा अवमूल्यन के तुरन्त बाद ही अनेक देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया और अन्य कुछ देश भी इसकी सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए मजबूर हो गये। यह एक उदाहरण मात्र है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी देश अन्य देश द्वारा अपनाई गई नीतियों के प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता और न ही वह देश अपनी नीतियों के प्रभावों को केवल अपनी सीमाओं में ही संकुचित कर पाता है। ऐसी स्थिति में हर देश को पर्याप्त विचार विमर्श के बाद यह तय करना होता है कि वह अन्य देशों के साथ किस प्रकार के सम्बन्ध रखे जो कि उसके स्वयं के राष्ट्रीय हितों की सिद्धि कर सकें और अन्य देशों के हितों के भी विरुद्ध न हों।

प्रत्येक देश को अपनी विदेश नीति तय करनी होती है। वर्तमान संसार में कोई भी देश दूसरे देशों की न तो अवहेलना कर सकता है और न ही उसका विरोधी रुख अपना सकता है। ऐसा करना उसके स्वयं के ही हित में नहीं होता। विभिन्न देशों की पारस्परिक दूरी चाहे कितनी ही क्यों न हो उनके बीच थोड़ा बहुत सम्बन्ध अवश्य रहता है। विदेश नीति तय करते समय एक देश की सरकार को कुछ कार्य करने का और कुछ कार्य न करने का निर्णय लेना होता है। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का महत्व संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना तथा अनेक नये राज्यों के अभ्युदय के कारण और भी अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। यद्यपि आज भी हर देश सम्प्रभु है तथा इस तथ्य को प्रत्येक दूसरे देश द्वारा भी स्वीकार किया जाता है किन्तु फिर भी पारस्परिक सम्बद्धता इतनी घनिष्ट एवं निकटवर्ती बन चुकी है कि दूसरे देशों के प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं रह सकता। आज कोई भी महाशक्ति विश्व जनमत, विश्व संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं समझौते आदि की अवहेलना करके अधिक समय तक नहीं रह सकता। राष्ट्रों की पारस्परिक निर्भरता की स्थिति ने प्रत्येक छोटे व बड़े देश की कुछ भी करने की स्वतन्त्रता को मर्यादित बना दिया है। कुल मिलाकर इस समय की स्थिति यह है कि कोई भी देश 'एकला चलो रे' की नीति नहीं अपना सकता। उसे प्रत्येक देश के साथ किसी न किसी प्रकार के सम्बन्धों का विकास करना पड़ेगा। इन सम्बन्धों का रूप अनेक बातों पर निर्भर करता है। ये बातें उस देश के अधिकार में हो भी सकती हैं और नहीं भी। ताश के खिलाड़ियों की भांति प्रत्येक देश को कुछ पत्ते प्रदान कर दिये जाते हैं। इन पत्तों अर्थात् निश्चित परिस्थितियों का चयन प्रायः उस देश की इच्छा पर निर्भर नहीं रहता। उसके अधिकार की बात तो केवल यह है कि वह इन परिस्थितियों का प्रयोग किस प्रकार करता है। इस प्रकार कोई भी देश बाहरी वातावरण से अपने आपको अछूता नहीं रख सकता। वह वातावरण का स्वयं निर्माण भी करता है और उससे प्रभावित भी होता है। ब्लेक तथा थाम्पसन का यह कहना सही है कि "राष्ट्रों द्वारा एक स्थित विश्व-वातावरण के सन्दर्भ में

विदेश नीति के अध्ययन के प्रमुख दृष्टिकोण
[Basic Approaches to the Study of Foreign Policy]

किसी भी देश की विदेश नीति का अध्ययन करते समय विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं। तथ्यों की जानकारी किस रूप में की जाये तथा उनके परिणामस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले जाये उनका महत्व किस प्रकार आंका जाये यह बात अध्ययन कर्ता द्वारा स्वयं ही निर्धारित की जायेगी। अध्ययन के समय जो भी दृष्टिकोण अपनाया जायेगा उसके फलस्वरूप घटनाओं का क्रम भी वैसे ही संजोया जाएगा। विदेश नीति के किस तत्व को अधिक महत्व दिया जाये और किस तत्व को कम महत्व दिया जाये यह बात भी अपनाये गये विशेष दृष्टिकोण के आधार पर निश्चित की जाती है। ब्लैक और थाम्पसन ने विदेश नीति का अध्ययन करने के लिए अपनाये जाने वाले दृष्टिकोणों को चार भागों में विभाजित किया है। ये निम्न प्रकार हैं—

१. ऐतिहासिक, कानूनी तथा व्याख्यात्मक तरीका
[Historical, Legalistic and Descriptive Method]

विदेश नीति के अध्ययन का एक तरीका यह होता है कि जिस देश की विदेश नीति के सम्बन्ध में हमे जानकारी प्राप्त करनी है उसके विगत इतिहास की जानकारी प्राप्त करें तथा यह देखें कि अतीत काल में किस देश के साथ उसके सम्बन्ध किस प्रकार के रहे थे, उसने किन राष्ट्रीय हितों को अपनी विदेश नीति का लक्ष्य बनाया था, लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसके द्वारा कौन-कौन से साधन अपनाये गये थे तथा उनके परिणामों के सम्बन्ध में उस देश की क्या प्रतिक्रिया रही है। यह सब जानने के बाद हमें यह मालूम हो जाएगा कि उस देश के द्वारा इस समय किन देशों के साथ क्या सम्बन्ध रखे जा रहे है तथा वह अपने राष्ट्रीय हितों की सिद्धि के लिए क्या साधन अपना रहा है। इस प्रकार अतीत इतिहास की जानकारी वर्तमान की वस्तु-स्थिति पर प्रकाश डालने में समर्थ होती है। इतिहास के अध्ययन से वर्तमान के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

कानूनी तौर पर विश्लेषण करते हुए यह देखा जाता है कि एक देश के संविधान तथा कानून में क्या प्रावधान किये गये हैं। अनेक देशों के संविधान में उसकी विदेशी नीति से सम्बंधित कई एक संकेत प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए साम्यवादी चीन का संविधान यह कहता है कि वह सोवियत संघ के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखेगा। इसी प्रकार सोवियत रूस का संविधान भी साम्यवादी देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाये रखने की बात कहता है। भारतीय संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्व विश्व शांति एवं सहयोग की दिशा में देश को अग्रसर करने का प्रयास करते है। इस प्रकार हर देश का संविधान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह स्पष्ट कर देता है कि किसके साथ उसे किस प्रकार के सम्बन्ध रखने हैं और विश्व समाज में उनका क्या स्थान होगा। जब कभी उस देश की विदेश नीति का

अध्ययन किया जाये तो इन कानूनी प्रावधानों का अध्ययन कर लेना भी पर्याप्त उपयोगी रहता है।

विदेश नीति के अध्ययन के लिए अपनाये गये इस ऐतिहासिक एवं कानूनी दृष्टिकोण में विवरणात्मक तरीके की सहायता ली जाती है। अतीत की घटनाओं का तथा कानूनी प्रावधानों का यों की त्यों विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इनका विश्लेषण नहीं किया जाता और न ही इनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस दृष्टिकोण से यदि हम संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति का अध्ययन करें तो पायेंगे कि इस देश ने मुनरो सिद्धान्त को अपना कर अपने आपको शेष संसार से पृथक रखा तथा यह प्रयास किया कि कोई भी बाहरी देश इस महाद्वीप की घटनाओं में हस्तक्षेप न करे तथा यह स्वयं भी उन देशों की घटनाओं में कोई रुचि नहीं दिखा रहा था। प्रथम विश्व युद्ध में अमरीका को भाग लेना पड़ा किन्तु बाद में फिर इसने विश्व की घटनाओं की ओर से कछुए की भांति अपने अंगों को सिकोड़ लिया। द्वितीय विश्व युद्ध में पुनः अमरीका को भाग लेना पड़ा और इसके बाद अपने अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर वह फिर से पार्थक्यवाद की नीति की ओर नहीं मुड़ा. युद्ध के बाद अमरीकी विदेश नीति मे अनेक उतार-चढ़ाव आये। प्रारम्भ में यह सहयोग तथा आनुकूल्य की नीति थी। बाद में सोवियत संघ के साथ धैर्य एवं कठोरता की नीति बन गई और उसके बाद यह शीत युद्ध एवं साम्यवाद को सीमित करने की नीति बन गई। शीत युद्ध के साधन, तरीके एवं तकनीकें भी समय समय पर बदलते रहे। सैनिक सन्धियां, आर्थिक प्रतियोगिता, विदेशी सहायता, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व आदि नीतियों को अपनाया गया। अमरीकी विदेश नीति के इतिहास के ये तथ्य केवल वर्णनात्मक शैली में ही प्रकट किये गये हैं। इस शैली का प्रयोग करते समय यह नहीं देखा जाता कि कोई घटना एक विशेष रूप में ही क्यों हुई वह किसी अन्य रूप में क्यों नहीं हो गई।

२. विचारधारागत दृष्टिकोण
(The Ideological Approach)

प्रत्येक देश की विदेश नीति किसी न किसी प्रकार की विचारधारा का आश्रय लेकर आगे बढ़ती है। मानव प्रकृति की यह विशेषता है कि वह अपने सभी कार्यों को ऊंचे आदर्शों का रंग देना चाहती है। तदनुसार एक देश चाहे वह युद्ध में रत है अथवा शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ावा दे रहा है; चाहे पार्थक्यता की नीति अपनाये अथवा विश्व राजनीति में अत्यन्त सक्रिय हो; वह पड़ौसी देशों पर आतंक जमाये अथवा सहयोग पूर्ण सम्बन्धों का विकास करे–प्रत्येक दशा में वह अपने व्यवहार को किसी न किसी आदर्श या विचारधारा के अनुरूप बना देता है। एक देश अपने आक्रमण का लक्ष्य आत्मरक्षा, विश्व शान्ति, पारस्परिक सहयोग, आतंक का विरोध, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध, शोषण का अन्त, गरीब देशों की प्रगति आदि को बता सकता है। जिस प्रकार रूसो ने कहा था कि व्यक्ति को

स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जा सकता है उसी प्रकार आज के राष्ट्र जब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवहार करते हैं तो कुछ कुछ इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाते हैं।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक देश जो सोचता है वह प्रकट नहीं करता और जो प्रकट कर रहा होता है उसे वह वास्तव में सोच रहा नहीं होता। हिटलर के आक्रमणों के पीछे जो प्रचार कार्य कर रहा था उसके अनुसार जर्मनी के लोगों की धमनियों में शुद्ध रक्त बहता है। वे आर्य जाति के लोग हैं और उनको संसार पर शासन करना चाहिए इसी में संसार के लोगों का कल्याण है। मुसोलिनी ने युद्धों का सहारा लिया और बताया कि युद्ध जीव विकास के सिद्धान्त के अनुरूप होते हैं। ये योग्यतम को रहने और अयोग्यों की समाप्ति की व्यवस्था करते हैं। इनसे अनेक मानवीय गुणों का विकास होता है। साहस, सहयोग, आत्मविश्वास, देशप्रेम, एकता, स्वाभिमान आदि का विकास युद्धों के माध्यम से ही होता है। ग्रेट ब्रिटेन का उदाहरण हमारे सामने है जिसने अपनी साम्राज्यवादी नीतियों पर आवरण डालने के लिए देश और विदेश के लोगों को अनेक प्रकार की बातें कहीं। एशिया तथा अफ्रीका के लोगों पर शासन को श्वेत लोगों का भार मानकर स्वीकार किया गया। कहने का अर्थ यह है कि देश चाहे वह किसी प्रकार की नीति का अनुगमन करे, उसे अपनी इन नीतियों के लिए सैद्धान्तिक पुट देना पड़ता है। इसी को कूटनीति का एक विशेष लक्षण माना जाता है। कूटनीतिज्ञ जो कहता है वह करता नहीं है और जो करता है उसे कहता नहीं है। कहा जाता है कि एक कूटनीतिज्ञ जब किसी कार्य के लिए हां कह दे तो समझिये कि उसकी सम्भावना है; यदि वह सम्भव शब्द का प्रयोग करे तो जानिये कि कार्य नहीं होगा, नहीं शब्द का प्रयोग तो कूटनीतिज्ञ के व्यवहार का लक्षण ही नहीं होता।

शीत युद्ध की स्थिति में साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी गुटों के बीच विचारों एवं शब्दों का जो आदान-प्रदान हुआ था तथा एक दूसरे पर जो आक्षेप और प्रत्याक्षेप लगाये गये थे उनके अध्ययन से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। सोवियत संघ द्वारा अपने विरोधी संयुक्त राज्य अमरीका की नीतियों को साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, शोषणवादी तथा विश्व शान्ति के लिए खतरनाक बताया गया जबकि वह स्वयं की नीतियों को विश्व शान्ति व शोषित वर्ग की समर्थक, तानाशाही व साम्राज्यवाद के विरुद्ध एवं पूंजीवादी अत्याचारों के विरुद्ध सिद्ध करता रहा। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका भी सोवियत संघ की नीतियों को विश्व शांति विरोधी, स्वतन्त्रता-विरोधी, छोटे राष्ट्रों पर प्रभाव जमाने वाली तथा साम्राज्यवादी कहता है, किंतु स्वयं को वह प्रजातंत्र का रक्षक, स्वतंत्रता का रक्षक, विकास का समर्थक तथा मानव अधिकारों का पक्षपाती कहता है। इनमें कौनसा पक्ष सही है और कौनसा गलत है, इस सम्बन्ध में विचार भिन्नता हो सकती है किंतु यह तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक देश अपने कुनेन जैसे स्वार्थ पूर्ण व्यवहार को भी सिद्धान्तों एवं विचारधारा की चासनी में पागने की नीति

अपनाता है। इस प्रकार की नीति अपनाते हुए कई बार उसे ऐसे कार्य भी करने होते हैं जो कि उसके कथन की सत्यता को असंदिग्ध बना सकें तथा उसे प्रचार का एक सहारा प्रदान कर सकें।

विदेश नीति के अध्ययन का विचारधारागत दृष्टिकोण यह कहता है कि जब हम किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं तो हमें पहले यह देखना चाहिए कि वह देश किस विचारधारा का पक्षपाती है तथा किन सिद्धान्तों की प्राप्ति के लिए उसने अपने समस्त राष्ट्रीय साधन स्रोतों को लगा रखा है। इस दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि एक देश अपने व्यवहार के लिए विचारधारा का सहारा चाहे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन प्राप्त करने के लिए ही क्यों न ले किन्तु यह सच है कि इससे उसके व्यवहार को दिशा का निर्देश प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए जब हम यह देखते हैं कि एक देश विशेष द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था, साम्राज्यवादी व्यवहार, मजदूरों के शोषण एवं सामन्तवाद का विरोध किया जा रहा है और वह साम्यवादी विचारधारा का पक्षपोषण कर रहा है तो हमें यह जानने में अधिक कठिनाई नहीं होती कि सोवियत संघ से उसके सम्बन्ध कैसे होंगे और संयुक्त राज्य अमरीका के साथ उसके क्या सम्बन्ध होंगे।

विदेश नीति के अध्ययन का यह विचारधारागत दृष्टिकोण अत्यन्त सरल होता है। इसे समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती। प्रत्येक देश का प्रचार यन्त्र उसकी विचारधारा का अविरल रूप से समर्थन करता रहता है। उस देश की विचारधारा के अनुरूप ही उसके व्यवहारों के लक्ष्यों एवं साधनों को सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है। इस दृष्टिकोण की अपनी कुछ कमियां तथा दोष भी है। इसकी कमी यह है कि एक देश के द्वारा प्रदर्शित विचारधारा उसके वास्तविक लक्ष्यों एवं साधनों का प्रतिबिम्ब नहीं होती। अतः कई बार अध्ययनकर्त्ता को गलतफहमियों का शिकार भी बनना पड़ता है। इसके अतिरिक्त विचारधारा स्वयं अपने आप में लक्ष्य नहीं हुआ करती; वह तो राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति का एक साधन मात्र है। विचारधारा की खातिर कोई भी देश अपने राष्ट्रीय हित को बलिदान नहीं कर सकता। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से विचारधारा में ही जहां-तहां परिवर्तन एवं संशोधन किये जा सकते हैं। साम्यवादी चीन तथा सोवियत रूस की वर्तमान विदेश नीति इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है। ये दोनों देश एक ही विचारधारा में विश्वास रखते हुए भी परस्पर विरोधी एवं संघर्ष पूर्ण विदेश नीति का पालन कर रहे हैं। दोनों के बीच मनमुटाव का कारण यह है कि उनके राष्ट्रीय हित कई स्थानों पर टकराते हैं। अतः उनके बीच मित्रता रह ही नहीं सकती। दोनों देशों ने अपने सिद्धान्तों को स्वय के राष्ट्रीय स्वार्थों के अनुरूप ही मोड़ दे दिया है। एक देश अपने आपको मार्क्सवादी तथा लेनिनवादी कहता है जबकि दूसरा देश मार्क्सवाद को नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखने का प्रयास करता है। दोनों ही एक दूसरे की आलोचना करते हैं।

३ विश्लेषणात्मक पद्धति
(Analytical Method)

विदेश नीति के अध्ययन की इस पद्धति में घटनाओं का केवल विवरण मात्र ही नहीं दिया जाता वरन् उनके कारणों एवं परिणामों के बीच उपयुक्त सम्बन्ध बैठाया जाता है। कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह जानने की चेष्टा की जाती है कि विशेष परिस्थितियां उत्पन्न होने पर एक देश किस प्रकार व्यवहार करेगा। किसी देश की विभिन्न गतिविधियों तथा अन्य देशों के साथ उसके सम्बन्धों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के बाद यह ज्ञात किया जा सकता है कि उस देश की प्रेरणा का स्रोत क्या था। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक देश अपनी शक्ति को बढ़ाने में रुचि लेता है और इसके लिए वह विभिन्न मानवीय एवं प्राकृतिक तत्वों की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रयत्न के दौरान उसे परिस्थितियों के अनुरूप समायोजन करना पड़ता है।

प्रत्येक राष्ट्र का हित एक नहीं होता। उसके अनेक राष्ट्रीय हित होते है। इनमें प्राथमिकता के आधार पर विभिन्नतायें पाई जाती हैं। प्रमुख राष्ट्रीय हित की साधना के लिए एक देश अपने कम महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हित को छोड़ सकता है या रोक सकता है। विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा पहले तो यह जानने का प्रयास किया जाता है कि सम्बन्धित देश के राष्ट्रीय हित कौन-कौन से है अर्थात् उसकी शक्ति की अभिवृद्धि किन-किन प्रकार से हो सकती है। उसके बाद यह देखा जाता है कि इन राष्ट्रीय हितों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। यह सम्बन्ध सहयोगपूर्ण भी हो सकता है और प्रतियोगिता पूर्ण भी। दोनों ही स्थितियों में राष्ट्रीय हितों के प्राथमिकता के क्रम को जानने की आवश्यकता रहेगी। सहयोगपूर्ण सम्बन्ध होने पर भी एक हित को अन्य की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया जा सकता है। विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाने पर अध्ययन कर्त्ता इन सभी बातों पर व्यापक रूप से विचार करता है।

४ तुलनात्मक प्रणाली
(Comparative Method)

एक देश की विदेश नीति का अध्ययन करने के लिए यह भी तरीका अपनाया जा सकता है। अध्ययन की इस तुलनात्मक प्रणाली का महत्व अरस्तु के समय से ही सर्वविदित है। इस प्रणाली में प्राप्त वैज्ञानिकता के कारण इसे अपनाने का समर्थन किया जाता है। तुलनात्मक प्रणाली में जो सुनिश्चितता तथा निष्कर्षों में जो स्पष्टता रहती है उसके पीछे तथ्यों का आधार होता है। इसके अनुसार विभिन्न देशों की विदेश नीतियों के विभिन्न पहलुओं का एक दूसरे के साथ मिला कर तथा तुलना करके अध्ययन किया जाता है।

विदेश नीति के तत्व
(The Elements of Foreign Policy)

विदेश नीति की रचना में कई तत्वों का महत्व होता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण तत्व राष्ट्रीय हित है। प्रत्येक राष्ट्र के कुछ अपने हित होते हैं जिनका निर्धारण उसकी भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधन, जलवायु, सामाजिक आदर्श, राजनैतिक विचारधारा, सैनिक शक्ति का स्तर आदि के द्वारा किया जाता है। किसी भी देश की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण आधार होने पर भी राष्ट्रीय हित कोई स्थिर या शाश्वत तत्व नहीं है। एक समय विशेष में किसी राष्ट्र का जो हित है वही दूसरे समय में भी रहेगा यह मानना गलत है। राष्ट्रीय हित स्थान एवं काल के परिवर्तन के साथ-साथ अपने रूप को बदलता रहता है। उसके स्वरूप में भिन्नता, अस्थिरता, विरोधाभास एवं स्तरों की असमानता परिलक्षित होती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसिद्ध अमरीकी विचारक एवं लेखक मि. मार्गेन्थो का कहना है कि राष्ट्रीय हित की मान्यता में दो तत्व निहित रहते हैं। इसका एक तत्व तो तार्किक रूप से इच्छित एवं आवश्यक होता है और दूसरा तत्व अस्थिर एवं परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। प्रत्येक देश का आवश्यक राष्ट्रीय हित यह है कि वह दूसरों राष्ट्रों के विरुद्ध अपनी भौतिक, राजनैतिक एव सांस्कृतिक एकरूपता की रक्षा करना चाहता है। ऐसा न करने पर उसका स्वयं का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है। दो देशों के राष्ट्रीय हित परस्पर विरोधी अथवा सहयोगी अथवा उदासीन हो सकते हैं। इस स्वरूप के आधार पर ही उनके मध्य स्थित सम्बन्ध का रूप निर्धारित किया जायेगा।

कोई भी देश अपने राष्ट्रीय हितों को केवल शक्ति के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है। शक्ति का रूप केवल सैनिक शक्ति ही नहीं होता वरन् आर्थिक शक्ति राजनैतिक शक्ति, भौगोलिक शक्ति, मानवीय शक्ति आदि भी पर्याप्त महत्वपूर्ण होते हैं। शक्ति के ये विभिन्न रूप मिल कर एक राष्ट्र की वास्तविक शक्ति का परिचय प्रदान करते हैं। राष्ट्रीय हित एवं राष्ट्रीय शक्ति के बीच साधन-साध्य का सम्बन्ध है। एक देश विशेष ने अपना राष्ट्रीय हित चाहे कुछ भी निश्चित क्यों न किया हो किन्तु उसे उस समय तक प्राप्त करना सम्भव नहीं है जब तक कि किसी न किसी प्रकार की शक्ति इसके लिए प्रयुक्त न की जाये। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति की अभिवृद्धि पर जोर देने लगता है ताकि वह अपने अधिक से अधिक राष्ट्रीय हितों को प्राप्त कर सके। इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति ही एक देश का मुख्य राष्ट्रीय हित बन जाती है। यथार्थवादी सिद्धान्त (Realist Theory) के मानने वाले विचारक शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित को ही समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का आधार मानते हैं।

विदेश नीति का दूसरा तत्व उसके निर्माता होते हैं। एक देश का दूसरे देश के साथ जो सम्बन्ध विकसित होता है उसमें नीति निर्माताओं के व्यक्तिगत विचारों की एकरूपता अथवा विरोध भी पर्याप्त महत्व रखता है।

भारत के स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री नेहरू नेपाल में स्थित राजाशाही से प्रसन्न नहीं थे। वे चाहते थे कि वहां प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था कायम हो तथा जनता को पूरे राजनैतिक अधिकार एवं स्वतंत्रतायें प्रदान की जाये। नेपाल के तत्कालीन शासकों को यह सुझाव स्वीकार्य नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत और नेपाल के पारस्परिक सम्बन्धों में मनमुटाव और तनाव पैदा हो गया। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि स्वर्गीय श्री नेहरू राष्ट्रपति नासिर के समाजवादी विचारों को उपयुक्त मानते थे और इसी आधार पर अरब गणराज्य तथा भारत के सम्बन्ध पर्याप्त मैत्रीपूर्ण हैं। इस बात में चाहे कितनी ही सत्यता हो किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नीति निर्माताओं का व्यक्तिगत दृष्टिकोण उस देश की विदेश नीति को पर्याप्त प्रभावित करता है। सोवियत रूस में जब तक स्टालिन का शासन रहा तब तक वह लोह आवरण की नीति का मजबूती के साथ पालन करता रहा, पश्चिमी देशों के साथ उसके सम्बंध संघर्षपूर्ण बने रहे। किन्तु जब खुश्चेव प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुए तो उन्होंने अस्तालिनीकरण कर दिया तथा पश्चिमी शक्तियों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति अपनाई।

नीति सम्बन्धी निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी व्यक्ति अपने दल अथवा उस राजनैतिक समाज के निर्देशों के अनुरूप व्यवहार करता है जिसका कि वह प्रतिनिधित्व कर रहा है और जिसकी ओर से वह बोलता एवं कार्य करता है। जिस समय एक देश अपनी विदेश नीति का रूप निर्धारण करता है उस समय निर्णयकर्त्ताओं का योगदान पर्याप्त प्रभावशील रहता है। निर्णय कर्त्ता अपने साधन स्रोतों की स्थिति एवं देश वासियों के विचारों से प्रभावित होता है तथा जिन अन्य राज्यों के व्यवहारों को वह बदलना चाहता है उनसे भी प्रभावित होता है। नीति निर्माताओं का एक अन्य दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान है। एक राष्ट्र की विदेश नीति जिन लक्ष्यों को अपनाकर आगे बढ़ती है वे प्रायः वही होते हैं जो कि समाज द्वारा सुझाये गये हैं और इस नीति निर्माताओं द्वारा स्वीकार किये गये हैं। नीति निर्माता जिन हितों को देश का लक्ष्य मानते हैं केवल वे ही विदेश नीति की दृष्टि से महत्व रखते हैं। देश की रक्षा विकास तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व को अपना लक्ष्य बनाकर ये नीति निर्माता विदेश नीति को विशेष रूप प्रदान करते हैं। कोई भी विदेश नीति राष्ट्रीय हित की अवहेलना करके अधिक समय तक कायम नहीं रह सकती। यदि नीति निर्माताओं का निर्णय गलत है तो उसके परिणाम दुःखदायी होंगे और इसलिए या तो विदेश नीति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जायेंगे अथवा नीति निर्माताओं को ही बदल दिया जायेगा।

विदेश नीति का तीसरा तत्व विश्व शान्ति एवं स्थायित्व है। आज की परिस्थितियों में कोई भी देश अपने संकुचित स्वार्थों के आधार पर अधिक समय तक नहीं चल सकता। उसे विश्व की शान्ति एवं स्थायित्व का भी पर्याप्त ध्यान रखना होता है तभी उसके अन्य हितों की पूर्ति हो पायेगी। प्रत्येक देश को अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वाह करना होता है। दूसरे

देशों के साथ की गई सन्धियों एवं समझौतों के प्रति सम्मान न दिखाने पर एक देश अन्तर्राष्ट्रीय जगत में विश्वासपात्र नहीं रह पाता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना भी प्रत्येक देश के लिए जरूरी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना या विरोध करने पर कोई भी देश विश्व जनमत को अपने विपरीत बना लेगा जो कि उसके स्वय के हित में नहीं है। विश्व जनमत का आज की परिस्थितियों में पर्याप्त महत्व है। कोई भी शक्तिशाली देश अपना कोई नुकसान किये बिना अधिक समय तक जनमत विरोधी कार्यवाही नहीं कर सकता। आजकल संयुक्त राष्ट्रसंघ का भी अपना महत्व है। जो इसके निर्णयों एवं सिद्धान्तों को ठुकराता है तथा उनके विपरीत व्यवहार करता है उसको विश्व समाज में अच्छी नजर से नहीं देखा जाता।

विदेश नीति का चौथा तत्व विचारधारा अथवा सिद्धान्त है जिनके आधार पर कि एक देश अपने व्यवहार को संचालित करता है। राष्ट्रीय क्रियाओं, हितों, लक्ष्यों एवं नीतियों को इन सिद्धांतों से निर्देशन प्राप्त होता है। प्रत्येक सिद्धान्त एक विशेष रूप में कार्य करने की आज्ञा होती है। समाज इस आज्ञा का समर्थन करता है। इस प्रकार एक देश की विदेश नीति विचार-धारा के माध्यम से सरकार के एक रूप की अथवा जीवन के तरीके की रक्षा का प्रयास करती है।

विदेश नीति का पाचवां तत्व वे साधन हैं जिनके माध्यम से यह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहती है। विदेश नीति के इन साधनों में मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं—कूटनीति, प्रचार एवं राजनैतिक युद्ध, राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद, युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, विश्व जनमत आदि। इन विभिन्न साधनों को अपनी क्षमता एवं सम्भावनाओं के अनुसार एक देश विशेष द्वारा अपनाया जाता है तथा अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है। विदेश नीति जब अपने लक्ष्यों के सम्बन्ध में निर्णय लेती है तो वह साधनों पर भी साथ की साथ विचार कर लेती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक देश अपने हितों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जिन साधनों का आश्रय लेता है उनको संयुक्त रूप से शक्ति का नाम दिया जाता है।

इस प्रकार किसी भी देश की विदेश नीति विभिन्न तत्वों का एक समवाय होती है। प्रस्तुत रचना में पांच महाशक्तियों अर्थात भारत वर्ष, सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमरीका, साम्यवादी चीन और ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीतियों का अध्ययन किया गया है। प्रत्येक देश की विदेश नीति का अध्ययन करते समय जिन पहलुओं पर विशेष जोर दिया गया है वे हैं—यहां नीति निर्माता कौन हैं, विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं, विदेश नीति का लक्ष्य एवं हित क्या हैं, विदेश नीति इन लक्ष्यों एवं हितों की प्राप्ति के लिए क्या साधन अपनाती है आदि।

शीत युद्ध के संदर्भ में विदेश नीति
(Foreign Policy in the Context of the Cold War)

वैसे तो प्रत्येक देश की विदेश नीति अनेक बाह्य एवं आन्तरिक तत्वों से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए देश का इतिहास, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक स्रोत, औद्योगिक विकास, सैनिक सामर्थ्य, जनसंख्या का आकार, सरकार का रूप, नेतृत्व एवं कूटनीति का प्रकार आदि तत्वों के द्वारा ही एक देश की विदेश नीति कोई विशेष रूप धारण करती है। बीसवीं शताब्दी में तकनीकी आविष्कारों की क्रांति ने जो स्थितियां पैदा की हैं उनमें विदेश नीतियों का व्यवहार पर्याप्त बदला है। राष्ट्रों के शक्ति स्तर में अनेक फेरबदल हो गये हैं। संसार की जनसंख्या बढ़ गई है। इसके अतिरिक्त नीति रचना की प्रणालियों में भी परिवर्तन आ गये हैं। पहले व्यक्तिगत कूटनीति का प्रभाव था किन्तु अब इसका स्थान सामूहिक कूटनीति ने ले लिया है। प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में गुप्त रूप से किये जाने वाले सन्धि समझौतों का स्थान खुली वार्ताओं के द्वारा ले लिया गया है। इस सबके अतिरिक्त जब द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सशस्त्र संघर्ष की बजाय शीत युद्ध छिड़ा तो अनेक अपूर्व बातें सामने आई। शीत युद्ध की स्थिति में संसार स्पष्ट रूप दो गुटों में विभाजित हो गया। एक ओर संयुक्त राज्य अमरीका के नेतृत्व में पूंजीवादी देश थे और दूसरी ओर सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी देश थे। दोनों पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन करने के लिए हर सम्भव अवसर ढूंढने लगे। प्रत्येक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में, संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच पर, अन्य विश्व सम्मेलनों में अथवा व्यक्तिगत रूप से वे एक दूसरे की आलोचना करने में लग गये। दोनों पक्षों के प्रचार यन्त्रों का मुख्य उद्देश्य एक दूसरे के विरुद्ध लांछन लगाना बन गया।

शीत युद्ध ने विदेश नीति पर उसके आधार, साधन, उद्देश्य एवं परिणामों की दृष्टि से पर्याप्त प्रभाव डाला है। अब सिद्धान्तों एवं विचारधारा को विदेश नीति की दृष्टि से इतना अधिक महत्व दिया जाने लगा जितना कि कभी भी नहीं दिया गया था। साम्यवादी देश जब अपने विरोधियों की आलोचना करते तो उनको पूंजीवादी, साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, शोषण कर्त्ता आदि कहते। इसी प्रकार जब पूंजीवादी देशों द्वारा साम्यवादियों की आलोचना की जाती तो उनको प्रजातन्त्र विरोधी, हिंसा का समर्थक, दमनकारी, स्वतन्त्रता का शत्रु आदि कहा जाता। इस प्रकार विरोध प्रकट करने का आधार विचारधारा एवं सिद्धांतों को बनाया गया। विदेश नीति के साधनों में फेर बदल हो गयी। पहले जो कार्य सैनिक शक्ति के सहारे किया जाता था वह अब प्रचार एवं राजनैतिक युद्ध के माध्यम से किया जाने लगा। पहले छोटे देशों को सेना का डर दिखा कर अपने पक्ष में किया जाता था किन्तु अब उनको आर्थिक सहायता की नीति अपना कर प्रभावित किया जाने लगा। सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक आदान-प्रदान के माध्यम से देशों के सम्बन्धों को घनिष्ट बनाने का प्रयास किया जाने लगा। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के नये रूप सामने आये। पूंजीवादी देश

छोटे देशों को सैनिक सहायता तथा आर्थिक सहायता प्रदान करके वहां अपने लिए सुविधायें एवं छूटों का संग्रह करने लगे।

साम्यवादी देश अपनी विचारधारा का प्रचार करके दूसरे देशों के जनमत को अपने पक्ष में करके अपने राष्ट्रीय हितों की साधना करने लगे। पहले जो साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी देश दूसरे देश पर आक्रमण करके वहाँ अपनी सरकार की स्थापना करता था वह अब इन देशों में स्वयं द्वारा समर्पित सरकार की स्थापना करके ही संतोष करने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का केन्द्र द्वितीय विश्व युद्ध तक प्रायः योरोप को ही माना जाता था किन्तु अब इसका मुख्य केन्द्र अफ्रीका तथा एशिया के नवोदित राष्ट्र बन गये। इस प्रकार शीत युद्ध प्रारम्भ होने के बाद से विदेश नीति का क्षेत्र, रूप, साधन आदि सब कुछ क्रांतिकारी रूप से परिवर्तित हो गया है। दोनों गुटों का प्रमुख लक्ष्य एक दूसरे की शक्ति को मर्यादित करना है। अमरीका की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य एवं उसका राष्ट्रीय हित साम्यवाद के प्रसार को रोकना है, दूसरी ओर सोवियत रूस तथा लाल चीन अमरीका के प्रभाव से अफ्रीका और एशिया के देशों को बचाना चाहते हैं। दोनों की यह प्रतियोगिता कई बार सशस्त्र संघर्ष का भी रूप धारण कर लेती है। जर्मनी, कोरिया, लाओस, साइप्रस, क्यूबा आदि स्थलों पर समय-समय इस संघर्ष ने विश्व शांति को भी खतरा पैदा किया है। वियतनाम स्थित वर्तमान संघर्ष भी मानव जाति के अस्तित्व पर एक बड़ा प्रश्नवाचक चिन्ह बनकर उपस्थित है।

अध्याय—१

भारत की विदेश नीति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलू

[THE THEORITICAL AND PRACTICAL ASPECTS OF INDIA'S FOREIGN POLICY]

१५ अगस्त, १९४७ से पूर्व भारत द्वारा जो विदेश नीति अपनाई जाती थी उसे हम शुद्ध रूप से भारतीय विदेश नीति नहीं कह सकते क्योंकि इससे सम्बन्धित सभी निर्णय ग्रेट ब्रिटेन की सरकार द्वारा लिए जाते थे, भारत सरकार न तो भारतीय थी और न ही उसे निर्णय लेने का स्वयं अधिकार था। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य ग्रेट ब्रिटेन के हित की साधना करना था। यह कार्य करने के लिए भारत को स्वयं का हित भी बलिदान करना पड़ सकता था। यह सब सच होते हुए भी यह एक तथ्य है कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने स्वतन्त्रता से बहुत पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था और इसके परिणामस्वरूप ही बाद की हमारी विदेश नीति का रूप निर्धारित हुआ। प्रथम विश्व युद्ध में कांग्रेस ने प्रजातन्त्रात्मक देशों का समर्थन किया। दो महायुद्धों के बीच में कांग्रेस दल ने समय-समय पर पास किए प्रस्तावों द्वारा भारत की जो विदेश नीति निश्चित की उसमें कई बातों पर जोर दिया गया। जैसे, भारत को सभी देशों के साथ सहयोगपूर्ण व्यवहार करना चाहिए, उसे परतन्त्र देशों द्वारा किये जाने वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों का समर्थन करना चाहिए, अन्य राज्यों द्वारा की जाने वाली गुटबन्दी में या झगड़ों में अपने आपको सम्मिलित नहीं करना चाहिए, भारत को सदैव युद्ध का विरोध करना चाहिए और जब कभी युद्ध में शामिल होना जरूरी बन जाए तो ऐसा करने के लिए उसे जनता की इच्छा का ध्यान रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अच्छे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अच्छे साधनों का ही प्रयोग करना चाहिए। इन विभिन्न आदेशों एवं सिद्धान्तों के आधार पर कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का मूल्यांकन प्रस्तुत किया। सन् १९३८ के हरिपुर अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के द्वारा फासीवाद और नाजीवाद की निन्दा की गई तथा यह कहा गया कि सभी देशों की स्वतन्त्रता का स्वागत किया जाना चाहिए और पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास किया जाना चाहिए।

२ सितम्बर, १९४६ को जब अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई तो

विदेश नीति के इन सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने की ओर कदम उठाया गया। स्वतन्त्रता के बाद भारत की शासन व्यवस्था कांग्रेस दल के हाथों में आ गई और अब इस दल ने अपने उन आदर्शों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया जो स्वतन्त्रता से पहले ही अपनाए जा चुके थे। सन् १९४८ में कांग्रेस दल द्वारा विदेश नीति सम्बन्धी जो प्रस्ताव पास किया गया उसमें यह कहा गया कि सभी देशों के साथ मित्रतापूर्ण तथा सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। विश्व की शान्ति को संकट में डालने वाले विभिन्न सैनिक संगठनों से बचना चाहिए। स्वतन्त्र भारत के संविधान का इक्कीसवां अनुच्छेद भारतीय विदेश नीति के आदर्शों का वर्णन करता है। इसमें यह कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा दिया जाए, राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर किया जाए तथा विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में सन्धियों के पालन के प्रति सम्मान बढ़ाया जाए, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को दूर करने के लिए मध्यस्थता और पंच-निर्णय के साधनों को अपनाया जाए।

भारत की वर्तमान विदेश नीति पर समय की परिस्थितियों का तथा अन्य अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ा। स्वर्गीय श्री पनिक्कर का यह कहना भारतीय विदेश नीति पर लागू होता है कि किसी देश की विदेश नीति वहां की भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा निश्चित होती है। भारत की प्राकृतिक स्थितियां इसकी विदेश नीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान करती हैं। भारत की तीन दिशाओं में समुद्र है तथा उत्तरी दिशा में हिमालय द्वारा उसकी सीमायें निर्धारित की गयी हैं हिन्द महासागर का इस देश के लिए इतना महत्व है कि इस पर प्रभाव रखने वाली शक्ति भारत पर भी अपना प्रभाव रख सकती है। भारत का समस्त व्यापार इसी रास्ते से होता है। यदि इस समुद्र में कोई विरोधी विदेशी नौशक्ति प्रभावशाली बन जाए तो भारत के व्यापार पर विरोधी प्रभाव पड़ सकता है। भारत को अपनी रक्षा के लिए हिन्द महासागर के तटों की रक्षा करना जरूरी है। भारत की सीमायें अनेक पड़ौसी देशों से मिली हुई हैं। देश के विकास के लिए उनके साथ मैत्री सहायक हो सकती है और शत्रुता एक सरदर्द हो सकती है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारत को साम्यवादी देशों से और पश्चिमी शक्तियों से समान रूप से मित्रता बनाए रखनी होती है। किसी भी एक गुट में शामिल हो कर वह अपनी एक दिशा को असुरक्षित नहीं करना चाहता।

भारत की विदेश नीति पर प्रभाव डालने वाला दूसरा तत्व आर्थिक है। स्वर्गीय पंडित नेहरू का कहना था कि अन्तिम रूप से विदेश शक्ति आर्थिक शक्ति का ही परिणाम है। भारत में खाद्यान्न की कमी अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया से अच्छे सम्बन्ध बनाने के लिए प्रेरित करती है। भारत को अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने के लिए विभिन्न देशों के आर्थिक सहयोग की आवश्यकता है और इसलिए वह सभी से मित्रता बनाए रखना चाहता है। भारत को अपनी आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति

करने के लिए समुद्री मार्ग की शांति एवं सुरक्षा के लिए भी प्रयास करना होता है। वर्तमान अरब-इजरायली संघर्ष में स्वेज नहर के बन्द हो जाने के कारण भारतीय व्यापार को जो असुविधा एवं क्षति हुई उसे देखते हुए युद्ध का विरोध करना भारत की एक आवश्यक एवं स्वाभाविक नीति है।

भारत की ऐतिहासिक परम्पराओं ने विश्व के सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने एवं सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में अग्रसर किया है। भारत को पराधीनता और साम्राज्यवाद के कटु अनुभव हैं जिन्हें वह किसी भी राज्य पर दोहराना नहीं चाहता। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध करने की भारत की विदेश नीति उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं पर आधारित है।

भारतीय दर्शन और विभिन्न विचारधाराओं ने विदेश नीति के निर्माताओं को पर्याप्त प्रभावित किया। भारत प्रारम्भ से ही सहिष्णुता एवं उदारता में विश्वास करता रहा है। महात्मा गांधी के सत्य, अहिंसा के विचारों ने भारत के जनमानस को बहुत प्रभावित किया। गांधीवादी विचारधारा इस बात पर जोर देती है कि विश्व-शान्ति सैनिक संगठनों के आधार पर नहीं हो सकती वरन् इसके लिए सहयोग और समझौतेपूर्ण दृष्टिकोण की जरूरत है।

भारत की विदेश नीति पर इन लोगों के चरित्र और व्यक्तित्व का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जो कि निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी थे। भारतीय विदेश नीति के संचालन की दृष्टि से स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू को सूत्रधार कहा जा सकता है। उनके अतिरिक्त सरदार पटेल, कृष्ण मेनन, डाक्टर राधाकृष्णन, गोविन्दवल्लभ पन्त, सरदार पनिक्कर, एम० सी० छागला, स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री आदि व्यक्तित्वों ने भारत की विदेश नीति के निर्धारण में पर्याप्त योगदान किया।

भारत की मुख्य नीति का आधार उसका अपना राष्ट्रीय हित है। विदेश नीति से सम्बन्धित प्रायः सभी निर्णय राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए ही किए जाते हैं। ४ दिसम्बर, १९४७ को भारतीय संविधान-सभा में बोलते हुए स्वर्गीय श्री नेहरू ने कहा था कि "हम अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की बात करते हैं किन्तु अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से कोई भी सरकार अपने देश के नागरिकों के हित के लिए ही कार्य करती है और कोई भी सरकार तात्कालिक या दूरगामी रूप में अपने हितों के विरुद्ध कार्य करने का साहस नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में कोई देश साम्राज्यवादी, समाजवादी या साम्यवादी कैसा भी क्यों न हो, उसका विदेश मन्त्री मुख्य रूप से अपने देश के हितों पर ही विचार करता है। भारत की विदेश नीति के अनेक पहलुओं में राष्ट्रीय हित की साधना से इस तत्व को देखा जाता है।"

भारत की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त
(The Basic Principles of Indian Foreign Policy)

भारत की विदेश नीति अनेक सिद्धान्तों पर आधारित है। ये सिद्धान्त समय-समय पर लिए जाने वाले निर्णयों की प्रेरणा का काम करते हैं तथा साथ ही उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए एक आधार प्रदान करते हैं। भारतीय विदेश नीति की सैद्धान्तिक आधारभूमि के तीन प्रमुख स्तम्भ ये हैं—पंचशील का विचार, साधन और साध्य की एकरूपता और गुट-निर्पेक्षता की नीति। इन तीनों आधारों को थोड़ा विस्तार से देखना उपयुक्त रहेगा।

(१) पंचशील का सिद्धान्त
[The Principle of Panchsheel]

पंचशील का सिद्धान्त भारतीय विदेश नीति को एक दार्शनिक आधार प्रदान करता है। पंचशील शब्द को बौद्ध धर्म द्वारा वर्णित पांच शीलों के आधार पर गृहण किया गया है। कोई व्यक्ति जब बौद्ध धर्म की दीक्षा लेता है तो उसे पांच व्रत धारण करने होते हैं। ये हैं–अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य का पालन और मद्य का निषेध। इन सभी व्रतों को एक व्यक्ति के सदाचरण के लिए जरूरी समझा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो राष्ट्र विश्व शान्ति के मार्ग की दीक्षा लेता है उसे भी पांच व्रत धारण करने चाहियें। इनको धारण करने के बाद ही एक देश सदाचारी कहलाया जा सकता है। ये पांच सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना;
(२) एक दूसरे पर आक्रमण न करना;
(३) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का संकल्प;
(४) समानता और पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त पर मैत्री पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना; और
(५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

इन पांचों व्रतों को मानने पर एक देश सदाचारी कहा जा सकता है। स्व. प्रधानमन्त्री श्री नेहरू का विचार था कि "यदि पंचशील के इन सिद्धान्तों को विश्व के विभिन्न देशों द्वारा उनके आपसी सम्बन्धों के निर्धारण में प्रयुक्त किया गया तो आज के विश्व की परेशानियां काफी सीमा तक कम हो जायेंगी।"[1] इन पंचशील के सिद्धान्तों का सर्वप्रथम उल्लेख २९ अप्रेल,

---

1. "I imagine that if these principles were adopted in the relations of various countries with each other, a great deal of the trouble of the present-day world would probably disappear."
—*Nehru.* H. P. Deb. (15 May, 1954) Pt. II, Vol. V, No. 70, Col. 7496.

१९५४ में भारत-चीन व्यापार समझौते में किया गया। साम्यवादी चीन के प्रधानमन्त्री चाउ-एन- लाई की भारत यात्रा के बाद २० जून, १९५४ को प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तों को पंचशील की संज्ञा २३ सितम्बर, १९५४ को प्रदान की गई जब कि स्व. श्री नेहरू ने इन्डोनेशिया के प्रधानमन्त्री अली शास्त्रों मिजिजो के सम्मान में आयोजित एक भोज में भाषण दिया। उसके बाद अनेक राज्यों ने भारत के इन पंचशील सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। जो देश इन्हें औपचारिक रूप से स्वीकार नहीं करते वे भी इनके औचित्य को मानते हैं। बाद में ये सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सिक्का बन गए और अधिकांश राज्यों ने इनके प्रति अपना विश्वास प्रगट किया। वियतनाम के लोकतन्त्रीय गणराज्य के प्रधान मि. होचीमिन ने २७ अक्टूबर १९५४ को और यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने २३ दिसम्बर, १९५४ को इन सिद्धान्तों को मान्यता दी। २ अप्रैल १९५५ तक बर्मा, चीन, लाओस, नेपाल, कम्बोडिया, आदि देश इन्हें स्वीकार कर चुके थे और बाद में अफगानिस्तान, सीरिया और सऊदी अरब आदि देशों ने भी इनका समर्थन किया। अप्रैल, १९५५ में बाण्डुग में एशिया तथा अफ्रीका के राज्यों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में २९ देशों के राष्ट्र अध्यक्षों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में पंचशील के सिद्धान्तों पर व्यापक रूप से विचार हुआ और इन्हें बढ़ा कर इनकी संख्या दस कर दी गई। ये दस सिद्धान्त थे—मौलिक मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान की भावना, संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र के सिद्धान्तों के प्रति सम्मान, सभी नस्लों तथा छोटे-बड़े राष्ट्रों की समानता, दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप न करना, संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र के अनुसार प्रत्येक देश को आत्मरक्षा करने का अधिकार प्राप्त होना, किन्हीं महाशक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्यों को पूरा करने के प्रयोजनों से बनाई गई व्यवस्थाओं से अलग रहना, तथा दूसरे देशों पर दबाव न डालना, आक्रमण के कार्यों को न करना तथा आक्रमण करने की धमकी न देना, सभी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों, जैसे संधि वार्ता, समझौता एवं मध्यस्थता आदि के आधार पर निपटारा करना, पारस्परिक सहयोग तथा हितों की वृद्धि करना, न्याय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान प्रगट करना।

पंचशील का सिद्धान्त एक उपयोगी सिद्धान्त है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त विभिन्न विचारधाराओं वाले तथा अलग-अलग धर्मों वाले देशों के बीच सहयोग की स्थापना करता है। स्व० प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के मतानुसार शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त आज के समय की एक प्रमुख आवश्यकता है क्योंकि सह-अस्तित्व का विकल्प केवल सह-विनाश है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की मान्यता का आधार न तो तटस्थता है और न ही विश्व में कोई तीसरा गुट बनाने की भावना ही। इसे हम विश्व की समस्याओं के प्रति उदासीन दृष्टिकोण भी नहीं कह सकते। यह सिद्धान्त साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद की वर्तमान बुराइयों का विरोध करता है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का विरोध का अर्थ यह है कि वह देश प्रजातन्त्र एवं स्वतन्त्रता के विचारों में विश्वास नहीं करता है। स्व. पंडित नेहरू ने एक

बार पाकिस्तान के राष्ट्रपति को सम्बोधित करते हुए यह कहा था कि पंचशील के सिद्धान्तों में विश्वास एवं व्यवहार द्वारा जो सुरक्षा प्राप्त होती है वह सैनिक संधियों से प्राप्त होने वाली सुरक्षा की अपेक्षा अधिक वास्तविक एवं सच्ची होती है सह-अस्तित्व यह कभी नहीं कहता कि दो देश अपने मतभेद को न सुलझायें अथवा उनकी ओर से अपनी आखें बन्द करलें किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि मतभेदों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया जाये और युद्ध की सम्भावनाओं को दूर ही रखा जाए।

पंचशील का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से मत्स्य न्याय को समाप्त करके अराजकता की स्थिति को दूर करना चाहता है। इस नवीन व्यवस्था में कोई शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्य पर आक्रमण नहीं करेगा तथा उसके प्रशासन एवं आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

पंचशील के सिद्धान्त आदर्श होते हुए भी कई दृष्टियों से आलोचना के पात्र बनते हैं, यद्यपि आदर्शात्मक रूप में इनकी उपयोगिता एवं महत्व निर्विवाद है किन्तु व्यावहारिक रूप से इस पर अनेक आपत्तियां की जाती हैं। यह कहा जाता है कि पंचशील का सिद्धान्त जिन परिस्थितियों में पैदा हुआ वे गलत थीं। पंचशील की जड़ पापपूर्ण है। इन सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान कर के भारत ने तिब्बत पर चीन के पूर्ण प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया है। सन् १९४९ से सन् १९५४ तक भारत आन्तरिक क्षेत्र में तिब्बत की स्वायतत्ता पर बल दे रहा था किन्तु सन् १९५४ में तिब्बत से सम्बन्धित चीन के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए भारत ने तिब्बत के विनाश पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही आचार्य कृपलानी ने पंचशील के प्रादुर्भाव के समय कहा था कि "ये महान् सिद्धान्त पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज हैं क्योंकि ये आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से हमारे साथ सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र (तिब्बत) के विनाश पर हमारी स्वीकृति प्राप्त करने के लिए किया गया।"

पंचशील की एक दूसरी और प्रमुख आलोचना यह की जाती है कि यह उच्च आदर्शों की एक घोषणा मात्र है। इन सिद्धान्तों का पालन कराने के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं है तथा इसमें यह आशा की गई है कि केवल ऊंचे-ऊंचे आकर्षक शब्दों से ही विश्व में शान्ति स्थापित हो जाएगी। यदि यह सम्भव होता तो संसार से युद्ध नाम की चीज बहुत पहले ही समाप्त हो जाती। वास्तविक जीवन के आदर्शों की भांति पंचशील के सिद्धान्तों की व्यावहारिक उपयोगिता भी सन्देहशील है। पंचशील के सिद्धान्तों के पीछे केवल एक नैतिक बल है। इसके द्वारा ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है जिनमें कि विरोधी पक्ष अपने वचन को भंग न कर सके और यदि वह ऐसा करता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का सामना करना पड़ेगा। यदि संसार के देशों द्वारा इन सिद्धान्तों को बार-बार दोहराया जाता है तो इससे अनुकूल परिस्थितियां पैदा होने में सहायता मिलती है।

पंचशील के सिद्धान्त यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र के अनुकूल

हैं किन्तु फिर भी इसे मानने वाले देशों ने जिस रूप में इसका उल्लंघन किया उससे इसकी महत्वहीनता जाहिर होती है। साम्यवादी चीन ने भारत के साथ अपने सम्बन्धों में पंचशील के सिद्धान्तों को ताक में रख दिया। चीन ने अक्टूबर, १९६२ में भारत पर आक्रमण कर दिया और उसके द्वारा विभिन्न मुल्कों ने भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया। पंचशील के सिद्धान्त का महत्व केवल इतना ही रहा कि एक नैतिक आदर्श के रूप में इसे सम्मान प्रदान करते रहे किन्तु दूसरी ओर वे उसका उल्लंघन भी करते रहे। इस स्थिति के सम्बन्ध में २० अगस्त, १९५८ को प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने लोक सभा में कहा कि "कुछ देश यदि पंचशील जैसी सही नीति का विरोध करते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि इसकी शक्ति कम है। चाहे इसे लोग स्वीकार न करें और जिस रूप में पंचशील का विचार सामने आया उसकी रक्षा न करें किन्तु फिर भी ये देश उसकी श्रद्धा करते हैं।"[1] स्व० पंडित नेहरू का पंचशील में पूरा विश्वास होते हुए भी सन् १९६२ के चीनी आक्रमण के सामने पर्याप्त निराशा हुई होगी। पंचशील का सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप से चाहे कितना भी सही क्यों न हो किन्तु इसके प्रतिपादक चीन ने जिस रूप में इसका उल्लंघन किया था उसने ही इसे महत्वहीन बना दिया। २ दिसम्बर, १९६१ को पंचशील की संधि को दोहराया जाना था किन्तु ऐसा नहीं हुआ और इस प्रकार पंचशील का औपचारिक रूप समाप्त प्रायः हो गया। आज यद्यपि पंचशील जैसी कोई औपचारिक चीज नहीं है लेकिन फिर भी इसके सिद्धान्तों का भारतीय विदेश नीति पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव है। पंचशील के विभिन्न सिद्धान्तों का महत्व एक सर्वकालीन प्रकृतिवाला है। यह हर युग की हर परिस्थिति में प्रभावशील रहेगा। अणु-शक्ति के उत्तरोत्तर विकास में ये विभिन्न सिद्धान्त और भी अधिक महत्वपूर्ण बनते जा रहे हैं। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का महत्व साम्यवादी रूस तथा उसके समर्थक साम्यवादी देश भी पूर्ण रूप से समझ गए हैं और पश्चिमी शक्तियों से सशस्त्र संघर्ष की जगह इसी मार्ग द्वारा चलने की नीति को अधिक उपयुक्त समझा है।

(२) साधन-साध्य की एकरूपता
(Identity of Means and Ends)

भारत को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की विरासत के रूप में यह विश्वास मिला है कि यदि आप कोई बड़ा या अच्छा कार्य करना चाहते हैं तो उसके लिए साधन भी नैतिक और श्रेष्ठ ही अपनाने पड़ेंगे। अनैतिक तथा

---

1. "However, the fact that some countries have not lived upto their protestation does not weaken the force of a correct policy like Panch-sheela.... Even people who do not accept it and do not particularly fancy the way the Panch Sheela idea came to existence, still pay tributes it."
—*Late Prime Minister Jawahar Lal Nehru*, India's Foreign Policy, P. 105.

अनुचित साधनों के अपनाने पर प्राप्त होने वाला फल वैसा नहीं होता जैसा कि सोचा गया था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यहां साधनों को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना कि साध्यों को माना जाता है। अवसरवादिता और अच्छे या बुरे किसी भी साधन से अपने साध्यों को प्राप्त करने की नीति इस विश्वास से मेल नहीं खाती। साधन एवं साध्यों का नैतिक कानून के अनुरूप होने का विचार आधुनिक युग में सर्वाधिक एवं स्पष्टतः महात्मा गांधी द्वारा व्यक्त किया गया है। वैसे हमारे पुराने धर्म-शास्त्रों में इस विषय पर अनेक उक्तियां उपलब्ध हैं। यह कहा जाता है कि खराब साधनों को अपनाने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा रहेगा कि उस साध्य को ही छोड़ दिया जाय। चालाकी, झूठ के द्वारा देश को समृद्ध बनाना उतना ही भ्रामक माना जाता है जितना कि एक कच्चे घड़े में पानी भरना तथा उसे बने रहने की आशा करना। इस सम्बन्ध में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं—

(i) अच्छे साध्यों को प्राप्त करने के लिए अच्छे साधनों के उपयोग की परम्परा यहां काफी जड़ जमा चुकी है।

(ii) भारतीय नेताओं ने अच्छे लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अच्छे साधन अपनाने की बात को स्वीकार कर लिया है।

(iii) भारतीय नेता इस बात में विश्वास करते हैं कि विश्व शान्ति जैसे उद्देश्यों को हिंसात्मक साधनों द्वारा नहीं अपनाया जा सकता।

२० नवम्बर, १९५५ को बुलगानिन तथा खुश्चेव की दावत के समय बोलते हुए प्रधानमन्त्री नेहरू ने कहा था कि "हम इस बात में विश्वास करते हैं कि जो लक्ष्य प्राप्त किया जाय वह अच्छा होना चाहिए; साथ ही इस बात में भी विश्वास करते हैं कि साधन भी अच्छे ही अपनाये जाने चाहिए। ऐसा न किया जाने पर नयी-नयी समस्यायें उठ खड़ी होती हैं तथा स्वयं मन्तव्य भी बदल जाता है।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा कि "हमें बुराई का विरोध करना चाहिए किन्तु किसी बड़ी बुराई द्वारा नहीं। हिंसा और घृणा का अधिक हिंसा एवं घृणा द्वारा शमन नहीं किया जा सकता।"[1] अपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर भारत ने अपनी विदेश नीति के दूसरे साधनों को अपनाया है; जैसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को दूर करने में बातचीत, पंच-फैसले एवं मध्यस्थता का प्रयोग करना, शक्ति के प्रयोग अथवा प्रयोग की धमकी को भी दूर रखना, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों को मानना, शीत युद्ध का विरोध करना तथा साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी गुटों के बीच असंलग्नता एवं अलग रहने की नीति को अपनाना आदि।

---

1. "Evil had to be opposed but not be a greater evil. Violence and hatred could not be overcome by greater violence and hatred."

—*J.L. Nehru*, in an address to the Yugoslaw Parliament, The Hindu, 3 July, 1955.

(३) गुट-निरपेक्षता का सिद्धान्त
(The Theory of Non-alignment)

गुट-निरपेक्षता का सिद्धांत विश्व राजनीति में पर्याप्त महत्व रखता है। इस सिद्धान्त का समर्थक भारत को ही माना जाता है। वैसे इस सिद्धान्त का अस्तित्व भारत द्वारा इसे अपनाए जाने से पहले भी था एवं इसके सम्बन्ध में पर्याप्त साहित्य की रचना हो चुकी थी। किन्तु भारत को इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का तथा व्यावहारिक रूप में महत्वपूर्ण बनाने का श्रेय दिया जा सकता है। यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई भी सिद्धान्त उस समय तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि वह गुट-निरपेक्षता के विकास के उन सिद्धान्त का स्पष्टीकरण नहीं कर देता। अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के विद्यार्थी के लिए इस सिद्धान्त का अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसका पहला कारण यह है कि गुट-निरपेक्षता की नीति वर्तमान विश्व-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो कि शक्ति पर आधारित न हो कर संचार व्यवस्था पर आधारित है। दूसरे, इसके द्वारा आने वाले विश्व-समाज की कुछ विशेषताओं को प्रतिबिम्बित किया जाता है। तीसरे, गुट-निरपेक्षता की नीति में अनेक ऐसी विशेषतायें अन्तर्निहित रहती हैं जो कि गुट-सापेक्ष देशों में भी विकसित हो रही हैं और चौथे, गुट-निरपेक्ष के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय खेल का एक विकल्प प्रस्तुत किया जाता है और कुछ नए नियम सौंपे जाते हैं जो कि अणु-शक्ति के प्रतिरोधात्मक रूप के समाप्त होते ही अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

भारतवर्ष ने गुट-निरपेक्षता की नीति को जिस रूप में अपनाया है उसका अध्ययन करने से पूर्व हम इस सिद्धान्त का विस्तार के साथ विवरण देना उपयुक्त समझते हैं। गुट-निरपेक्षता की नीति का अर्थ क्या है? उसका विकास किस प्रकार हुआ? विभिन्न राष्ट्रों ने इस नीति को क्यों अपनाया? शीत युद्ध के काल में इस नीति का क्या योगदान रहा? इसे विदेश नीति के साधन के रूप में कितना महत्व दिया जा सकता है? आदि-आदि प्रश्न इस दृष्टि से अपना महत्व रखते हैं।

गुट-निरपेक्षता की नीति का अर्थ
(The Meaning of Non-alignment)

गुट-निरपेक्षता (Non-alignment) शब्द का प्रयोग प्राय: उन राष्ट्रों की विदेश नीति की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो कि साम्यवादी और पश्चिमी गुट के साथ किसी सैनिक संधि में बद्ध नहीं हैं। इस अर्थ के सम्बन्ध में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नेताओं का विचार है कि यह उनकी नीतियों की सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। गुट-निरपेक्षता का कोई सकारात्मक मूल्य या अर्थ नहीं है किन्तु फिर भी अधिकांश राष्ट्र व्याख्या के इस सकारात्मक मूल्य को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। इस नीति के बेलग्रेड (Belgrade), कैरो (Cairo), दिल्ली आदि विभिन्न केन्द्रों द्वारा इसे अभिव्यक्त करने के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया

जाता है; जैसे, गुटविहीन (Non-Block), असंलग्न (Uncommitted), सक्रिय तटस्थ (Actively Neutral) आदि-आदि। इस नीति के सम्बन्ध में कोई सन्तोषजनक शब्द न होने के कारण उत्पन्न असन्तोष को व्यक्त करने के लिए लम्बे-लम्बे भाषण दिए जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि गुट-निरपेक्षता की नीति को नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों द्वारा मुख्यत: सन् १९४५ के बाद लोकप्रिय बनाया गया है। यह नीति विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न समयों पर विभिन्न अर्थ रखती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि गुट-निरपेक्ष नीति का अध्ययन देश-विदेश के प्रसंग में ही करना चाहिए। बर्मा, लंका, मिस्र, भारत, इण्डोनेशिया, यूगोस्लाविया और अफ्रीका के देशों में जिस गुट-निरपेक्षता की नीति का विकास हुआ है वह वहां की ऐतिहासिक परम्पराओं और स्थित राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित रही। ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त रहेगा कि गुट-निरपेक्षता का सही अर्थ जानने के लिए अलग-अलग देशों के प्रसंग में उसका अध्ययन किया जाए।[1] केवल ये राष्ट्रीय अध्ययन भी पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि वे उन राष्ट्रीय प्रभावों को अलग से नहीं दिखाते जो कि गुट-निरपेक्षता के लिए विशेष हैं तथा उनसे भिन्न हैं जो कि निरपेक्षता एवं सापेक्षता दोनों के लिए सामान्य हैं। कम्बोडिया के सम्बन्ध में लीफर महाशय ने यह बताया कि वहां राष्ट्रवाद एवं उपनिवेशवाद का निरोध गुट-निरपेक्ष नीति के कारण रहे। यह तत्व केवल गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं है क्योंकि जो राष्ट्र गुट-निरपेक्ष नहीं हैं वे भी इनमें विश्वास करते हैं।

पश्चिमी लेखकों, विचारकों एवं राजनैतिक नेताओं ने गुट-निरपेक्षता को समझने के लिए तटस्थता अथवा तटस्थतावाद शब्द का प्रयोग किया है। मि० पिटर लायन (Peter Lyon), मारगेन्थो (Hans J. Morgenthau), हैमिल्टन फिश आर्मस्ट्रांग (Hamilton Fish Armstrong), राबर्ट ए० स्केलेपिनो (Robert A. Scalapino), फ्रान्सिस लावीयर (Francis Lowbeer), वर्नर लेवी (Warner Levy). आदि लेखकों ने तटस्थता (Neutrality or Neutralism) शब्द का प्रयोग किया है। यह कहा जाता है कि गुट-निरपेक्षता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सम्भवत: वैज्ञानिक अर्थ में जार्ज लिस्का (George Liska) ने किया होगा।[2] उसके बाद तो तटस्थता के

---

1. इस सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय अध्ययन ये हैं—
   (i) M. Leifer, Combodia and Neutrality, 1962;
   (ii) G. Hoffman and F. Neal, Yugoslavia and the New Communism, 1962;
   (iii) Erstine Childers, Common Sense about the Arab World 1960;
   (iv) Dr. U. Maung, Burma in the Family of Nations, 1957;
   (v) P. Lyon, Neutralism, 1963.
2. *George Liska*, 'Non-alignment and Neutralism', in his Nations in alliance, *1962*, PP. 202-54.

स्थान पर अनेक विचारक गुट-निरपेक्षता शब्द का प्रयोग करने लग गए और अब इसे एक सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो गई है।[1] कई एक गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नेता भी अपनी विदेश नीति के लिए बर्मा के यूनू (U. N. U.) की भांति तटस्थता शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। तटस्थता एवं गुट-निरपेक्षता के बीच यह तो सामान्यता है कि वे शीत युद्ध के समय संघर्ष से असंलग्न रहती हैं किन्तु अन्तर यह है कि वास्तविक युद्ध छिड़ने पर तटस्थ राष्ट्र युद्ध से अलग रहता है किन्तु गुट-निरपेक्ष राष्ट्र युद्ध में किसी भी पक्ष की ओर से उलझ सकता है। स्वीटजरलैण्ड तटस्थ देशों का एक उदाहरण है। ऐसे देश के राजनैतिक एवं कानूनी स्तर को युद्ध करने वाले दोनों ही पक्षों द्वारा स्वीकार किया जाता है। दूसरी ओर असंलग्न नीति विरोधी विचार-धाराओं के बीच स्थित संघर्ष को प्रकट करती है। इस संघर्ष में सम्बन्धित देश किसी भी पक्ष के साथ संलग्न नहीं रहता। स्वारजनबर्गर (Schwarzenberger) के मतानुसार गुट-निरपेक्षता संधियों से दूर रहने की नीति है। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति को असंलग्न नीति का नाम दिया है। कुछ विचारकों के मतानुसार यह उचित नहीं है क्योंकि असंलग्नता या गुट निरपेक्षता (Nonalignment) की नीति के लिए गुटों का तथा उनके बीच संघर्ष का होना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं है तब तक गुटों से अलग रहने वाली नीति जैसी किसी चीज के होने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। गुट-निरपेक्षता की नीति शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करती है; यह शान्ति की दिशा में एक सक्रिय नीति है; एक सकारात्मक तटस्थता है। इस अर्थ में हम संयुक्त राज्य अमरीका की प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व की नीति को पार्थक्यवादी कह सकते हैं, उसे तटस्थ मान सकते हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्र में कोई रुचि ही नहीं लेती किन्तु उसे गुट-निरपेक्षता की नीति नहीं कहा जा सकता। तटस्थ नीति का महत्व केवल तभी तक रहता है जब तक कि युद्धरत राष्ट्रों द्वारा उसे मान्यता दी जाये। १९वीं शताब्दी के दौरान होने वाले युद्धों में तटस्थ नीति को कई देशों द्वारा सफलता के साथ अपनाया गया किन्तु इसके बाद या पहले यह नीति प्रभावशील न रही।

पहले विश्व राजनीति में शक्ति संतुलन का रूप अनेक राष्ट्रों से युक्त था। इसमें प्रत्येक युद्धरत राष्ट्र यह चाहता था कि युद्ध से अलग राष्ट्र को उत्तेजित करके विरोधी पक्ष के साथ शामिल होने के लिए प्रेरित न करे। इसी कारण तटस्थता का सम्मान किया जाता था किन्तु प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभवों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि तटस्थता की नीति भयानक होती है।

तटस्थता एक प्रकार से कूटनीति का अङ्ग है न कि विदेश नीति का। तटस्थता के सहारे हम एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का केवल एक ही

---

1. J. W. *Burton*, International Relations A General Theory, *1965*, P. *164*.

पहलू देख पाते हैं और वह यह कि युद्ध के समय उसकी स्थिति क्या रहेगी।[1] किन्तु इससे हम उस देश की विदेश नीति के सामान्य रूप की जानकारी नहीं कर पाते। तटस्थ नीति एक देश की मजबूरी या सुविधा का परिणाम होती है जबकि गुट निरपेक्षता एक सिद्धान्त की बात है।

गुट-निरपेक्षता की नीति की एक मुख्य विशेषता यह होती है इस व्यवस्था को मानने वाला देश सैनिक संधियों का विरोध करता है। सैनिक संधियों का विरोध मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही एक नीति के रूप में वर्तमान है, यह कोई नया आविष्कार नहीं। किन्तु फिर भी आज का संधि विरोधी दृष्टिकोण पहले के संधि विरोधी दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्न है। पहले किसी एक संधि विशेष में सम्मिलित करने से मना कर दिया जाता था किन्तु ऐसा करने वाला देश सामान्य रूप से सैनिक संधि का विरोध नहीं करता था। एक दूसरे प्रकार की संधि विरोधी नीति यह होती थी जिसे अपना कर वह देश सभी देशों के साथ सभी प्रकार की संधियों का विरोध कर देता था। यद्यपि वह स्वयं संधिबद्ध नहीं होता था किन्तु दूसरे देशों द्वारा की जाने वाली सैनिक संधियों को वह बुरा नहीं मानता था। इस प्रकार के संधि विरोधी देश परिस्थितियों के बदलते ही संधिबद्ध हो जाते हैं। वे स्थायी रूप से सैनिक संधियों का विरोध नहीं करते। गुट-निरपेक्ष नीति के मानने वाले देश स्वयं सैनिक संधियों में बद्ध नहीं होते तथा दूसरों के बद्ध होने की नीति का विरोध करते हैं और यह नीति उनके स्थायी जीवन की विशेषता होती है। इन देशों के मतानुसार सैनिक संधियां सहयोग का परिणाम नहीं होतीं वरन् विरोध का परिणाम होती हैं। इससे एक देश शस्त्रों की दौड में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार की संधियों को तोड़ने का एकमात्र उपाय युद्ध होता है। संधि विरोधी नवीन दृष्टिकोण के अनुसार संधियों के न होने पर प्रत्येक राष्ट्र अलग रहेगा और इस प्रकार उस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भली प्रकार लागू किया जा सकेगा।

स्व० प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने ७ सितम्बर, १९४६ को अपने एक रेडियो प्रसारण में कहा कि भारत को एक दूसरे के विरुद्ध संधिबद्ध समूहों की शक्ति राजनीति से अलग रहना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप अतीत काल में दो विश्व युद्ध हुए तथा जो आगे भी और अधिक स्तर के विध्वंस की ओर प्रेरित कर सकती है। स्व० श्री नेहरू के इस कथन में गुट-निरपेक्ष नीति का सैनिक संधियों के प्रति विरोध झलकता है। किसी भी देश द्वारा अपनाई जाने वाली गुट-निरपेक्षता की नीति उस देश की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों का परिणाम होती है। कोई देश सैनिक संधियों का विरोध अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कर सकता है अथवा आन्तरिक स्थायित्व के लिए। किन्तु फिर भी उसकी मुख्य प्रेरणा प्रायः भावात्मक विचारधारायें

---

1. स्व० पण्डित जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार भी तटस्थता की मान्यता का सम्बन्ध केवल युद्ध से होता है।

होती हैं और कभी-कभी विदेशी सहायता एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त करने की कामना भी प्रेरणा बन जाती है। गुट-निरपेक्षता की नीति को राष्ट्र-सम्मान का भी प्रतीक माना जाता है। स्व० पंडित नेहरू ने कहा था कि "किसी एक गुट में सम्मिलित होने का अर्थ यह होता है कि किसी एक खास प्रश्न पर आप अपने विचार का परित्याग कर दें और दूसरों को खुश करने तथा उनकी सद्भावना प्राप्त करने के लिए उनके विचारों को मान लें।" वैसे गुट-निरपेक्षता की नीति को मानने वाला एक देश अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति अपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण वाला नहीं होता वरन् वह दोनों पक्षों की स्थिति को समझ कर उचित पक्ष की ओर मिलने का प्रयास करता है। सन् १९४९ में अमरीकी जनता के समक्ष बोलते हुए स्व० प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने कहा कि "जहां कहीं स्वतन्त्रता संकट में पड़ती है, न्याय को चुनौती दी जाती है या आक्रमण होता है वहां हम तटस्थ नहीं रह सकते और न रहेंगे।"[1] भारत की विदेश नीति में गुट-निरपेक्षता के तत्वों का वर्णन स्व० नेहरू द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले भाषणों के आधार पर जाना जा सकता है। ९ दिसम्बर, १९५८ को उन्होंने लोक सभा में बताया कि "जब हम यह कहते हैं कि हमारी नीति गुट-निरपेक्षता की है तो स्पष्ट रूप से हमारा अर्थ सैनिक गुटों से निरपेक्ष रहने का होता है।"[2]

गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति एक देश को निष्क्रिय नहीं बनाती वरन् जैसा कि मि० एम० एस० राजन का कहना है "यह एक विधेयात्मक सक्रिय एवं रचनात्मक नीति है जो सामूहिक सुरक्षा की ओर अग्रसर होती है तथा एक मात्र इस पर ही सामूहिक सुरक्षा स्थित रह सकती है।"[3] एक गुट-निरपेक्ष देश सैनिक संधियों में बद्ध न होने के बावजूद भी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न नीतियों, प्रेरणाओं, और सिद्धान्तों के अनुसार अमल करता है। गुट-निरपेक्षता की नीति एक राष्ट्र को कोई भी एक दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य नहीं करती वरन् उसे राष्ट्रीय हित, विश्व शांति एवं न्याय की दृष्टि से कोई भी निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्रता देती है।

---

1. "Where freedom is menaced, justice threatened or aggression takes place, we cannot be and sha l not be neutral."
—*Pt. Jawahar Lal Nehru*, India's Foreign Policy, P. 589.

2. "When we say our policy is one of non-alignment, obviously we mean non-alignment with military blocks."
—India's Foreign Policy, P. 89.

3. "It is a positive, active and constructive policy seeking to lead to collective peace, on which alone collective security can really rest."
—*M. S. Rajan*, India in World Affairs, I, *1954-56, 1964*, P. 63.

गुट-निरपेक्षता की नीति का विकास
(The Development of Non-alignment)

जिस समय भारत, बर्मा, सीलोन, इण्डोनेशिया द्वारा सर्व प्रथम गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाई गई उस समय अधिकांश राज्य औपचारिक रूप से संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस इन दो विरोधी शक्तियों के साथ सम्बद्ध थे। गुट-निरपेक्षता की नीति अपना कर विभिन्न देशों ने स्वतन्त्रता के प्रति अपनी इच्छा को अभिव्यक्त किया। गुट-निरपेक्षता की नीति के विकास में अनेक तत्वों ने प्रभाव डाला है। इन तत्वों ने मिल कर ही देश को गुटों से अलग रहने की नीति अपनाने के लिए प्रेरित किया। जब हम गुट-निरपेक्षता की नीति के विकास का अध्ययन कर रहे हैं तो इसके लिए हमें दो रास्ता से आगे बढ़ना होगा। प्रथम, यह देखना होगा कि कोई देश अपनी स्वतन्त्रता को दाव पर लगा कर भी सैनिक संधियों में सम्मिलित होना क्यों चाहता है और उसके बाद इस पर विचार करना उपयुक्त रहेगा कि गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने के लिए कौनसी प्रेरणायें काम करती हैं।

(A) सैनिक संधि के कारण
(The Causes of Military Alliances)

प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता को सम्मान देता है और वह अपनी स्वेच्छा से उन बन्धनों को स्वीकार नहीं करना चाहता जो कि सैनिक संधियों में बद्ध होने के कारण उन पर लग जाते है। जो सरकारें सुरक्षित, स्वतन्त्र एवं शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहती हैं उनके लिए सैनिक संधि में शामिल होना आवश्यक बन जाता है। प्रत्येक संधिबद्ध देश यह सोचता है कि वर्तमान परिस्थितियों में संधिबद्ध होने का कोई विकल्प नहीं है। बड़ी शक्तियां कमजोर राष्ट्रों के विरुद्ध सैनिक शक्ति के प्रयोग की धमकी दे कर उन्हें संधि में बद्ध होने के लिए मजबूर कर सकता हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी, कोरिया और वियतनाम के विभाजित भागों को लिया जा सकता है। इन देशों में जब एक भाग का समर्थन पश्चिमी शक्तियों ने करना प्रारम्भ किया तो यह स्वाभाविक था कि दूसरा भाग साम्यवादी की ओर झुक जाता। इन देशों के दोनों भागों ने महाशक्तियों के साथ सैनिक संधि में बद्ध होना उचित समझा। वैसे बाध्यकारी रूप से किसी देश को अधिक दिनों तक संधि में बद्ध नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार की संधि केवल तभी तक रहती है जब तक कि सम्बन्धित देश पर कोई संकट हो किन्तु इसके बाद वह देश इस संधि को छोड़ देता है। यदि किसी देश की संधि को दीर्घकालीन बनाना है तो इसके लिए यह जरूरी होता है कि उस देश में ऐसी संस्थायें तथा सरकार स्थापित की जायें जो कि संधि-युक्त नीति का समर्थन करे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ ने पूर्व केन्द्रीय यूरोप में जो हस्तक्षेप किया और पश्चिमी शक्तियों ने यूनान, इटली एवं मध्यपूर्व तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों में जो हस्तक्षेप किया उसका कारण इन प्रदेशों में ऐसी सरकारें कायम करना था जो कि सम्बन्धित महाशक्ति के साथ संधि-बद्ध रह

सके। मि० बर्टन के मतानुसार "अधिकांश मामलों में संधि न तो थोपी जाती है और न ही बाध्यता का परिणाम होती है वरन् इसके लिए एक राष्ट्र अनेक परिस्थितियों पर विचार करता है और विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर आता है कि अपनी रक्षा के लिए वह दूसरी शक्ति के साथ सम्बद्ध हो जाए।"[1] कोई भी देश बड़ी शक्तियों के साथ अनेक कारणों से संधि में बद्ध होता है।

पहला कारण यह है कि परम्परागत रूप से जिस देश से हम आक्रमण की आशा करते हैं उसके विरुद्ध दूसरी शक्ति के साथ संधिबद्ध हो जाते हैं। आक्रमण की समस्यायें उस समय अधिक स्पष्ट हो जाती हैं जब कि दो राष्ट्र परस्पर राजनैतिक संघर्ष में उलझ जाते हैं। सन् १९५० में थाईलैण्ड, दक्षिण वियतनाम आदि राज्यों को यह विश्वास था कि यदि घेराबन्दी न की गई तो चीन के आक्रमण लगातार होते रहेंगे। दूसरी ओर चीन यह सोच रहा था कि यदि किसी उपनिवेशवादी प्रशासन या सरकार को थोड़ा बहुत भी स्थानीय समर्थन मिला तो यह विदेशी सहायता प्राप्त कर लेगी और इस प्रकार चीन के लिए यह दूसरी चुनौती बन जाएगी। जब कुछ मन-मुटाव हो जाता है तो आक्रमण की सम्भावनायें पूरी-पूरी हो जाती हैं और उसके विरुद्ध कोई प्रमाण स्वीकार नहीं किया जाता।

सैनिक संधि में बद्ध होने का दूसरा कारण शीत युद्ध है। शीत युद्ध में अनेक देश एक या अन्य महाशक्ति के साथ सैनिक संधिबद्ध हो गए जैसे कि वे भी विचारधारागत संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उलझे हुए हों, यद्यपि इन देशों की संधि का केन्द्रीय संघर्ष से अधिक लेना-देना नहीं होता। इस प्रकार की संधि में एक देश इस आशा से सम्मिलित होता है कि संकट के समय उससे सहायता प्राप्त होगी। यद्यपि ऐसे देश प्रत्यक्ष रूप से विरोधी महाशक्ति के साथ अथवा उसके मित्रों के साथ संघर्षपूर्ण सम्बन्धों में उलझे नहीं रहते। आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूजीलैण्ड आदि साम्यवाद के विरुद्ध संयुक्त राज्य अमरीका के साथ संधिबद्ध हैं। किन्तु इनमें से कोई भी देश आन्तरिक रूप से साम्यवादी समस्या नहीं रखता और न ही उसके सामने कोई अन्तर्देशीय या विदेशी साम्यवाद की चुनौती है। आस्ट्रेलिया ने सीएटो तथा एन्जस (ANZUS) की सन्धि को स्वीकार किया है किन्तु उसके लिए यह संधियां साम्यवाद का विरोध नहीं है। शीत युद्ध की संधियों का एक उदाहरण पाकिस्तान है। पाकिस्तान में वे सभी शक्तियां पाई जाती हैं जो कि एक गुट-निरपेक्ष नीति को अपनाने की प्रेरणायें बतायी जाती हैं। पाकिस्तान में भी उपनिवेशवाद विरोधी तथा राष्ट्रवादी भावनायें पाई जाती हैं।

---

1. "In a majority of cases, however, alignment is neither imposed nor is it a consequence of imposition; it is a deliberate response by a nation a set of circumstances which, in the view of its leaders, compel it to seek the protection of another power."

—J. W. *Burton*, op. cit., P. *171*.

मध्य-पूर्व के देशों के साथ पाकिस्तान का इतिहास, परम्परायें तथा धार्मिक बन्धन हैं। इसके अतिरिक्त चीन व रूस के साथ एवं पश्चिमी शक्तियों के साथ पाकिस्तान के जो सम्बन्ध हैं उन सब के देखने से ऐसा लगता है कि पाकिस्तान को भी गुट-निरपेक्षता की नीति का ही अनुसरण करना चाहिए। इसके विपरीत पाकिस्तान ने १९५४ तथा १९५५ में सिएटो एवं बगदाद-संधि को स्वीकार कर लिया। यद्यपि पाकिस्तान की एसेम्बली में इसका पर्याप्त विरोध किया गया किन्तु फिर भी देश की सुरक्षा के नाम पर इसे स्वीकार किया गया। मोहम्मद असन चौधरी (Mohammed Ahsen Choudhri) के मतानुसार पाकिस्तान ने यह आशा की कि सीएटो तथा बगदाद सन्धि में शामिल हो जाने के बाद संयुक्त राज्य अमरीका उसे आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने के अतिरिक्त काश्मीर के झगड़े को सुलझाने में नैतिक तथा राजनैतिक सहायता प्रदान करेगा।[1]

बाद के अनुभवों से पाकिस्तान को पर्याप्त निराशा हुई क्योंकि अमरीका द्वारा भारत को भी सहायता दी जा रही थी। ऐसी स्थिति में सीएटो सन्धि को कोई लाभदायक समझौता न मान कर एक भार समझा गया।

सैनिक संधियों को स्वीकार करने का तीसरा कारण एक देश की आन्तरिक राजनैतिक अवस्था होती है। युद्ध के तुरन्त बाद फिलिपाइन्स तथा मलाया की आन्तरिक अवस्था ने इन देशों को सैनिक सन्धि में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। इन दोनों देशों में जापान से लड़ने वाले छापामारों का शासन था। इस शासन के विरुद्ध देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने संगठन बनाया और दोनों के बीच विरोध का सूत्रपात हुआ। बाद में पश्चिम की सहायता से क्रान्तिकारियों को दबाने के बाद इन देशों में पश्चिम समर्थक सरकारों को स्थायी रूप प्रदान कर दिया गया। किन्तु इण्डोनेशिया तथा इण्डोचीन में राष्ट्रवादी एवं छापामार तत्वों को नहीं दबाया जा सका क्योंकि पश्चिमी शक्तियों की सेना वहाँ से हट चुकी थी। एक देश की सरकार को जब अपने अस्तित्व के लिए खतरा दिखाई देता है तो वह शीघ्र ही किसी महाशक्ति के साथ सन्धिबद्ध हो जाती है।[2]

सैनिक सन्धि में शामिल होने का चौथा कारण तब उत्पन्न होता है जबकि एक देश की आन्तरिक गड़बड़ी को शीत युद्ध का राजनैतिक लाभ उठाने के लिए विदेशी एजेन्टों द्वारा प्रेरित या समर्थित किया जाता है। यह कारण थाईलैण्ड तथा उससे लगे क्षेत्रों, अफ्रीका के अनेक राज्यों, मध्य-पूर्व एवं लेटिन अमरीका आदि राज्यों पर बहुत कुछ लागू होता है।

---

1. Mohammed Ahsen Chaudhri, Quoted from Callard, Pakistan's Foreign Policy.

2. "In both East and West alliances and defence of indepensible governments go hand in hand."

—*J. W. Burton* op. cit., P. 179.

(A) गुट–निरपेक्षता के कारण
[The Causes of Non-Alignment]

सैनिक सन्धि को स्वीकार करने के लिए प्रभावित करने वाले कारणों का अध्ययन करने के बाद अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि कोई देश गुट-निरपेक्षता की नीति को क्यों अपनाता है, इसके क्या कारण हैं ? ऐसा नहीं होता कि जिस देश पर सन्धि-बद्ध होने के लिए दबाव न डाले जायें, वह स्वतः ही गुट-निरपेक्षता की नीति को अपना ले । सन्धि–बद्ध होने के कारणों का प्रभाव निषेधात्मक रूप से महत्वपूर्ण हो सकता है किन्तु सकारात्मक रूप से इस दिशा में प्रेरित करने वाले दूसरे ही तत्व होते हैं । विलियम हेन्डर्सन (William Henderson) ने गुटनिर्पेक्ष नीति के लिए उत्तरदायी आठ मुख्य प्रेरणाओं का उल्लेख किया है; ये हैं—पाश्चात्यीकरण का विरोध, नव प्राप्त स्वतंत्रता को बनाये रखने का संकल्प, भावनाओं की अधिकता किन्तु भौतिक कमजोरियां, विदेश–व्यवहार का अज्ञान अथवा उदासीनता, मार्क्सवाद का प्रभाव, साम्यवादी चीन के साथ समायोजित होने की आवश्यकता, यह विश्वास कि गुटनिरपेक्ष नीति शान्ति को बढ़ावा देती है तथा गुट-निरपेक्षता के द्वारा साम्यवाद को रोका जा सकता है ।[1]

गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए एक देश क्यों प्रेरित हुआ ? इस प्रश्न का जवाब हमें उन देशों के सामान्य प्रभावों एवं विशेष प्रभावों को देखने पर प्राप्त हो सकेगा जो कि इस नीति पर चल रहे है ।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रवाद की भावना का प्रसार एवं उपनिवेशवाद का विरोध तथा आर्थिक विकास की समस्याओं के दबाव ने मिल कर उन सभी परिस्थितियों को पैदा किया है जिनमें कि गुट-निरपेक्षता की नीति संचालित होती है । ये विशेषतायें ऐसी हैं जो कि प्रायः अफ्रीका और एशिया के सभी देशों में पाई जाती है चाहे वे गुट-निरपेक्ष हों अथवा न हों । ये तत्व एक गुट निरपेक्षता की नीति अपनाने के लिए भी उतना ही दबाव डालते हैं जितना कि सन्धिबद्ध होजाने के लिए । इन तत्वों का गुट–निरपेक्षता की नीति अपनाने में कितना योगदान रहता है यह एक विवादास्पद प्रश्न है । अधिकांश विचारकों का मत है कि ये सहायक परिस्थितियां इस नीति के विकास में सहायता अवश्य देती हैं किन्तु ये आवश्यक पूर्व शर्तें नहीं हैं ।

गुट-निरपेक्ष नीति की सहायक परिस्थितियों में प्रथम उल्लेखनीय राष्ट्रवाद की भावना है जो कि स्वतंत्रता आन्दोलनों की एक मुख्य विशेषता रही है । सामान्य भाषा एवं संस्कृति न होते हुए भी एशिया, अफ्रीका तथा मध्य पूर्व के देशों में इस भावना का पर्याप्त प्रसार एवं प्रभाव हुआ । युद्ध के बाद अफ्रीका के देशों का राष्ट्रवाद एक दृष्टि से अफ्रीकावाद (Africaism)

---

1. *William Henderson*, "The Roots of Neutralism in Southern Asia", International Journal, (Toronto), *13* (Winter *1957-58*) Pp. 30-40.

था। यह अतीत के प्रति प्रतिक्रिया थी। यह निम्न स्तर के विरुद्ध, जातीयता के विरुद्ध, शोषण के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जो कि भाषा, संस्कृति और जाति की सीमाओं को पार कर गई। नये राज्यों का राष्ट्रवाद उन परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है जिनमें कि यह उत्पन्न हुआ। जिन देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों ने आसानी से स्वतंत्रता दे दी उनके बीच बाद में भी सम्बंध अच्छे बने रहे तथा जिन देशों को इन्डोनेशिया की तरह स्वतंत्रता प्राप्त करने में पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा उनके सम्बंध परस्पर बिगड़ गये। प्रायः सभी नव स्वतंत्रता प्राप्त राज्यों के राष्ट्रवाद में राष्ट्रपन को पर्याप्त महत्व दिया जाता है। राष्ट्रवाद और गुट निरपेक्षता के बीच सहयोग इसलिए है क्योंकि इन देशों के नेताओं ने अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति का समर्थन करने के लिए राष्ट्रवाद का सहारा लिया। एक बार स्व० प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा था कि 'यदि किसी आन्दोलन को जनता के लिए वास्तविक बनना है तो उसे राष्ट्रवाद के रूप में परिभाषित होना चाहिए। किसी भी एशियाई देश में एक आन्दोलन उसी मात्रा में सफल अथवा असफल होगा जिस मात्रा में कि वह राष्ट्रवाद की गहनतम भावना के साथ संयुक्त है।"[1] जॉन मारकस (John Marcus) का कहना है कि फ्रांस, जर्मनी तथा ग्रेट ब्रिटेन में जब कभी तटस्थता की नीति का प्रभाव आया है तो वह मुख्यतः इन देशों में व्याप्त राष्ट्रवाद की भावना के कारण आया।

दूसरी सहायक परिस्थिति उपनिवेशवाद का विरोध है। एशिया तथा अफ्रीका के देशों में जो राष्ट्रवादी एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन चले उनकी मुख्य प्रेरणा उपनिवेशवाद का विरोध था। सन् १९५५ में हुए बाण्डुङ्ग सम्मेलन का यह मुख्य विचार था। यदि एक देश को सैनिक संगठन में शामिल होने को मजबूर करने वाली कोई चीज नहीं है तो उपनिवेश विरोधी भावना उसे गुट-निरपेक्षता की दिशा में प्रभावित करेगी। एशिया और अफ्रीका के देशों का यह विश्वास है कि अतीतकाल में होने वाली सभी लड़ाइयां मुख्य रूप से योरोपीय लड़ाइयां थीं और इनमें एशिया तथा अफ्रीका के देशों को शतरंज के मोहरों की तरह प्रयुक्त किया गया। आज इन शोषित राज्यों को यदि सैनिक संधियों में मिला दिया गया तो वही पुराना इतिहास दोहराया जायेगा। इन आशंका से ये अपने आपको अलग ही रखना पसन्द करते हैं। उपनिवेश विरोधी भावना के कारण एशिया और अफ्रीका के ये देश पश्चिमी शक्तियों के साथ नहीं मिलना चाहते किन्तु अतीत के सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी एवं प्रशासनिक सम्बन्धों के कारण वे उनका विरोध भी नहीं करना चाहते अतः गुट-निरपेक्षता की नीति अपना लेते हैं। शीत युद्ध में दोनों ही पक्षों द्वारा एक दूसरे को साम्राज्यवादी कहा जाता है। नये राज्य यह तय नहीं कर पाते कि कौन साम्राज्यवादी है और कौन नहीं अतः वे दोनों को ही

1. "A movement must define itself in terms of nationalism if it has to become real to the people. In any Asian Country, a movement will succeed or fail in the measure that it associates itself with the deep-seated urge of nationalism."
—*Nehru's Speeches, 1949-53*, P. *163*.

संदेह की नजर से देखते हैं। यही कारण है कि इन देशों में से कोई भी यह नहीं चाहता कि वह किसी भी एक पक्ष से ही आर्थिक या सैनिक सहायता प्राप्त करे। इस प्रकार गुट-निरपेक्षता की नीति को पराधीनता के विरुद्ध आत्मरक्षा का एक साधन बनाया गया है।

तीसरी सहायक परिस्थिति इन देशों की अर्द्धविकसित स्थिति है। इनकी गरीबी तथा उच्च जीवन स्तर की मांग ने इन देशों में आर्थिक विकास को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। यह भी गुट-निरपेक्ष नीति की एक प्रेरणा है। ये देश मनमुटावों तथा खिचावों को कम करके इस बात का प्रयास करते हैं कि शस्त्रों के निर्माण पर अधिक खर्च न करके उत्पादन व विकास पर किया जाये। गुट-निरपेक्षता के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि इस नीति को अपनाने पर दोनों ही गुटों की पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाती है जबकि गुट में शामिल होने पर तो केवल एक ही देश की सहायता प्राप्त होती। कुछ विचारकों के मतानुसार यह तर्क अत्यन्त हल्का है क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से सन्धिबद्ध देशों को अधिक सहायता प्राप्त हुई है। प्रारम्भ में तो असंलग्न देशों को महाशक्तियों द्वारा सहायता ही नहीं दी गई। इसके अतिरिक्त इन देशों को अपनी सुरक्षा योजनाओं पर भी पर्याप्त व्यय करना पड़ा। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का विचार है कि उनको जो भी विदेशी सहायता प्राप्त हुई है वह उनका अधिकार था न कि कोई अहसान। राष्ट्रपति नासिर के कथनानुसार अतीत काल में साम्राज्यवादी शक्तियों ने जिस राष्ट्रीय सम्पत्ति का अपहरण किया वह यदि उनको वापिस प्राप्त होती है तो इसमें किसी का भी क्या अहसान है। सहायता प्रदान करना प्रगतिशील देशों का एक स्वेच्छापूर्ण कर्त्तव्य है। यह एक प्रकार का कर है जो कि अतीत के उपनिवेशवादी शोषण-कर्त्ताओं द्वारा उनको प्रदान किया जाना चाहिए जो कि शोषित किये गये है। विकसित देशों के प्रति गरीब देशों में एक ईर्ष्या की भावना पैदा हो रही है अतः यह आवश्यक है कि इनके जीवन स्तर में जो असमानतायें हैं उनको दूर किया जाये।

चौथे, गुट-निरपेक्षता की नीति का एक जातीय एवं सांस्कृतिक पहलू भी है। इस नीति को मानने वाले देश मुख्यतः अफ्रीका और एशिया महाद्वीप के रहने वाले हैं। ये देश ऐसे हैं जो कि योरोप से भिन्न दुनियां में रहते है। इन देशों का आर्थिक रूप से शोषण किया गया था तथा इस पर समान रूप से राजनैतिक अधिकार रहा था अतः इनके बीच एक पारस्परिक सहानुभूति रहना स्वाभाविक है। अवसरवश गुट-निरपेक्ष देश अश्वेत हैं। इन देशों के बीच परस्पर सांस्कृतिक एकता इतनी अधिक नहीं है किन्तु केवल यही एकता है कि वे समान रूप से एक बड़ी शक्ति के आधीन रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद का विरोध, आर्थिक सहायता की आवश्यकता एवं सांस्कृतिक एकता आदि तत्वों द्वारा अनुकूल परिस्थितियां प्रदान करके गुट-निरपेक्षतावादी नीति के विकास के लिए एक पृष्ठभूमि का काम किया। वैसे ये परिस्थितियां कई ऐसे देशों में

भी पाई जाती है जो कि सैनिक संगठनों के सदस्य हैं। इन देशों को इन परिस्थितियों ने सन्धि करने की दिशा में प्रेरित किया है। ऐसी स्थिति में हम इन परिस्थितियों को गुट-निरपेक्ष नीति के विकास का मुख्य कारण नहीं मान सकते। मुख्य कारण तो अन्य परिस्थितियां हैं। इनका निर्धारण भी हम एशिया और अफ्रीका के सभी देशों का निरीक्षण करने के बाद ही कर सकते हैं। गुट निरपेक्षता के ये विशेष लक्षण एशिया व अफ्रीका के सभी देशों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं किन्तु इतने पर भी गुट-निरपेक्ष देशों में इनका प्रभाव अधिक होता है। इनका सम्बन्ध राजनैतिक दृष्टिकोणों से रहता है तथा इसकी अभिव्यक्ति अनेक आर्थिक एवं राजनैतिक संगठनों में होती है। गुट-निरपेक्ष देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए पर्याप्त संघर्ष किया था। वे स्वाधीनता से पूर्व ऐसी संस्थाओं की मांग करते थे जो कि उपनिवेशवादी सरकार को मान्य न थी। विश्व राजनीति में भी ये देश स्थित व्यवस्था का समर्थन करने की अपेक्षा क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करने लगे।

गुट-निरपेक्षता की दृष्टि से जो तत्व महत्वपूर्ण रूप से प्रभाव डालते हैं उनमें पहला समाजवाद है। योरोप में तटस्थता की नीति का समर्थन वामपंथियों द्वारा किया गया था तथा वहां समाजवादी एवं तटस्थतावादी लोगों में अधिक भेद नहीं था। अफ्रीका और एशिया के देशों में भी अधिकांश अर्धविकसित देश इसी प्रकार समाजवाद एवं तटस्थता की नीति से प्रभावित है। इन देशों द्वारा अपने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए नियोजन, राष्ट्रीयकरण, सरकारी हस्तक्षेप आदि साधनों को अपनाया जा रहा है। इन देशों की प्राप्य अल्प सम्पत्ति प्रायः कृषि कार्य में केन्द्रीकृत रहती है अतः औद्योगिक विकास का कार्य केवल सरकार की पहल पर ही किया जा सकता हैं। भारत में कांग्रेस सरकार ने प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद को अपना लक्ष्य बनाया है। जिस किसी देश में संगठित क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की जाती है उस देश की विशेषता केन्द्रीय शक्तियां, केन्द्रीय निर्देशन एवं नियोजन बन जाता है।

रंगून में सन् १९५३ में एशिया के समाजवादियों की बैठक हुई। इस बैठक के बाद एक एशियाई समाजवादी ब्यूरो स्थापित किया गया। बर्मा में समाजवादी दल के संस्थापक के शब्दों में "समाजवादी नेताओं के रूप में हमको ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जो कि मस्तिष्क की ताजगी को समाप्त करदे अथवा एक नये स्वतन्त्र विचारधारागत दृष्टिकोण को रोक दे। इस स्वतन्त्र दृष्टिकोण के कारण ही हम इस तीसरी शक्ति का विकास कर सके हैं तथा प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद का विचार विकसित कर सके हैं।"[1]

---

1. "As Socialist leaders we should not do anything that would stifle any freshness of mind, or a new independent ideological approach. It is due to this independent outlook and approach that we could develop this idea of a Third Force-

इस प्रकार का मानसिक दृष्टिकोण लोचशील, स्वीकार करने योग्य तथा किसी भी विचारधारा से असंलग्न होता है। किन्तु यह किसी न किसी प्रकार से नियोजन का समर्थन करता है ताकि अपनी कृषक अर्थव्यवस्था को बढ़ा सके। ऐसी स्थिति में ये देश अमरीका और सोवियत संघ के बीच का ही मार्ग अपनाते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि ये देश दोनों गुटों से अलग अपना अस्तित्व बनायें। सन् १९५० तक संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा इन देशों को साम्यवादी माना जाता था और साम्यवादी देश इन्हें अप्रत्यक्ष रूप से पूञ्जीवाद का ही एक रूप कहते थे। समाजवाद गुट-निरपेक्ष नीति की पूर्व आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह अर्द्ध विकास की समस्याओं के प्रति नए राज्यों की प्रतिक्रिया है। समाजवाद, अर्द्ध विकास और गुट-निरपेक्षता तीनों एक ही साथ एक ही वातावरण में पाए जाते हैं।

समाजवाद की भांति गुट-निरपेक्ष देशों की एक अन्य विशेषता यह है कि वे अपनी घरेलू नीति के प्रति क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रखते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्त करके इन देशों ने स्वतन्त्रता की महत्वाकांक्षाओं को सन्तुष्ट किया। एक दूसरी क्रांति की आवश्यकता और थी जो कि इन देशों की भौतिक महत्वाकांक्षाओं को सन्तुष्ट कर सके। इण्डोनेशिया में विदेशी सम्पत्ति और पूञ्जीगत उद्यमों को समाजीकृत कर दिया गया। एशिया और मध्य-पूर्व के अनेक क्षेत्रों में चीन की भांति भूमि की व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्तन किया गया। अन्य देशों में भी आर्थिक क्रांति प्रारम्भ हो चुकी थी। वहां उन संस्थाओं को बदला गया जो कि इस क्रांति के मार्ग की बाधा थी और उसे आने से रोक रही थी।

समाजवादी क्रान्तिकारी सरकारें पश्चिम के साथ अपने आपको संधिबद्ध नहीं कर सकती थीं। संयुक्त राज्य अमरीका में इस समय समाजवाद का विरोध ज्वर जोरों पर था। जो सरकार जमींदारी, जागीरदारी को दूर करने का प्रयास करती थी उसे अमरीका चीन का हमदम मान लेता था। इस आधार पर इन नये राज्यों के नेताओं के प्रति अमरीका का दृष्टिकोण सन्देह-पूर्ण रहा। संयुक्त राज्य अमरीका की नीति इन राज्यों में सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को हतोत्साहित करने की रही। यह प्रतिक्रियावादी सरकारों को समर्थन देता रहा ताकि प्रशासनिक अव्यवस्था से लाभ उठा कर साम्यवादी आगे न आ जायें। एशिया और अफ्रीका के देशों ने जो आन्तरिक क्रान्ति की उसने उनको पश्चिमी देशों के साथ मिलने से रोक दिया। किन्तु जहां पश्चिमी दबाव उन पर अधिक पड़े वहां इन देशों ने साम्यवादी देशों की सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया, उदाहरण के लिए क्यूबा को लिया जा सकता है। जहां इस क्रान्ति को मजबूत पश्चिमी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा वे गुट-निरपेक्ष बने रहे; उदाहरण के लिए मिस्र।

---

and also the idea of Democratic Socialism."

—*Maung Maung*, P. 146.

इसका अर्थ यह नहीं होता कि सामंतवादी सरकारें गुट-निरपेक्ष नहीं होतीं। बेलग्रेड सम्मेलन में इस तथ्य को स्वीकार किया गया, फिर भी यह बताया जाता है कि सामन्तवादी देशों की जनता आन्तरिक सुधारों की मांग करती है। ऐसी स्थिति में सम्बंधित सरकार विदेशों से अपनी रक्षा की मांग करती है और वे गुट-निरपेक्ष नहीं रह पातीं। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकाला जाना उचित है कि गुट-निरपेक्ष देश प्रायः वे होते हैं जहां कि तीव्र सामाजिक एवं आर्थिक विकास हो चुके हैं या हो रहे हैं।

तीसरे, गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का राजनैतिक दृष्टिकोण भिन्न है। वे युद्ध को रोकने के परम्परागत पश्चिमी विचारों में विश्वास नहीं करते और इसलिए शक्ति-सन्तुलन आदि को मान्यता नहीं देते। नाविकीय प्रतिरोध के नवीन प्रयासों को भी वे बहुत कम आदर देते हैं। गुट-निरपेक्ष नीति के समर्थक युद्ध, शक्ति एवं प्रत्येक शक्ति गुट के दावों का अवमूल्यन करते हैं। स्व० श्री नेहरू ने सन् १९५४ में कांग्रेस समिति को भेजे हुए एक पत्र में लिखा कि शान्ति केवल शान्ति के तरीकों से ही प्राप्त हो सकती है। शान्ति के प्रति युद्धपूर्ण दृष्टिकोण अपने आप में एक विरोधाभास है। स्व० श्री नेहरू के मतानुसार पहले से ही सुरक्षा का प्रबन्ध करना उन गलत प्रवृत्तियों को विकसित करना है जो कि सही प्रवृत्तियों को विकसित होने से रोक देती हैं।

गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नेता शीत युद्ध के सभी पहलुओं पर नया दृष्टिकोण रखते हैं। इस दृष्टिकोण के कारण ही वे गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए प्रेरित हुए। ये देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विभिन्न समस्याओं के प्रति अपना स्वयं का दृष्टिकोण अपनाते हैं। इन देशों के द्वारा संसदीय व्यवस्था को सरकार का एक मात्र प्रजातन्त्रात्मक रूप कहा जाता है। गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा महाशक्तियों को इस रूप में देखा जाता है जिस रूप में वे दिखना चाहती हैं वरन् इस रूप में देखा जाता है जैसा कि किसी बाहरी दर्शक को प्रतीत हो। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का मत है कि दोनों ही पक्ष विश्व शान्ति के लिए खतरनाक हैं और कोई भी एक पक्ष सदगुण या बुद्धि पर कोई एकाधिकार नहीं रखता। ये देश शीतयुद्ध संघर्ष के केवल दर्शक हैं, अभिनेता नहीं हैं इसलिए स्वयं स्थिति का मूल्यांकन कर सकते हैं। इन देशों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिपूर्ण सम्बन्धों के लिए अलग से मार्ग बताया जाता है; उदाहरण के लिए स्व० प्रधानमंत्री श्री नेहरू पंचशील में विश्वास करते थे। उनके कथनानुसार "यदि पंचशील को पूरी तरह और गम्भीरता के साथ सभी देशों के द्वारा स्वीकार किया जाता है तो प्रत्येक को शान्ति प्राप्त होगी और सहयोग की भावना बढ़ेगी।" स्वतन्त्रता और गुट-निरपेक्षता मुख्य बातें हैं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति किसी एक बड़ी शक्ति या शक्ति समूह के साथ संधि करने से नहीं हो सकती वरन् प्रत्येक विवादपूर्ण एवं झगड़े वाली स्थिति पर एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखने से हो सकती है। एक राष्ट्र को पराधीन जनता को स्वतन्त्रता देने, जातीय भेदभाव को समाप्त करने, आवश्यकता, बीमारी और अज्ञान को समाप्त करने, आदि विभिन्न पहलुओं के प्रति स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

यह कहा जाता है कि गुट-निरपेक्ष देशों के नेताओं के कार्यों और कथनों में पर्याप्त अन्तर रहता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति सुकार्नो ने यह घोषणा की थी कि वे पश्चिमी इरियान (West Irian) की समस्या पर डचों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे। किन्तु सन् १९६१ में उसने सोवियत संघ से युद्ध प्रसाधन प्राप्त किए जिन्हें पश्चिमी इरियान के क्षेत्र में रखा गया। शक्ति प्रयोग के अन्य कुछ उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जिनके पक्ष में यह कहा जाता है कि गुट-निरपेक्ष देशों ने इन्हें आत्मरक्षा और उपनिवेशवाद के विरुद्ध अपनाया। किन्तु यह तर्क अधिक न्यायोचित नहीं है, क्योंकि इसे तो युद्ध करने वाला कोई भी देश दे सकता है। या तो गुट-निरपेक्ष राज्यों को यह स्पष्ट करना होगा कि किन परिस्थितियों में वे शक्ति के प्रयोग को उचित मानते हैं और क्यों? अथवा उन्हें भी इस दोष का भागी बनना पड़ेगा कि वे महाशक्तियों से मौलिक रूप से भिन्न नहीं हैं।

चौथे, अनेक बड़े गुट-निरपेक्ष राष्ट्र, जैसे भारत, मिस्र, यूगोस्लाविया और इण्डोनेशिया अपनी राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग सुरक्षा के कार्यों पर खर्च करते हैं। गुट निरपेक्ष और गुट-सापेक्ष देशों के कार्य तो लगभग एक जैसे हैं किन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर हैं। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का विश्वास है कि भय को हटा दीजिए, और आक्रमणकारी नीतियां अपने आप हट जायेंगी। दूसरी ओर संघिबद्ध राष्ट्रों का विचार है कि जब तक सम्भावित आक्रांता का प्रतिरोध करने के लिए शक्ति का परिचय न दिया जाए उस समय तक युद्ध को नहीं रोका जा सकता। गुट-निरपेक्ष देशों की मान्यता है कि आक्रमण की आशा तथा उसे रोकने के लिए की जाने वाली संधियां ही अन्तिम रूप से संघर्षपूर्ण स्थिति पैदा कर देती हैं। अनेक वैज्ञानिकों द्वारा इस दृष्टिकोण का समर्थन किया जाता है कि युद्ध का आधार भय है।

पांचवें, गुट-निरपेक्ष देशों में प्रारम्भ से ही असाधारण नेतृत्व रहा है। स्व० श्री नेहरू, यूनू, सुकार्नो, नासिर, एनक्रूमा, टीटो आदि का नाम युद्ध के बाद अफ्रीका और एशिया की घटनाओं में प्रमुख रहा है। अफ्रीका और एशिया के जिन देशों ने पहले की उपनिवेशवादी शक्तियों से संधियां की हुई हैं उनमें कुछ एक अपवादों को छोड़ कर, नेतृत्व का अभाव है। यह एक विवादपूर्ण विषय है कि क्या इन देशों के नेतृत्व ने गुट-निरपेक्षता की नीति का विकास किया? कई विचारकों का कहना है कि गुट-निरपेक्षता की नीति प्रभावशाली नेतृत्व का परिणाम नहीं है वरन् जिन परिस्थितियों ने प्रभावशाली नेतृत्व को जन्म दिया वे ही गुट-निरपेक्षता की नीति के लिए भी उत्तरदायी हैं। गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाने वाला पहला देश भारत था। भारतीय विदेश नीति के कर्णधार स्व० पंडित नेहरू को राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान ही तटस्थता की शिक्षा प्राप्त हुई। इस पृष्ठभूमि के होते हुए भी यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से ही एक स्वतन्त्र विदेश नीति को अपनाया जो कि कुछ सकारात्मक विशेषताओं से युक्त तटस्थ नीति थी। स्व० श्री नेहरू ने सन्

१९५० में यह कहा था कि "मैं सदन में यह कहना चाहता हूं कि जिस नीति को हम अपना रहे हैं वह केवल तटस्थ या निष्क्रिय या निषेधात्मक नहीं है वरन् यह एक ऐसी नीति है जो कि हमारे ऐतिहासिक तथा वर्तमान अतीत से प्राप्त हुई है। यह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन और विभिन्न आदर्शों से निकली है जिनकी कि हम समय-समय पर घोषणा करते रहते थे।"

शान्ति की रक्षा भारतीय विदेश नीति का केन्द्रीयभूत लक्ष्य है। इस नीति की खोज में ही भारत ने किसी सैनिक या अन्य सन्धि में सम्मिलित न हो कर गुट-निरपेक्षता की नीति का मार्ग अपनाया है। गुट-निरपेक्षता का अर्थ दिमाग और कार्यों की निष्क्रियता नहीं है, यह विश्वास और मान्यताओं की निष्क्रियता नहीं है, इसका अर्थ बुराई के सामने झुक जाना भी नहीं है; वरन् यह विश्व की समस्याओं के प्रति एक सकारात्मक और गत्यात्मक दृष्टिकोण है। यद्यपि नेतृत्व के कारण गुट-निरपेक्ष नीति के विकास में पर्याप्त सहायता मिली किन्तु नेतृत्व का पहलू इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि यह दिखाई देता है, क्योंकि जिन परिस्थितियों ने गुट-निरपेक्षता की नीति को जन्म दिया उन्होंने इन नेताओं का भी विकास किया। कारण चाहे कुछ भी हो किन्तु गुट-निरपेक्षता की नीति और प्रभावशाली नेतृत्व दोनों साथ-साथ चले हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गुट-निरपेक्षता की नीति एक देश द्वारा उस समय अपनाई जाती है जब कि उस पर संधि में बंधने के लिए अधिक दबाव न डाले जायें। इतने पर भी गुट-निरपेक्षता को एक स्वाभाविक चीज नहीं कहा जा सकता जो कि अपने आप विकसित हो जाती हो, वरन् अनेक विभिन्न प्रकार के प्रभाव हैं जो कि राष्ट्रों को इस नीति की ओर प्रेरित करते हैं। इनमें से कुछ प्रभाव तो ऐसे हैं जो कि गुट-निरपेक्ष और गुट-सापेक्ष देशों में समान रूप से पाए जाते हैं जब कि अन्य कुछ प्रभाव ऐसे हैं जो कि केवल गुट-निरपेक्षता की नीति के लिए भी विशेष हैं।

गुट-निरपेक्ष नीति का उद्देश्य
(The Object of Non-alignment)

गुट-निरपेक्ष नीति एक देश को मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। इस नीति को मानने वाले देश किसी भी प्रकार की विदेशी सहायता को अस्वीकार कर लेते हैं यदि वह उनके आन्तरिक विषयों पर हस्तक्षेप करने का प्रयास करे। स्वतन्त्रता की रक्षा इस नीति का एक प्रमुख लक्ष्य है और यदि सहायता देने के माध्यम से विदेशों द्वारा उसकी स्वतन्त्रता को छीना जाता है तो वह इस सहायता का बलिदान कर देगा। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर जो दृष्टिकोण अपनाया जाता है वह विषय की प्रकृति एवं औचित्य पर आधारित होता है। इन देशों की मान्यता है कि महाशक्तियों द्वारा कही गई बात अन्तिम सत्य नहीं होती, क्योंकि वे अपने स्वार्थ एवं अन्य भावनाओं से प्रभावित होती हैं। शीत युद्ध

से अलग रहने के कारण गुट-निरपेक्ष देश किसी समस्या को वस्तुगत रूप से देख सकते हैं और दृष्टिकोण की यह स्वतन्त्रता ही गुट-निरपेक्ष नीति का एक मुख्य उद्देश्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक विचारक गुट-निरपेक्षता की नीति को केवल एक साधन मानते हैं तथा उसे विदेश नीति का स्तर देने को तैयार नहीं हैं। यह सच है कि गुट-निरपेक्षता की नीति द्वारा सम्बन्धित देशों ने आर्थिक विकास के अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया है और विदेशों से पर्याप्त सहायता प्राप्त की है किन्तु इस आधार पर गुट-निरपेक्षता को कोई नीति न मानना गलत है। लेखकों के मतानुसार विदेश नीति भी एक साधन होती है जिसके सहारे राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। असल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साधन और नीति के बीच कोई महत्वपूर्ण अन्तर स्थापित करना मुश्किल है। गुट-निरपेक्षता विदेश नीति का एक मुख्य साधन है।

गुट-निरपेक्षता की नीति के द्वारा एक राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता एवं प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा का प्रयास करता है। जब भारत को दोनों ही गुटों से सैनिक सहायता प्राप्त हुई तो पाकिस्तान और चीन आदि देशों ने यह दोष लगाया कि भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति का त्याग कर दिया है। सन् १९६२ के चीनी आक्रमण से पूर्व भारत द्वारा विदेशों से केवल आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी किंतु समय की आवश्यकताओं से प्रभावित हो कर भारत ने अपनी विदेश नीति को समायोजित किया और सैनिक सहायता स्वीकार की। यद्यपि भारत ने सैनिक सहायता ली किन्तु उसने अपने प्रदेश पर विदेशी सेनाओं एवं सैनिक अड्डों को स्थापित होने की अनुमति नहीं दी। इस प्रकार विदेशी सहायता, चाहे वह सैनिक हो अथवा आर्थिक, उस समय तक गुट-निरपेक्षता के विरुद्ध नहीं कही जा सकती जब तक कि वह सम्बन्धित देश की विदेश नीति की स्वतन्त्रता समाप्त नहीं करती। यदि कोई देश अपनी स्वतन्त्रता एवं प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा के लिए विदेशी सहायता को स्वीकार करता है तो एक प्रकार से वह उन्हीं लक्ष्यों की दिशा में अग्रसर हो रहा है जिनकी ओर हमें गुट-निरपेक्षता की नीति ले जाती है। सैनिक सहायता के माध्यम से गुट-निरपेक्ष नीति का मार्ग सुगम तथा निर्बाध बन जाता है।

गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति का एक अन्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना करना है। इस नीति में विश्वास करने वालों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एक नैतिक एवं मानवीय उद्देश्य है जो कि युद्ध की अमानवीय बर्बरताओं से बचा कर सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार को आगे बढ़ाता है। गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा विश्व शान्ति का समर्थन केवल इसीलिए नहीं किया जाता कि वह उनके आर्थिक विकास एवं राजनैतिक स्थायित्व के लिए जरूरी है वरन् इसलिए भी किया जाता है कि आज का युद्ध विध्वंसकारी बन गया है। इसके अतिरिक्त शान्ति अपने आप में एक अच्छाई है और इसे

किसी अन्य कारण के लिए नहीं वरन् इसकी अन्तर्निहित अच्छाई के लिए ही अपना लिया जाना चाहिए। युद्ध के न होने पर ही मानव द्वारा सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में की गई प्रगति का कुछ मूल्य होता है। नेहरू के कथनानुसार गुट-निरपेक्ष नीति युद्ध नहीं चाहती है, यह शान्ति के लिए सकारात्मक रूप में प्रयास करती है तथा सहयोग में विश्वास करती है।[1]

गुट निरपेक्षता की नीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का साधन भी है। कुछ लेखकों के अनुसार जब गुट निरपेक्षता के माध्यम से राष्ट्रीय हितों को साधने का प्रयास किया जाता है तो वह नीति बन जाती है और जब इसे विश्व शान्ति की स्थापना के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो यह एक साधन बन जाती है। यदि गुट निरपेक्षता को हम आर्थिक आत्मनिर्भरता, या राजनैतिक स्थायित्व अथवा उपनिवेशवाद के विरोध का साधन मात्र ही मान लें तो ऐसी स्थिति में इन लक्ष्यों के प्राप्त हो जाने पर गुट निरपेक्षता का कोई महत्व नहीं रहेगा। इसलिए यह जरूरी है कि इसके साथ किसी स्थायी एवं सर्वकालीन मूल्य को संयुक्त किया जाये। इस मूल्य के साधन के रूप में ही हम इसका मूल्य आंक सकते हैं। विश्व शान्ति की प्राप्ति को एक ऐसा ही मूल्य बनाया गया जिसको प्राप्त करने के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति को साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। गुटनिरपेक्ष देश विश्व शान्ति को राष्ट्रीय हित से भी अधिक प्रमुखता प्रदान करते हैं। यह कहा जाता है कि अनेक विचारक गुटनिरपेक्षता की नीति में छिपी शक्ति को नहीं पहचान सके जिसके आधार पर कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा किया जा सके। यही कारण है कि जार्ज स्वार्जेनबर्गर (George Schwarzenberger) ने गुटनिरपेक्षता की नीति को आत्म-केन्द्रित नीति बताया है। मार्गेन्थो तथा रीनाल्ड नीवर आदि लेखक इसे केवल विचारधारा मात्र कहते हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इन विचारकों का अर्थ यही है कि गुटनिरपेक्षता की नीति विदेशी सहायता प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण होने के साथ-साथ गलत भी है क्योंकि यह नीति मुख्य रूप से विश्व शान्ति की स्थापना का प्रयास करती है।

गुटनिरपेक्षता की नीति संयुक्त राष्ट्र संघ का तथा निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों का समर्थन करती है। यह नीति उन सभी कार्यों का समर्थन करती है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय खिचाव को दूर करने में सहायता करते हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र संघ एवं निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों की सफलता का गुटनिरपेक्ष राज्यों के लिए अत्यन्त महत्व होता है। गुटनिरपेक्ष नीति का अस्तित्व ही विश्व शान्ति के अस्तित्व पर निर्भर करता है। युद्ध छिड़ जाने पर गुटनिरपेक्षता नाम की कोई चीज न रहेगी। स्वर्गीय श्री नेहरू यह कहा करते थे कि यदि वास्तविक युद्ध छिड़ गया तो

---

1. "It does not want war, works for peace in a positive way and believes in co-operation."
—*Nehru's Speech-s*, 1949-53, P. 236.

गुटनिरपेक्ष राज्यों के सामने इसके सिवाय कोई विकल्प न रहेगा कि वे जिसे भी उचित समझें उस पक्ष के साथ व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से युद्ध में शामिल हो जायें। इस प्रकार तृतीय विश्व युद्ध को रोकना इस नीति का केवल लक्ष्य ही नहीं है वरन् उसके अस्तित्व की आवश्यक शर्त भी है।

भारत में गुटनिरपेक्षता की नीति
[Non-aligned policy in India]

भारतवर्ष ने स्वतंत्रता के बाद से ही अपनी विदेश नीति का आधार गुटनिरपेक्षता की विचारधारा को बनाया है। प्रधानमंत्री श्री नेहरू को इस नीति का जनक माना जाता है क्योंकि इन्होंने सबसे पहले इसको अपनाया, इसे स्पष्ट किया और इसके सैद्धान्तिक विवेचन का कार्य किया। पण्डित नेहरू का यह कहना था इस नीति को अपना कर वे किसी तीसरे गुट की रचना करने नहीं जा रहे हैं। यदि कोई गुट निरपेक्ष राज्यों को तीसरा गुट कहता है तो यह उसकी गलती है तथा वह सही अर्थ से अनभिज्ञ है। सैनिक दृष्टि से तीसरा गुट बनाना अनुचित है।[1]

असंलग्नता (Non-alignment) अपने विधेयात्मक रूप में एक देश की स्वतन्त्रता की बढ़ोतरी करती है। असंलग्नता की सबसे अच्छी परिभाषा यह है कि किसी देश के साथ सैनिक आधार पर मित्रता न की जाय चाहे वह साम्यवादी गुट का हो अथवा पश्चिमी गुट का; इस समय पश्चिमी राष्ट्रों ने अनेक राष्ट्रों को सैनिक संगठन पर बद्ध कर रखा है; दूसरी ओर साम्यवादी देशों ने भी इसकी प्रतिक्रियास्वरूप पूरा संगठन बना रखा है। इन सन्धि-संगठनों की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि किसी भी एक राष्ट्र पर आक्रमण होने की अवस्था में सन्धिबद्ध सभी देशों द्वारा मिलकर उसका विरोध किया जायगा। भारत का विचार है कि यदि वह किसी गुट विशेष में शामिल हो गया तो अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों के उत्पन्न होने पर वह जो सहयोग प्रदान कर सकता था उसे नहीं कर पायेगा और विश्व शान्ति के अवसर उसके हाथ से चले जायेंगे। प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने एक बार कहा था कि अगर किसी अवसर के पैदा होने पर हम निश्चय रूप से एक शक्ति गुट के साथ सम्मिलित हो जायं तो हो सकता है किसी रूप में हमको लाभ हो जाय किन्तु आगे चल कर यह नीति न केवल भारत वरन् पूरे विश्व के लिए ही अहितकर रहेगी। आज हम अपने प्रभाव का विश्व शान्ति में जो उपयोग कर सकते हैं वह बाद में नहीं कर पायेंगे तथा विश्व शान्ति की सम्भावनायें निरन्तर दूर होती चली जायेंगी। गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं वे मुख्यतः निम्न प्रकार हैं—

(१) भारत किसी भी देश पर शासन नहीं करना चाहता वह तो

---

1. "It would be absurd for a number of countries in Asia to come together and call themselves a third force or a third power in a military sense."

—*Nehru's Speeches*, 1949-53, P. 236.

विश्व में शान्ति बनाये रखना चाहता है और इस दृष्टि से किसी गुट में शामिल होकर अकारण ही विश्व में तनाव की स्थिति पैदा करना उपयुक्त नहीं है।

(२) भारत युद्ध को दूर रखने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करना चाहता है; उसका प्रभाव किसी भी गुट में शामिल हो जाने पर क्षीण हो जायेगा।

(३) भारत अपने विचार प्रकट करने की स्वतंन्त्रता को बनाये रखना चाहता है। यदि किसी गुट विशेष में सम्मिलित हो गया तो उसे आवश्यक रूप से विश्व की समस्याओं पर वही रुख अपनाना पड़ेगा जो उसका गुट अपना रहा है। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के मत में "किसी भी गुट में शामिल हो जाना अपनी राय को बलिदान करने के समान है।"

(४) किसी गुट में शामिल होने की नीति दो कारणों से अव्यावहारिक है। प्रथम तो ऐसा होने पर भारत अपने भूतकाल से प्राप्त उन आदर्शों पर नहीं चल पायेगा जो उसकी विदेश नीति के आधार हैं। दूसरे, उसका यह व्यवहार विश्व की वर्तमान परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं से भी भिन्न होगा। इसके अतिरिक्त ऐसी सम्भावना कम ही दिखती है कि भारत गुटबन्दी से उत्पन्न नीति के रूप का सफलतापूर्वक संचालन कर ही लेगा।

(५) यह विदेश नीति भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुरूप है। बहुत से विचारक जो अवसरवादिता की विदेश नीति को श्रेष्ठ मानते हैं वे भी इस प्रकार की नीति से संतुष्ट होंगे। स्वतन्त्र विदेश नीति कालान्तर में बहुत महत्वपूर्ण साबित होती है। भारत अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमों तथा योजनाओं की सिद्धि के लिए विदेशों से सहयोग एवं सहायता चाहता है। असंलग्नता की नीति उसके इस लक्ष्य को पूरी तरह से सम्भव बना देती है। किसी गुट में शामिल न होने की नीति के परिणामस्वरूप ही यह संभव हुआ है कि भारत के सम्बन्ध दोनों ही गुटों के साथ बड़े अच्छे हैं तथा रूस एवं अमरीका दोनों से एक साथ वह सहायता प्राप्त कर रहा है। नेहरू के शब्दों में 'आर्थिक, राजनैतिक अथवा दूसरी प्रकार की सहायता प्राप्त करने के लिए यह बुद्धिमानी की नीति नहीं है कि तुम अपने सभी अंडों को एक ही टोकरी में रख दो।" दूसरे शब्दों में हम हर प्रकार की सहायता के लिए किसी एक देश या देशों के गुट पर अवलम्बित नहीं रह सकते। यह नीति अपर्याप्त तो है ही किन्तु हमारे आत्म-सम्मान के भी विपरीत है।

(६) भारत की भौगोलिक स्थिति भी उसे यह नीति अपनाने को बाध्य करती है तथा यह सम्भव बनाती है कि वह अपने आपको गुटों से अलग रख सके। हम पश्चिमी गुट के साथ सैनिक गठबन्धन नहीं कर सकते क्योंकि विश्व के पश्चिम विरोधी दो प्रमुख साम्यवादी देशों की सीमायें भारत की सीमाओं के अति निकट है। साम्यवादी चीन की सीमा तो भारत की धरती को छूती है। दूसरी ओर सोवियत रूस की सीमा भी केवल २० मील दूर पर ही स्थित है। साम्यवादी देशों के सम्मिलित आक्रमण का मुकाबला करने के

लिए पश्चिमी शक्तियों की सहायता उपयुक्त समय एवं पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं की जा सकती। साम्यवादी देशों के साथ हमारी मित्रता इसलिए सम्भव नहीं है कि अपनी अतीत की परम्पराओं के कारण हम साम्यवादी सिद्धान्तों को अच्छा नहीं मानते और हिंसात्मक एवं दमनकारी नीतियों एवं व्यवहारों को बुरी निगाह से देखते हैं।

(७) असंलग्नता की नीति भारत के चरित्र और उसकी परम्पराओं से मेल खाती है। ६ दिसम्बर, १९५८ को प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने लोकसभा में कहा था कि "गुटबन्दी में शामिल न होने की नीति को उन्होंने केवल वाणी दी है, उसका उत्पादन नहीं किया है।" वे इस नीति के मूल निर्माता नहीं हैं। यह एक ऐसी नीति है जो भारत की परिस्थितियों में, भारत की प्राचीन विचारधाराओं में तथा विश्व की वर्तमान आवश्यकताओं में स्वाभाविक है। इस विचारधारा का सार भारत के लोगों के मस्तिष्क में सहिष्णुता की विचारधारा का पाया जाना है। भारतीयों ने इस परम्परा को अपने धर्म-ग्रन्थों एव इतिहास से उत्तराधिकार में पाया है। सहिष्णुता का विचार केवल पुस्तकों में ही सीमित न रहा वरन् यहां की सामाजिक परम्पराओं में उसके वास्तविक रूप का दर्शन होता है। सम्राट अशोक का विचार था कि 'अपने धर्म का मान करना और दूसरों के धर्मों की कमी भी निन्दा न करना' इस सिद्धान्त के विपरीत जो व्यक्ति व्यवहार करता है वह दूसरे के धर्म की निन्दा करते हुए स्वयं के धर्म को भी हानि पहुंचाता है।

(८) भारत की विचारधारा आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में पश्चिमी तथा साम्यवादी गुटों के बीच की है और इसलिये यह आवश्यक एवं स्वाभाविक बन जाता है कि उसकी विदेश नीति में भी दोनों के बीच के मार्ग का ही अवलम्बन किया जाय। भारत साम्यवाद के समानता, वर्ग भेद की समाप्ति, सामाजिक सुरक्षा, शोषण का अन्त आदि विचारों से सहमत है किन्तु उसमें पायी जाने वाली असहिष्णुता, हिंसा, स्वतंत्रता का अभाव एवं दमन आदि दोषों को घृणित दृष्टि से देखता है। इसी प्रकार भारत पश्चिमी देशों की इस परम्परा से प्रभावित है कि व्यक्ति के ज्ञान एवं स्वतंत्रता का सही मूल्यांकन किया जाना चाहिये। किन्तु इन देशों में साम्यवाद की प्रतिक्रियास्वरूप जो घृणा एवं कटुता का वातावरण बनता है वह भारत के लिए एक उलझनपूर्ण पहेली है जिसे वह असहिष्णुता का प्रतीक मानता है।

गुट निरपेक्ष नीति की उपयोगिता
(The Utility of Non-alignment)

भारत की असंलग्न नीति ने राष्ट्रीय हित की साधना की है अथवा नहीं? इस प्रश्न के सम्बन्ध में सभी के अलग-अलग मत हैं। आलोचकों के द्वारा यह कहा जाता है कि स्वतन्त्रता के बाद से ही भारतीय विदेश नीति यथार्थवाद से दूर हट कर आदर्शवाद की मृग-मरीचिका में उलझी रही, इसके नेताओं ने ऊंचे-ऊंचे उद्देश्य जनता के सामने रखे और संसार को नैतिक उपदेश देते हुए अपनी शक्ति की सीमाओं को भुला दिया। इसके परिणाम-

स्वरूप भारत की जो प्रतिमूर्ति विश्व में स्थापित हुई वह कोई ठोस या शक्तिशाली नहीं थी, वरन् एक ऐसे देश की थी जो कि आदर्शात्मक लक्ष्यों को प्रचारित करता है किन्तु उन्हें साकार करने की उसमें क्षमता नहीं है। इसके अतिरिक्त भारतीय विदेश नीति को गुटों से निरपेक्ष रहने के कारण भी आलोचना का पात्र बनाया जाता है। यह कहा जाता है कि संकट के समय मित्रों का अभाव किसी भी देश की विदेश नीति की असफलता का प्रतीक है और गुट-निर्पेक्षता की नीति इस दिशा की ओर प्रेरित करती है। इन विभिन्न आलोचनाओं का उत्तर देते हुए प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने १७ जुलाई, १९६७ को लोकसभा में बताया कि गुट-निर्पेक्षता की नीति ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया है कि साम्यवादी और पूञ्जीवादी दोनों गुटों को एक दूसरे के निकट आने में सुविधा दी है। भारतवर्ष शेष विश्व में घटित होने वाली घटनाओं से अपने आपको पृथक नहीं रख सकता। श्रीमती गांधी ने बताया कि उनकी सरकार जिस गुट-निर्पेक्षता की नीति को अपना रही है उससे दोनों शक्तिशाली गुट नजदीक आए हैं। भारत का आदर्शवाद कभी भी उसके राष्ट्रीय हित से अलग नहीं रहा। उन्हीं के शब्दों में "हमने शान्ति को अपनाया क्योंकि यह हमारे विकास के लिए जरूरी थी, हम इस समय लड़ रहे हैं वह केवल उच्च आदर्शों के लिए नहीं, वरन् यह हमारे जीवन के लिए, अस्तित्व के लिए और विकास के लिए जरूरी है।"[1]

भारतवर्ष इस नीति में विश्वास रखते हुए अपनी सम्प्रभुता के विरुद्ध या उसको नुकसान पहुंचाने वाले किसी भी कार्य का विरोध करेगा चाहे यह कार्य प्रत्यक्ष रूप से उसके ऊपर दबाव डाले अथवा छिपे हुए रूप में उसे कोई बात मानने के लिए मजबूर करे। भारत का यह मत है कि विश्व में शान्ति बनाये रखने के लिए समस्त अणु-शक्ति-युक्त देशों को, चाहे वे किसी भी गुट के क्यों न हों, यह चाहिए कि अणु शक्ति विहीन राष्ट्रों को अणु आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करें। जिस प्रकार जहरीली गैस का प्रयोग गैर कानूनी घोषित किया गया है उसी प्रकार अणु-शक्ति विहीन देशों के विरुद्ध अणु-शक्ति का प्रयोग न किया जाए। भारतवर्ष निश्चय ही अणु शस्त्रों के प्रचार के विरुद्ध संधि में रुचि लेता है किन्तु फिर भी इसके मतानुसार यह संधि अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है। भारत का विश्वास है कि पूर्ण निःशस्त्रीकरण होना चाहिए और वह इस उद्देश्य की दिशा में प्रगति के लिए प्रयत्नशील है।

लोकसभा में मि० एम० आर० मसानी ने यह आरोप लगाया था कि भारत ने अणु-शक्ति सम्पन्न देशों से यह आश्वासन प्राप्त करने के लिए

---

1. "We have a stake in peace because it is essential for our development. We are not just fighting for high ideals. It is something which essential for our survival, existence and development."
   —*Mrs. Indira Gandhi*, Hindustan Times, *18th July, 1967.*

पहल नहीं की कि वे अणु आक्रमण की स्थिति में इस देश को एक छत्री (Shield) प्रदान करें। प्रधानमन्त्री के कथनानुसार यह दोष लगाना गलत है क्योंकि उनके भूतपूर्व सचिव मि० एल० के० झा इस प्रकार का छत्र प्राप्त करने के लिए विभिन्न देशों की यात्रा पर गए। इससे पूर्व राष्ट्रपति जानसन ने इस प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने के लिए एकपक्षीय घोषणा की और भारत सरकार ने इसका स्वागत किया। भारतीय प्रधानमन्त्री के अनुसार प्रस्तावित नाविकीय संधि यथास्थिति (Status quo) बनाए रखने का प्रयास करती है किन्तु यह उस समय तक कोई महत्व नहीं रखती जब तक कि साम्यवादी चीन इसका सदस्य नहीं बनता, क्योंकि यह देश भी अणु शक्ति सम्पन्न बन चुका है। भारत की विदेश नीति में जिन लक्ष्यों, महत्वाकांक्षाओं एवं साधनों को अपनाया गया है वे यहां के वातावरण से प्रभावित हैं। भारत की विदेश नीति देश की आन्तरिक नीति के लक्ष्यों से मर्यादित होती है जो कि जनता की महत्वाकांक्षाओं एवं राजनैतिक दर्शन को अभिव्यक्त करते हैं। भारत की विदेश नीति पर उन सभी अनुभवों का प्रभाव है जो कि उसे उसके इतिहास से प्राप्त हुए हैं। भारत पर विदेशी शासन रहा और अभी तक उस शासन के अत्याचार तथा दमन की स्मृति शेष है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि जब हम दूसरे क्षेत्रों में ऐसा होते देखते हैं तो उसके विरुद्ध आवाज उठाते हैं। ऐसी आवाज उठाने के लिए गुटों से निर्पेक्षता की नीति अपनाना जरूरी हो जाता है।

गुट-निर्पेक्षता की नीति का एकमात्र विकल्प यह है कि किसी गुट के साथ सैनिक संधि में शामिल हुआ जाए; किन्तु ऐसा करते समय समस्या यह उठती है कि आखिर किस गुट के साथ सम्मिलित हुआ जाए। विश्व राजनीति में जो सैनिक गुट बने हुए हैं उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में सम्बन्धित राष्ट्रों द्वारा पुनर्विचार हो रहा है। दो गुट की व्यवस्था क्रमशः समाप्त होती जा रही है तथा शक्ति के अन्य केन्द्र उभरते आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में भारत ने जो दृष्टिकोण अपनाया है वह इसके निर्णायकों के मतानुसार अन्तिम प्रभाव को देख कर यह अपनाया गया है। जब लोकसभा में अनेक सदस्यों ने यह कहा कि पिछले बीस वर्षों में भारत की आवाज को सुना ही नहीं गया तो प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने उन्हें केवल यह कहा कि विरोधी सदस्य यह सब कहने के लिए स्वतन्त्र हैं किन्तु इससे ऐतिहासिक तथ्यों को बदला नहीं जा सकता। अनेक अवसरों पर भारत की आवाज तथा उसके प्रयास पर्याप्त फलदायक सिद्ध हुए हैं। भारत की विदेश नीति के आलोचक गम्भीरता के साथ यह आरोप लगाते हैं कि विदेश नीति के निर्णायक अनेक वैदेशिक दबावों से प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकारियों की योग्यता, ईमानदारी और देशभक्ति पर भी कभी-कभी संदेह व्यक्त किया जाता है; इस प्रकार के आरोप कई बार जनसंघ के नेता प्रोफेसर बलराज मधोक द्वारा लगाये गये हैं।

भारत की विदेश नीति की एक मुख्य आलोचना स्वर्गीय डा० राममनोहर लोहिया द्वारा की गई। उन्होंने बताया कि देश की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह किसी भी संकट के समय खड़े रहने की इच्छा-शक्ति

नहीं रखता। अरब-इजरायल संघर्ष के समय देश का वातावरण सरकार के रुख में कोई एकरूपता प्रतीत नहीं हो रही थी। यदि भारत सरकार यह नीति अपनाना चाहती है कि अन्य बातों पर विचार करने से पहले इजरायल अधिकृत अरब क्षेत्रों को खाली करदे तो उसे चाहिए कि वह जनता को यह समझाने का प्रयास करे कि आक्रमण के द्वारा कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर इस नीति को अपनाने से पूर्व वे अरब राष्ट्रों पर यह दबाव डाले कि वे इजरायल की सुरक्षा की गारन्टी प्रदान करें। इन दोनों बातों के अभाव में भारत की इजरायल-विषयक नीति एक असंलग्न देश की नीति प्रतीत नहीं होती वरन् एक ऐसे राष्ट्र की नीति लगती है जो कि किसी पक्ष में रुचि ले रहा हो।

मि० जे० बी० कृपलानी ने भारत की वर्तमान विदेश नीति को भय से प्रभावित बताया और कहा कि अब तक के प्रधान मन्त्रियों ने गुट-निरपेक्षता की नीति के साये में रह कर जो निर्णय लिए हैं वह उनकी कमजोरी और डरपोकपन का प्रतीक है। भारत की विदेश नीति को सदैव ही गुट-निरपेक्ष के रूप में परिभाषित किया जाता है किन्तु गुट-निरपेक्षता केवल एक निर्देशन का सिद्धान्त हो सकता है, मुख्य बात तो कूटनीति एवं रणकौशल है जो कि एक देश को प्रभावशील एवं सशक्त बनाता है। मि० कृपलानी ने यह सुझाव दिया कि भारत की नीति को राष्ट्रीय आत्महित की ओर निर्देशित कूटनीति की आवश्यकता है। भारतीय विदेश नीति का इतिहास साक्षी है कि जब-जब अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर इसने कोई रुख अपनाया तभी यह दूसरे राष्ट्र की शक्ति से प्रभावित हुआ। हंगरी में जब राष्ट्रीय क्रान्ति हुई तो भारत कुछ बोला किन्तु साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने में अगुआ बनता है जब कि वह एक आक्रमणकारी देश है। भारत के ये दोनों कार्य रूस और चीन के भय से प्रभावित रहे।

मि० जे०बी० कृपलानी ने तटस्थता की नीति की कटु आलोचना की। अरब-इजरायल संघर्ष के समय भारत सरकार द्वारा जो नीति अपनाई गई उसे भी मि० कृपलानी भय पर आधारित मानते हैं। उनका कहना है कि नई दिल्ली को अरबियों तथा भारतीय मुसलमानों के मत का भय था। इसलिए इजरायल का विरोध किया गया। उनके मतानुसार हकीकत यह है कि यदि इजरायल ने तुरन्त ही कार्यवाही नहीं की होती तो वह दुनियां के नक्शे से हटा दिया गया होता। गहराई में गए बिना केवल ऊपरी प्रचारात्मक कथनों के आधार पर इजरायल को आक्रमणकारी कहना उनके मतानुसार भारतीय कूटनीति की गरीबी और मूर्खता का प्रतीक है। मि० कृपलानी ने यह स्पष्ट किया कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कोई भी राष्ट्र अकेला खड़ा नहीं रह सकता। संयुक्त राज्य अमरीका और रूस भी चाहे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों उन्हें भी अन्य राष्ट्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। "हमें समझना चाहिए कि हम कहां खड़े हैं और लम्बी-चौड़ी बातें नहीं करनी चाहिए। मैं यह नहीं चाहता कि कोई सैनिक संधि की जाए किन्तु हमें रणकौशल युक्त राष्ट्रों से किसी भी प्रकार समझौता बनाए

रखना चाहिए। ये राष्ट्र रूस और चीन भी हो सकते हैं यदि वे ऐसा चाहें तो।" गुट-निरपेक्षता की नीति मौलिक रूप से गलत है क्योंकि यदि भारत यह सोचता है कि वह अकेला रह कर चीन और पाकिस्तान का विरोध कर सकेगा तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह अन्तर्राष्ट्रीय नीति का क, ख, ग भी नहीं जानता।[1] मध्य-पूर्व एशिया के संघर्ष में भारत सरकार द्वारा अपनाए गए रुख का कई विरोधी एवं कांग्रेसी नेताओं द्वारा विरोध किया गया तथा यह परामर्श दिया गया कि उसे पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने में जल्दी नहीं करनी चाहिए। सदस्यों की शिकायत थी कि भारत द्वारा यदि यथार्थवादी नीति अपनाई गई होती तो वह पश्चिम एशिया में शान्ति स्थापित कर सकता था तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने सम्मान को ऊंचा उठा सकता था किन्तु उसने ऐसा न किया और स्वर्णिम अवसर खो दिया। भारत की विदेश नीति के सम्बन्ध में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के नेता के मनोहरन ने कहा कि "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सरकार बातें बहुत करती है और काम बहुत कम करती है। भारत भी जापान की तरह अन्य मामलों में कम ध्यान क्यों न दे तथा आर्थिक विकास पर क्यों न अपना ध्यान केन्द्रित रखे।"

विदेश मन्त्री छागला और गुट-निरपेक्षता की नीति
(Foreign Minister M. C. Chagla and Non-aligned Foreign Policy)

भारतीय विदेश नीति के गुट-निरपेक्षवादी रूप की अनेक आलोचनाओं को सुनने के बाद भी तत्कालीन विदेश मन्त्री एम० सी० छागला ने १८ जुलाई, १९६७ को लोकसभा में इस नीति का समर्थन किया। वे अपने मन्त्रालय के बजट की मांगों पर वाद-विवाद का उत्तर दे रहे थे। मि० छागला ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति का पक्ष लिया। उनके शब्दों में गुट-निरपेक्षता एक सकारात्मक एवं गत्यात्मक मान्यता है जो कि तटस्थता की निष्क्रिय मान्यता से भिन्न है।[2] मि० छागला ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्रता के बाद भारत द्वारा किए गए योगदान के प्रति गौरव की भावना व्यक्त की। भारतीय विदेश नीति के सम्बन्ध में लोकसभा में जब श्री नाथ पाई (Nath Pai) ने आलोचनात्मक रूप से असंतोष व्यक्त किया तो विदेश मन्त्री ने इसे केवल देश के स्तर को नीचा करने वाला एक निराधार प्रयास बताया। साथ ही यह परामर्श दिया कि मि० नाथ पाई को अपनी वक्तृता के गुण का प्रयोग अच्छे उद्देश्यों के लिए करना चाहिए; जैसे देश को गुणगान करने के

---

1. "If India thought it could stand alone and oppose China and Pakistan, then we do not know the A.B.C. of international policies."
—J. *B. Kriplani*, Hindustan Times, *18*th July, *1967*.

2. "Non-alignment was a positive and dynamic concept different from the passive concept of neutrality."
—*M. C. Chagla*, Hindustan Times, *19*th July, *1967*.

लिए, देश के शत्रुओं से लड़ने के लिए तथा दुनियां को यह समझाने के लिए कि भारत को कैसे कई बार गलत समझ लिया जाता है।

मि० छागला के कथनानुसार भारत ही वह पहला देश है जिसने कि गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाया। यदि स्वर्गीय प्रधान मन्त्री के राजनैतिक विचारों के सबसे बड़े योगदान पर विचार किया जाये तो गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्त का नाम लिया जायेगा। प्रारम्भ में भारत की आवाज को अरण्य रोदन समझा जाता था। अमरीका के राज्य सचिव मि० डलेस ने इस नीति को तटस्थता (Neutrality) की नीति मान लिया था तथा इसको एक अनैतिक नीति कहा। किन्तु यह बात जिस समय कही गई थी उस समय विश्व राजनीति दो गुटों में बंटी हुई थी। किन्तु अब संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के मध्य स्थित गुटबन्दी की भावना कम होती जा रही है। भारत द्वारा अपनायी जाने वाली नीति का ही यह परिणाम है कि विश्व के सभी गुट-निरपेक्ष देश आज नेतृत्व एवं निर्देशन के लिए भारत की ओर निहारते हैं।

आलोचकों ने अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि भारत को वियतनाम, मध्यपूर्व एशिया आदि से सम्बंधित अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर अधिक कुछ नहीं बोलना चाहिए क्योंकि ऐसा करके वह अनेक उलझनें पैदा कर लेता है तथा अन्य देशों से उसके सम्बंध अच्छे तो हो नहीं पाते और जो अच्छे थे वे भी खराब हो जाते हैं। मि. छागला के मतानुसार यह नीति एक तटस्थ देश द्वारा अपनायी जा सकती है किन्तु भारत ऐसा नहीं करेगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत सुरक्षा परिषद का सदस्य है अतः उसे विश्व की घटनाओं को देखकर उन पर अपना निर्णय देना होता है। सुरक्षा परिषद के एक सदस्य के रूप में भारत दुनियां के भागों में घटने वाली घटनाओं की ओर से आंखें नहीं मूंद सकता। "अन्याय, आक्रमण, विश्वासघात, तानाशाही, एवं उपनिवेशवाद आदि सभी से भारत का सम्बंध है और यह सदैव रहेगा।"[1]

विरोधी दल के सदस्यों के मतानुसार गुट निरपेक्षता की भारतीय विदेश नीति भारत के राष्ट्रीय हितों को प्राप्त कराने में असफल रही है। आज शान्ति और न्याय की स्थापना करने वाली शक्ति के रूप में भारत का कोई महत्व नहीं रह गया है। सरकार के पास कूटनीतिक मिशनों की पूरी बारात नहीं पड़ी है किन्तु इनमें मुश्किल से ही कोई सच्चा कूटनीतिज्ञ होगा। भारत के अनेक मित्र हैं किन्तु इनमें से संकट के समय काम आने वाला एक भी नहीं है। यह तस्वीर कुछ निराशापूर्ण, हताश करने वाली तथा भयकारी

---

1. "Injustice, aggression, breach of confidence, Tyranny, Colonialism are all concern of India and will always remain so."

—*M. C. Chagla.*

प्रतीत होती किन्तु विरोधी सदस्यों के मतानुसार यह एक वास्तविकता है। "गुट-निरपेक्षता की नीति को भारतीय विदेश नीति की 'पवित्र गाय' समझा जाता है जिसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जाना चाहिए तथा इसे किसी के द्वारा छूआ नहीं जाना चाहिए। जब भी कभी कोई इसके बारे में कुछ कहने का प्रयास करता है तो उसे बुरा-भला कहा जाता है तथा किसी भी लॉबी से उसका सम्बंध सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।"[1] आलोचकों के मतानुसार भारत सरकार के लिए असंलग्नता की नीति एक सरल चीज है। जब हम सोवियत संघ जाते हैं तो हम उसके समर्थक बन जाते हैं तथा वियतनाम में बमबारी की तुरन्त बन्द करने की मांग करते हैं। जब अमरीका जाते हैं तो वहां उसकी कठिनाइयों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। यह हमारी असंलग्नता की नीति है। मि. नाथपाई के कथन को बीच में ही काटते हुए जब श्रीमती गांधी ने उसे गलत बताया तो नाथपाई ने और स्पष्ट करते हुए याद दिलाया कि जब वे अमरीका में थीं तो उन्होंने वाशिंगटन प्रशासन की कठिनाइयों को स्वीकार किया था।

गुट-निरपेक्षता की नीति के विरोधियों से जब यह पूछा गया कि वे किस गुट के साथ मिलने का परामर्श देते हैं तो यह कहा गया कि हम किसी के भी साथ मिलना नहीं चाहते, हमारा मूल लक्ष्य तो भारत का हित है। राष्ट्रीय हित को ही हम अपनी नीतियों एवं कार्यों के औचित्य तथा सफलता का मापदण्ड मान सकते हैं। इसी के आधार पर हम सरकार के निर्णयों का मूल्यांकन कर सकते हैं।

भारत की पश्चिम एशिया सम्बधी नीति के बारे में यह कहा जाता है कि इस देश को यहां एक भी फायर किये ही हार प्राप्त हो गई। भारतीय प्रतिभूति एवं सम्मान को यहां जो धक्का लगा है उसकी शीघ्र ही क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकती। भारत की राष्ट्रीय समस्यायें भी पर्याप्त गम्भीर हैं। नक्सालवाडी, मिजो पहाड़ी तथा नागालैण्ड आदि प्रदेशों की समस्यायें ऐसी नहीं हैं जिनकी अवहेलना की जा सके। हम यह नहीं कह सकते कि केवल बड़े-बड़े वायदों और आश्वासनों के द्वारा ही चीनी सेनाओं के विरुद्ध भारत की रक्षा की जा सकेगी।

अनेक कांग्रेसी सदस्यों का भी यह विश्वास है कि भारत द्वारा अपनाई गई गुट-निरपेक्षता की नीति उपयुक्त नहीं है। विभूति मिश्र का कहना है कि यह नीति एक शक्तिशाली देश के लिए उपयुक्त हो सकती है किन्तु भारत जैसे कमजोर देश के लिए यह उचित नहीं है। भारत का सम्मान अन्तर्राष्ट्रीय

---

1. "The holy cow' of India's foreign policy was non-alignment. Nobody dared touch it nor say a word against it. The moment one said anything one invited the wrath of the powers that be and was maligned, condemned, discredited and identified with this lobby or that."

—*Nath Pai*

जगत में उतना नहीं है जितना कि यहां के नेताओं द्वारा बताया जाता है तथा जनता द्वारा समझा जाता है। पहले इसका जो भी सम्मान था वह सन् १९६२ के चीनी आक्रमण के समय धूल में मिल गया। साम्यवादी चीन के साथ अपनाई जाने वाली नरम नीति का औचित्य अनेक विचारकों की समझ में नहीं आता। उनका विचार है कि जो चीन देश पर आक्रमण हमारे करता है तथा हमारे कूटनीतिज्ञों के साथ अमानवीय व्यवहार करता है, हम उसी को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने का समर्थन करते हैं तथा उसके साथ कूटनीतिक सम्बंध बनाये रखते हैं, यह कूटनीति की दृष्टि से कोई योग्यतापूर्ण कदम नहीं है।

भारत की विदेश नीति के सम्बंध में कोई भी एकपक्षीय निर्णय लेना बड़ा कठिन है। यद्यपि यह दोष युक्त है जैसी कि हर देश की विदेश नीति होती है किन्तु इतने पर भी इसे पूर्णतः बहिष्कृत करना गलत होगा। इसके दोषों को दूर किया जाये तथा परिष्कृत किया जाये; यही उपयुक्त एवं वांछनीय है।

विदेश नीति की विशेषतायें
[Characteristics of the Foreign Policy]

भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने ७ सितम्बर, १९४६ को प्रसारित अपने भाषण में ही कर दिया था। उन्होंने यह आशा की थी कि "दूसरे राष्ट्रों के साथ भारत के घनिष्ट तथा सीधे सम्बन्धों का विकास होगा तथा यह देश अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं स्वतंत्रता की स्थापना में उनके साथ सहयोग करेगा।"[1] भारत का यह विश्वास है कि सत्य का अधिकतम रूप दो अतियों (Extremes) के बीच में ही पाया जाता है। विश्व राजनीति पटल पर स्थित दोनों महाशक्तियों द्वारा स्वयं की नीति को न्याय तथा दूसरे के विश्वासों एवं व्यवहारों की निरर्थकता को सिद्ध करने के प्रयास एकांगी तथा सत्य के आंशिक रूप हैं।भारत उन लोगों के प्रति भी सहानुभूति एवं सद्भावना रखता है जो उसकी नीतियों में विश्वास नहीं करते या उससे भिन्न नीति को अपनाते हैं। भारत उपनिवेशवाद, जातिवाद, साम्राज्यवाद आदि विश्व के अभिशापों का निन्दक है किन्तु फिर भी इनको मिटाने के लिए वह हिंसात्मक साधनों का पक्षपाती नहीं है। उसका विश्वास है कि बुरे साधनों के द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। हंगरी के स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी वहां की हिंसात्मक नीतियों का भारतीय नेताओं ने विरोध किया था। गोवा में फ्रांसीसी व पुर्तगाली साम्राज्यवादी अवशेष भारत के सम्मान एवं स्वतन्त्रता की कालिमा थे तो भी इनका विरोध करने के लिए हिंसा को

---

1. "We hope to develop close and direct contacts with other nations and to co-operate with them in the furtherance of world peace and freedom."

—Jawahar Lal Nehru in his speech given on 7th Sept., 1946

अपनाने में भारत सदा ही हिचकता रहा। भारत न तो किसी शक्तिशाली देश को अपने ऊपर हावी होने देना चाहता है और न ही वह स्वयं किसी कमजोर देश पर अपना अनुचित प्रभाव डालना चाहता है। नेहरू का विचार था कि हम दूसरे देशों के साथी एवं भाई बनना चाहते हैं किसी के नेता नहीं। वे कहा करते थे कि भारत न तो किसी गुट का अनुयायी ही बनेगा और न किसी को स्वयं का अनुयायी ही बनायेगा, उसकी नीति तो राष्ट्रों के बीच एक पुल का कार्य करने की रहेगी।

भारत राष्ट्रमण्डल का सक्रिय सदस्य है तथा साम्यवादी एवं साम्यवाद विरोधी राष्ट्रों के गुटों से संलग्न है। यह सब होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भारत को एक महत्वपूर्ण राष्ट्र बना दिया है तथा एशिया के प्रवक्ताओं में इसका स्थान शीर्ष का है। प्रथम एवं अन्तिम भारतीय गवर्नर जनरल राजगोपालाचारी ने एक बार कहा था कि "हमारी शक्ति कम है किन्तु हमारा महत्व बहुत अधिक है। भारत किसी दूसरे राष्ट्र को नैतिक बनाने का दम नहीं भरता क्योंकि वह स्वयं की असफलताओं एवं अभावों से परिचित तथा जागरूक है। उसका विश्वास है कि दूसरों के दोषों को बताना बहुत आसान काम है किन्तु इससे कोई लाभ नहीं होता।" पण्डित नेहरू यह नहीं चाहते थे कि दूसरे सोचें कि भारत अन्य राष्ट्रों से अधिक नैतिक है। उसका सदैव यही प्रयास रहता था कि भारत अन्य देशों की अच्छाइयों को ग्रहण करके सशक्त एवं समर्थ राष्ट्र बन जाये। किन्तु यह कार्य कोरा अन्धानुकरण न होकर देश की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों की उपयुक्तता को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए।

कुछ विचारक एवं राजनैतिक प्रेक्षक भारत की विदेश नीति पर दोमुंही होने का आरोप लगाते हैं और कहते हैं कि झगड़ों के शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारे का पक्षपाती भारत काश्मीर प्रश्न पर पाकिस्तान के साथ इस नीति को क्यों नहीं अपनाता। यह आरोप समस्या के रूप एवं स्थिति पर पूर्णतः विचार किये बिना लगाया गया है तथा असत्य है। भारत दोहरे स्तर (Double Standard) को न केवल विदेश नीति से वरन् विदेश नीति एवं गृहनीति के बीच से भी पृथक रखना चाहता है। नेहरू ने कहा था कि "हमारी नीतियां, चाहे राष्ट्रीय हों या अन्तराष्ट्रीय, एक स्रोत से निकलती हैं तथा उनका एक ही लक्ष्य है। मूलतः वे दोनों ही शान्तिपूर्ण साधनों का लक्ष्य रखती हैं। वे स्थिर नहीं हैं वरन् राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परिवर्तन चाहती हैं।"[1] भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इतना अधिक सक्रिय

---

1. "Our policies whether national or international, spring from the same source and have the same objective. Basically they both aim at peaceful methods. They are not static policies, they aim at changes, national or international, through peaceful methods."

—*Nehru*, The Hindu, 27th Dec. 1955.

है तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटारे के लिए बहुत प्रयास करता है; यह नीति अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों की आलोचना का विषय बनती जा रही है।

यह कहा जाता है कि भारत इतना शक्तिशाली देश नहीं है तथा उसकी घरेलू समस्यायें ही इतनी अधिक हैं कि उसे राष्ट्रीय निर्माण पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इस मत का उत्तर देते हुये नेहरू ने कहा था कि हम अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर इतना अधिक ध्यान देते हैं इसका कारण यह नहीं है कि हम इनमें रुचि लेते हैं और न ही यह कि हम विश्व केन्द्र में कोई महत्वपूर्ण स्थान बनाना चाहते हैं किन्तु इसका कारण यह है कि विश्व की ये घटनायें हमारे कार्यों में हस्तक्षेप करती हैं या कर सकती हैं। भारत की विदेश नीति उसकी घरेलू नीति का सच्चे अर्थों में प्रतिबिम्ब है। भारत के सामने आर्थिक विकास का एक लम्बा मार्ग है। नये कारखाने, नये बांध, बिजली-घर और विश्वविद्यालय खोल कर देश के निवासियों की प्रसन्नता की मात्रा में वृद्धि करना इसके व्यवहार की प्रेरणा है। भारत अपने विकास कार्यक्रमों के संचालन में किसी भी राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था का दास नहीं है। समाज के समाजवादी ढांचे का उसका लक्ष्य एक प्रकार से समाजवाद एवं पूंजीवाद के बीच का एक समन्वयात्मक मार्ग है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि उसकी विदेश नीति दोनों गुटों के भेदों एवं शीत युद्ध की तीव्रता को घटाने का प्रयास करती है।

भारत के आर्थिक विकास की योजना की सफलताओं की पहली शर्त है विश्व में शान्ति एवं सहयोगपूर्ण वातावरण; अतः भारत की विदेश नीति का मूल मन्त्र विश्व शान्ति है। यह स्वतंत्रता की नीति है। नेहरू के शब्दों में "हम स्वतन्त्र हैं क्योंकि हम बिना किसी दबाव या लालच के स्वतन्त्रापूर्वक निर्णय ले सकते हैं। विश्व के देशों का बहुमत शीतयुद्ध के किसी भी गुट के प्रभाव के नीचे था।"[1] संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति भारत का दृष्टिकोण आशापूर्ण है। इसका मत है कि संघ का सदस्य बन कर एक देश अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं संगठन के लिए राष्ट्रीय सम्प्रभुता को कुछ सीमित करता है। भारत की विदेश नीति को प्रायः आदर्शवादी कह कर राष्ट्रीय हितों के प्रति उदासीन सिद्ध किया जाता है। किन्तु असल में यह अन्य देशों की भांति अपने राष्ट्रीय हित पर ही आधारित है तथा दूसरे देशों के हितों से और विश्वशान्ति के लक्ष्य से अपने आप सामन्जस्य करके चलती है। भारतीय विदेश नीति के प्रमुख निर्माता प्रधानमन्त्री नेहरू ने एक बार कहा था कि एक नीति को अपनी परम्परागत आधारभूमि तथा देश के स्वभाव का सदैव

---

1. "We are free because we take decision independently of any pressure or threat or temptation. The majority of countries in the world were under the influence of either blocs of the 'cold war."

—*Nehru*, The Hindu, 9 July, 1954.

ध्यान रखना चाहिए। यह आदर्शवादी होनी चाहिए, कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहनी चाहिए किन्तु इसके साथ ही यह यथार्थ भी होनी चाहिए। यदि हम आदर्शवादी नहीं हैं तो एक निम्नतर अवसरवादी बन जायेगी और यदि यह यथार्थ नहीं है तो यह एक दुःसाहसपूर्ण तथा प्रभावहीन नीति रह जायेगी। भारत की विदेश नीतियों का अब तक की प्राप्तियों का श्रेय आदर्श एवं यथार्थ के उचित एवं संतुलित समन्वय को ही दिया जा सकता है।

विदेश नीति के लक्ष्य
(The Objectives of India's Foreign Policy)

सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रायः प्रत्येक राष्ट्र यह दावा करता है कि उसकी विदेश नीति के मूल तत्व देश की सम्प्रभु स्वतन्त्रता, साम्राज्यवाद का विरोध, लोगों का आत्मनिर्णय, 'एशिया' एशिया के लिए है, पश्चिमी हस्तक्षेप का विरोध, एशियन तथा अन्य पड़ौसी देशों से भ्रातृत्व, अहस्तक्षेप, शक्ति राजनीति के संघर्ष से अलग रहना, संयुक्त राष्ट्र तथा इसके आदर्शों का समर्थन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि हैं तथा वह देश संसार में समानता, स्वतन्त्रता, शांति, सहयोग, न्याय एवं भ्रातृत्व की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। फिर भी उन देशों के व्यवहार में इन आदर्शों एवं लक्ष्यों की प्रायः हंसी सी उड़ाई जाती है। जहां तक भारत का प्रश्न है वह अब तक इन लक्ष्यों की ओर निरन्तर बढ़ता रहा है क्योंकि यह उसके राष्ट्रीय हित के अनुरूप है। सन् १९५० में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने भारत की विदेश नीति के लक्ष्यों का उल्लेख किया था, ये हैं—किसी बड़ी शक्ति या शक्तियों के गुट के साथ सन्धि किये बिना ही विवादास्पद प्रश्नों पर अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण रख कर शांति की खोज करना, पराधीन लोगों की स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बनाये रखना, जातीय भेदभाव, बीमारी, अभाव और अज्ञान आदि, जो कि संसार की जनता के अधिकांश भाग को घेरे हुए हैं का विनाश करना। विदेश नीति के अब तक के व्यवहार को देख कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत की विदेश नीति जिन लक्ष्यों से संचालित होती है, वे निम्न प्रकार हैं—

१. विश्व में शांति की स्थापना

भारत की विदेश नीति सदैव विश्व-शांति एवं सुरक्षा की ओर ही अग्रसर होती रही है। 'शान्ति' भारत के लिए केवल अपेक्षित आशा ही नहीं वरन् यह गम्भीर आवश्यकता है। युद्ध एवं संघर्ष भारत के आर्थिक विकास को पूरी तरह से रोक देता है। विश्व में शांति को स्थायी बनाना अभी तक तो एक असम्भव कल्पना लगता है किन्तु फिर भी जब तक यह रह सके तब तक लाभ ही है। भारतीय जनसंघ एवं प्रजा समाजवादी दल के तीव्र विरोध एवं कटु आलोचनाओं के बाद भारत सरकार एवं संसद ताशकंद समझौते को मानने तथा अपनी फौजें ५ अगस्त के स्थान पर लौटाने को सहमत हो गयीं। भारत का विश्वास है कि विश्व की सभी समस्यायें शांतिपूर्ण साधनों द्वारा सुलझायी जानी चाहिये, हिंसात्मक साधन किसी समस्या का समाधान नहीं

कर सकते । शांति केवल युद्ध का अभाव ही नहीं वरन् यह जीवन का एवं विचारने तथा कार्य करने का एक तरीका है । यह एक ऐसी मनःस्थिति है जो कि शीत युद्ध के बीच लुप्त हो जाती है । धमकियों के बीच पलने वाली शांति अस्थाई होती है ।

२. उपनिवेशों की जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार

भारत की विदेश नीति इस बात का हर सम्भव प्रयास करती है कि उपनिवेशों में बसने वाले लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त हो सके । भारत का विश्वास है कि जब इन लोगों की इच्छाओं को दबाया जाता है तथा राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को कुचला जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का जन्म होता है क्योंकि यह कार्य मौलिक मानवीय अधिकारों का उल्लंघन है । भारत उपनिवेशवाद को समाप्त करने के पक्ष में है किन्तु ऐसा करने में वह हिंसात्मक साधनों का उपयोग नहीं करना चाहता । भारत समस्याओं को समग्र रूप में देखता है तथा किसी एक समस्या पर अपने आपको केन्द्रित कर अनगिनत समस्यायें पैदा नहीं करना चाहता । प्रधानमन्त्री नेहरू का कहना था कि "उपनिवेशवाद एशिया तथा अफ्रीका के लिए एक बड़ी चुनौती है तथा यह साम्यवाद का मार्ग प्रशस्त करती है । इन दोनों का जन्म योरोप में हुआ है अतः एशिया तथा अफ्रीका के लिए ये विदेशी हैं ।"

३. जातिवाद का विरोध

भारत सभी जातियों को विकास के समान अवसर प्रदान करने का पक्षपाती है । इसका विश्वास है कि विश्व के सभी देशों के निवासियों में एक सी मनुष्यता होती है; उनके बीच जाति, रंग अथवा वर्ग के आधार पर ऊंच-नीच के सम्बन्धों की स्थापना करना अन्यायपूर्ण है । जातिवाद का विरोध भारत के इतिहास का एक स्वाभाविक परिणाम है । जातीय भेदभाव दो कारणों से अनुचित है—प्रथम तो यह मानवता के विरुद्ध है और दूसरे, विश्व में संघर्ष की स्थापना करके शांति और सुरक्षा को खतरे में डालता है । दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के प्रति होने वाला अन्याय असहनीय है किन्तु भारत इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से दूर करना चाहता है, कोई हिंसात्मक साधन अपनाना नहीं चाहता । भारत मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र का प्रबल समर्थक है तथा समस्त विश्व में मूल स्वतन्त्रताओं की स्थापना का समर्थन करता है ।

४. झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा

संसार में झगड़े होते हैं तथा होते रहेंगे ये तो मानव की अपूर्णता के द्योतक हैं किन्तु इनको सुलझाने के शांतिपूर्ण साधन अपनाने चाहिए ताकि विश्व की शांति एवं सुरक्षा खतरे में न पड़ सके । भारत ने अनेक बार राष्ट्रों के आपसी झगड़ों को सुलझाने के शांतिपूर्ण साधनों की सिफारिश की है । इस नीति की आलोचना करते हुये अनेक बार भारत को एक व्यावसायिक मध्यस्थ (Professional mediator) कहा जाता है । क्योंकि भारत असंलग्नता की नीति पर चल रहा है, यह प्रायः सभी राष्ट्रों का मित्र है,

तथा इसकी भौगोलिक एवं राजनैतिक स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि वह दूसरे देशों के आपसी झगड़ों में समझौता कराने में सहयोग कर सकता है तथा ऐसा करना उसका एक उत्तरदायित्व भी बन गया है। भारत ने कोरिया, इन्डोचाइना और अल्जीरिया आदि के विवादों को सुलझाने में सहायता की है। जब इन्डोचाइना का विवाद सामने आया तो भारत का प्रतिनिधि बिना निमंत्रण के ही जेनेवा गया ताकि शांति स्थापना के कार्य में वह भी यथासम्भव सहायता प्रदान कर सके। स्वेज नहर के प्रश्न पर भी भारत ने बहुत महत्वपूर्ण कदम उठाये थे। शांतिपूर्ण समझौता आज के युग की एक प्रमुख आवश्यकता बन गया है क्योंकि अणु-अस्त्रों के इस विश्व में कोई भी बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्र को अपनी शक्ति के बल पर कोई बात स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। पूर्ण युद्ध (Total War) के इस युग में यह पूरी तरह से असम्भव है कि कोई भी बड़ा राष्ट्र शक्ति प्रयोग के फलस्वरूप उत्पन्न खतरों से अपने आपको बचा कर रख सके। हथियारों का प्रयोग विश्व का विनाश कर सकता है अतः यह उपयोगी एवं आवश्यक समझा गया है कि झगड़ों को शांतिपूर्ण साधनों से ही सुलझा लिया जाय।

५. पड़ौसी देशों के साथ मित्रता

भारत की विदेश नीति की एक अन्य विशेषता यह है कि वह एशिया के देशों से तथा अपने अन्य पड़ौसियों से मित्रता का हरसम्भव प्रयास करता है। कभी-कभी मैत्री के इस आवाह्न को बड़ा करारा अनुभव प्राप्त होता है। लाल चीन तथा पाकिस्तान जिनके खुद के स्वार्थ भारत के हितों से टकराते हैं, कभी भी इस देश के मित्र नहीं रह सकते। फिर भी भारत की ओर से तो यही प्रयत्न किया जाता है कि उसके निकटस्थ देशों का सम्बन्ध परस्पर सहयोगपूर्ण तथा शान्ति युक्त रहे। यही कारण है कि उसने पाकिस्तान केसामने अनेक बार युद्ध न करने की सन्धि का प्रस्ताव रखा है तथा ताशकंद समझौते के समय भी इस बात पर जोर दिया है। ताशकंद समझौते से इस बात की आशा की गई थी कि वह इन दोनों देशों को संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों के अनुकूल ही शान्ति से रहने को प्रेरित करेगा। इधर लाल चीन की उत्तेजनात्मक कार्यवाहियों के विरुद्ध भारतीय नेताओं ने अनेक बार शिकायत करते हुए यह अनुरोध किया है कि इन्हें बन्द कर दिया जाय तथा सीमा विवाद को सेना के सहारे नहीं वरन् बातचीत द्वारा तय किया जाय। १६ फरवरी १९६६ को प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने लोकसभा में कहा था कि "अनुकूल परिस्थिति पैदा होने पर भारतवर्ष चीन अथवा अन्य किसी भी राष्ट्र से वार्ता करने को तैयार रहेगा।"

भारत का मत है कि भौगोलिक क्षेत्र एवं जनसंख्या की दृष्टि से एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों का अन्य की तुलना में काफी महत्व होना चाहिए; उसकी आवाज को प्रभावपूर्ण माना जाना चाहिए। भारत ने एशिया के देशों के आर्थिक विकास में यथासम्भव सहयोग दिया है तथा वह उनके हित एवं प्रभाव को बढ़ाने के प्रत्येक अवसर का लाभ उठाता है। जब कभी भी एशिया के लोगों के हितों को ठेस पहुंचायी जाती है तथा उनकी आवाज

को दबाया जाता है तो भारत द्वारा उसका पूरी शक्ति से विरोध किया जाता है। भारत एशिया में है और यहां के निवासी दूसरों की अपेक्षा इसके अधिक निकट हैं। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह पश्चिमी-दक्षिणी तथा पश्चिमी-पूर्वी एशिया की कीली (Pivot) है। अतीत काल में भारतीय संस्कृति ने इन देशों को प्रभावित किया तथा स्वयं भी कई क्षेत्रों में इनसे प्रभावित हुआ था। भारत पर सन् १९६५ में किए गए पाकिस्तानी आक्रमण ने यहां के नेताओं तथा विदेश नीति के धुरन्धरों को यह प्रेरणा दी कि वे स्पष्ट रूप से यह निश्चित जान लें कि कौन-कौन उसके मित्र हैं और कौन मित्र नहीं है। जो देश मित्र हैं उनको और भी घनिष्ट बनाया जाय, जो मित्र नहीं हैं उनको मित्र बनाने का प्रयास किया जाय। मित्रों की खोज इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए भारत के अनेक नेताओं ने एक के बाद अनेक विदेश यात्रायें कीं।

भारत एशिया महाद्वीप के देशों को उनका यथोचित सम्मान एवं महत्व दिलाने में सदैव प्रयत्नशील रहता है। किन्तु वह कभी भी इस महाद्वीप को अन्य महाद्वीप के लोगों से पूर्णतः अलग नहीं रखना चाहता और न ही दूसरों की तुलना में इनको सर्वोच्चता प्रदान करने का पक्षपाती है। वरन् वह एशिया के लोगों को दूसरे महाद्वीपों के लोगों के समान महत्व एवं गौरव दिलाना चाहता है जिससे कि वे एक लम्बे समय से वंचित रखे जा रहे हैं। अफ्रीका-एशिया महाद्वीप के लोगों में संगठन, सहयोग, नव-जागरण लाने की दृष्टि से भारत ने अप्रैल १९५५ में अन्य चार कोलम्बो शक्तियों सहित एक अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन बुलाया था।

६. संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन

भारत संसार में शान्ति एवं सहयोग का समर्थक होने के नाते प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का समर्थन करता है तथा उसके लक्ष्यों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने में अपना पूरा-पूरा सहयोग प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा संसार के राष्ट्रों ने प्रायः उन सभी लक्ष्यों को पाने का संकल्प किया है जो कि भारत की विदेश नीति के लक्ष्य हैं। संघ का प्रमुख उद्देश्य है संसार में शान्ति की स्थापना करके सभी देशों के बीच सहयोग तथा प्रेमपूर्ण सम्बन्धों की रचना करना। यह साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध कर मानव के मूल अधिकार एवं स्वतन्त्रता में विश्वास प्रकट करता है। साथ ही यह झगड़ों को बातचीत एवं अन्य शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा सुलझाने का पक्षपाती है। इन सभी लक्ष्यों के साथ भारतीय विदेश नीति का पूरी तरह से समायोजन हो जाता है। संघ भारत के लिए एक सहारा है तथा उसके राष्ट्रीय हितों की पूर्ति का एक प्रमुख प्रभावशाली एवं न्यायोचित मार्ग है। भारत ने संघ के विभिन्न अङ्गों तथा विशेष संस्थाओं में सक्रिय रूप से भाग लेकर अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। वह संघ के अफ्रीको-एशियाई गुट का एक प्रमुख सदस्य है जिसने संघ के संगठन पर अनेक वैध एवं न्यायपूर्ण विषयों का पूरे जोर से समर्थन किया है। सन् १९५३ में महासभा ने आठवें अधिवेशन के लिए श्रीमती विजय लक्ष्मी

३. राष्ट्रीय हित का साधक

प्रत्येक देश की विदेश नीति का मूल लक्ष्य उसके राष्ट्रीय हित की साधना करना होता है। इसी आधार पर आलोचकों द्वारा प्राय: यह कहा जाता है कि भारत की विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, न्याय आदि आदर्शों पर आधारित है तथा इन आदर्शों की साधना के पीछे वह कई बार अपने राष्ट्रीय हित को भी भुला देती है अथवा उसको गौण बना देती है। इस आलोचना में कुछ सत्यता अवश्य है; यह कथन तथ्यपूर्ण है कि अनेक प्रश्नों पर अपनाया जाने वाला भारत का रुख उसके तात्कालिक हित से प्रेरित नहीं हुआ था किन्तु भारतीय विदेश नीति के संचालकों एवं संस्थापकों ने यह सोचा कि इस प्रकार की नीति का दूरगामी लाभ है। किन्तु व्यवहार में यह आवश्यक नहीं होता कि इन दूरगामी लाभों की प्राप्ति आवश्यक रूप से हो ही जाय क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें एवं परिस्थितियां इस तीव्रता के साथ बदलती हैं कि उनका अनुमान लगाना कठिन हो जाता है; कभी-कभी तो पूर्वाभास भी नहीं हो पाता।

आलोचना के विरोध में यह कहा जाता है कि भारत की विदेश नीति में आदर्श तथा यथार्थ का उचित समन्वय किया गया है। स्वयं नेहरू का विचार था कि हम चाहे कुछ भी नीति निर्धारित करें किन्तु एक देश के विदेशी मामलों को संचालित करने की कला इसी बात में निहित है कि उस देश का सबसे बड़ा लाभ क्या है; यह जाना जाय तथा उसी के अनुसार व्यवहार भी किया जाय। यह आवश्यक भी हो जाता है क्योंकि किसी भी देश की सरकार का यह प्रमुख उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह अपने देश की जनता की भलाई के लिए कार्य करे। यदि वह ऐसा नहीं करती है तो अधिक दिन तक कायम नहीं रह सकती। भारत का प्रमुख राष्ट्रीय हित क्या है? इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने अपना मत प्रकट किया है। फिर भी उनमें कुछ बातों पर एकरूपता पाई जाती है। यह माना जाता है कि देश की स्वतन्त्रता एवं अखण्डता को बनाये रखना इसका प्रमुख एवं प्रथम राष्ट्रीय हित है। यदि देखा जाय तो प्राय: प्रत्येक राष्ट्र इसे अपना हित मान कर ही चलता है। इसके अतिरिक्त भारत अपने प्रजातन्त्र को भी सुरक्षित रखना चाहता है। प्रजातन्त्रात्मक परम्पराओं को सुदृढ़ आर्थिक एवं सामाजिक नींव पर कायम करके देश के निवासियों में समानता और स्वतंत्रता के आदर्शों को एक साथ क्रियान्वित कराना चाहता है। सामाजिक क्षेत्र से जाति प्रथा को निष्कासित किया जा रहा है। भारत में प्रति व्यक्ति की औसत आय बुरी तरह से कम है। सदियों की पराधीनता के बाद बीमारी, अशिक्षा, भेदभाव, गरीबी, खाद्यान्न की कमी, भारी जनसंख्या, बेकारी आदि अनेक अभिशाप स्वतन्त्र भारत को विरासत में प्राप्त हुए हैं। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा यद्यपि इन अभिशापों को बहुत कुछ दूर या कम कर लिया गया है तो अभी बहुत करना शेष है।

ये सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण एवं सद्भावनापूर्ण हैं। अपने अध्ययन को व्यापकता एवं विस्तार के दोष से बचाने के लिए हम भारत के वैदेशिक सम्बन्धों में पाकिस्तान, चीन, अमरीका, सोवियत संघ, राष्ट्रमण्डल, पड़ौसी देश, अफ्रीका महाद्वीप आदि के प्रसंग में देखेंगे। वियतनाम एवं मध्यपूर्वकी समस्या के सम्बन्ध में भारत के प्रयासों पर तथा उसकी अन्य कुछ अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों पर भी विहंगम दृष्टिपात करेंगे।

भारत और पाकिस्तान
(India and Pakistan)

१५ अगस्त, १९४७ ने भारत के दो टुकड़े कर उसके एक भाग को पाकिस्तान के रूप में अलग कर दिया। पाकिस्तान का जन्म साम्प्रदायिक आधार पर हुआ है। दोनों भौगोलिक दृष्टि से जितने नजदीक हैं तथा प्राकृतिक साधन, व्यापार एव उद्योग-धन्धों की दृष्टि से जितने पराश्रित हैं राजनैतिक दृष्टि से दोनों उतनी ही दूर हैं तथा दोनों के हित न केवल भिन्न वरन् एक दूसरे के विरोधी भी हैं। विभाजन के समय से ही ये दोनों देशी रियासतों के प्रश्न पर, सीमा के प्रश्न पर, नहर के पानी के प्रश्न पर एवं अन्य अनेक विषयों पर संघर्षपूर्ण विचार रखते हैं। माइकेल ब्रेचर (Michael Brecher) ने लिखा है कि "भारत और पाकिस्तान स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में अपने थोड़े से इतिहास-काल में भिन्न-भिन्न प्रकार की तीव्रता रखने वाले, घोषणा न किये हुए युद्ध की हालत में रहे हैं।" उनके मतानुसार दोनों देशों के बीच संघर्ष के मूल कारण दो रहे हैं—(१) वह जल्दी जिसमें बंटवारा किया गया था, (२) रियासतों के बंटवारे के भिन्न २ अर्थ जो दोनों देशों द्वारा लगाये गये। इन दोनों ही मूल कारणों से इन देशों के बीच अनेक समस्यायें उत्पन्न हुयीं तथा यहां के निवासियों में मनोवैज्ञानिक संघर्ष बढ़ गया।

काश्मीर को दोनों देशों के संघर्ष का केन्द्रबिन्दु बना लिया गया है। पाकिस्तान एक धार्मिक राज्य है तथा उसका विश्वास है कि उनके धर्म वाले लोग भारत में सुख से नहीं रह सकते चाहे उनको यहां कितनी भी सुविधायें क्यों न प्रदान कर दी जायें। पाकिस्तान और भारत के सम्बन्धों का इतिहास बहुत काला रहा है। अनेकों बार पाकिस्तान ने सीमाओं का उल्लंघन किया है, गोलाबारी की है, गुप्तचर भेजे हैं, कूटनीतिक विशेषाधिकारों को तोड़ कर कई बार भारतीय अफसरों का अपमान किया गया है। भारत इन सभी कार्यवाहियों के प्रति प्रारम्भ में शान्त रहा तथा उनमें बड़े भाई का सा दृष्टिकोण अपनाया। भारत के प्रधान मन्त्री द्वारा पाकिस्तान के विरोध में एक शब्द भी न कहा गया, यहां तक कि काश्मीर घटना पर संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित करने पर भी जोर न दिया। नेहरू ने एक बार कहा था कि "पाकिस्तान के लोगों के साथ उनका भावात्मक झुकाव है; पाकिस्तान द्वारा कुछ भारत विरोधी कार्यवाही करने पर भी वे यह प्रयत्न करेंगे कि दोनों देशों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहें।" कुछ विचारकों के मतानुसार यद्यपि पाकिस्तान और भारत के बीच सदैव शीत युद्ध की स्थिति बनी ही रही है किन्तु फिर भी नेहरू युग में पाकिस्तान के

प्रति भारत की नीति भोलेपन की, मूर्खतापूर्ण, नुकसानदेही, कमजोरी की तथा अस्थिरतापूर्ण रही है।

इस उपमहाद्वीप के दोनों देशों के बीच जो भी विवाद पैदा हुए उनका सृष्टा मूल रूप से पाकिस्तान ही था। पाकिस्तान संयुक्त राज्य अमरीका से सैनिक सहायता प्राप्त करने लगा तथा बगदाद संधि (Baghdad Pact) और सीएटो आदि सैनिक संगठनों का सदस्य बन गया। भारत की उदार, मित्रतापूर्ण एवं शान्तिवादी नीति को पाक नेताओं द्वारा इसकी कमजोरी तथा भय का प्रतीक माना गया। भारत द्वारा किये गये अनाक्रमण सन्धि के प्रस्ताव को कई बार पाकिस्तान द्वारा काश्मीर समस्या की आड़ ले कर ठुकरा दिया गया। भारत तथा पाकिस्तान के बीच पंडित नेहरू के प्रधान-मन्त्रित्व काल में अनेक विवाद खड़े हुए थे। स्वतन्त्र भारत ने पुरानी सरकार के पूरे कर्जे का भार संभाला जिसमें से ३०० करोड़ रुपया पांच साल में पाकिस्तान से लेना था। किन्तु पाकिस्तान ने ऐसा रवैया अपनाया कि इस कर्ज को चुकाने का उसने नाम ही न लिया तथा सैनिक संगठनों में शामिल हो कर अपनी शक्ति को इतना बढ़ाया कि वह अपने उत्तरदायित्वों से मुक्त हो सके।

यही बात नहर के पानी के विवाद पर भी हुई। पाकिस्तान ने निराधार रूप से यह शिकायत की कि भारत विभाजन समझौते के द्वारा स्वीकृत उसके हिस्से के पानी को रोक रहा है। इन दिनों विश्व बैंक के निर्णय के बाद भी पाकिस्तान ने अपनी शेष राशि भारत को अदा नहीं की जो कुल मिला कर एक करोड़ रुपये से भी ज्यादा होती थी और भारत फिर भी बातचीत कर रहा था। सन् १९५७-५८ में सिंचाई मन्त्री ने पाकिस्तानी आदेशों के प्रति कड़ा रुख अपनाया किन्तु इस बार भी प्रधान मन्त्री श्री नेहरू की अहिंसात्मक एवं शान्तिप्रिय नीति के कारण पाकिस्तान को प्रोत्साहन मिला।

चाहता है आदि । पाकिस्तानी सरकार एवं लोगों के इस प्रचार का विश्व के देशों पर भारी प्रभाव पड़ा, वे सोचने लगे कि पाकिस्तान की भारत से रक्षा करना जरूरी है । अनेक देश यह समझने लगे कि भारत ने काश्मीर को दबा रखा है । शरणार्थियों की सम्पत्ति के प्रश्न पर भी दोनों देशों के बीच बहुत मन-मुटाव बढ़ा । पाकिस्तान ने इस प्रश्न को टाले ही रखा क्योंकि भारत की अपेक्षा उसे अधिक अदा करना था । कई बार मिटिंग की गई किन्तु मामले को सुलझाया न जा सका । काश्मीर के प्रश्न पर भारत को प्रारम्भ से ही पाकिस्तान के धोखे, झूठ तथा सशस्त्र आक्रमणात्मक कार्यवाहियों का सामना करना पड़ा है । प्रारम्भ में जब भारतीय सेनायें काश्मीर में बलवा करने वालों को समाप्त करने गयीं तो वहां उसने पाकिस्तानी सेना को पाया । दोनों देशों की सेनाओं में युद्ध छिड़ गया । संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास से लड़ाई बन्द हुई तो पाकिस्तान काश्मीर के $\frac{2}{5}$ भाग पर अवैध रूप से अधिकार किये ही रहा । काश्मीर भारत का अभिन्न अङ्ग है, वह उसका अन्य राज्यों के समान ही एक राज्य है । पाकिस्तान द्वारा वहां आत्मनिर्णय कराने की लगातार मांग की जा रही है ताकि वह धर्म की दुहाई दे कर, बहुसंख्यक मुसलमानों की धार्मिक प्रवृत्तियों को उभाड़ कर तथा अन्य अनुचित साधनों को अपनाकर काश्मीर को अपने अधिकार में ला सके । किन्तु किसी सम्प्रभु राष्ट्र के एक भाग पर आत्मनिर्णय कराने की मांग करना बेहूदा एवं असंगत है ।

काश्मीर के विवाद का लाभ उठा कर पश्चिमी शक्तियों को इस महाद्वीप में अपना हित साधने का अवसर प्राप्त हो गया है । संयुक्त राज्य अमरीका की साम्यवाद विरोधी नीतियों के व्यवहार के लिए पाकिस्तान का बड़ा महत्व है । यहां वह अपने सैनिक अड्डे स्थापित कर सके तथा अन्य सुविधायें प्राप्त कर सके, इस कारण से काश्मीर प्रश्न पर उसकी नीतियां भारत विरोधी रही हैं । जहां तक ब्रिटेन का प्रश्न है पाकिस्तान का निर्माण ही ब्रिटिश कूटनीति की उपज है ताकि वह भारत को विभाजित एवं कमजोर ही बनाये रखे और इस उपमहाद्वीप पर अपना पांव जमाये रखे । प्रारम्भ से ही ब्रिटिश सरकार ने हिन्दु राष्ट्रवादियों को संदेह की नजर से देखा है तथा मुसलमानों पर विश्वास करके उनमें साम्प्रदायिकता की भावना को उभाड़ा है ।

कच्छ के रन का विवाद

स्व. श्री लालबहादुर शास्त्री ने अभी शासन कार्य सम्भाला ही था कि कच्छ के रन में पाकिस्तानी आक्रमण से अशान्ति फैल गई । कच्छ की खाड़ी का क्षेत्रफल ८४०० वर्ग मील है । सन् १९६५ की गर्मियों में इस क्षेत्र की शान्ति को भंग करते हुए पाकिस्तान ने गुजरात के एक बड़े क्षेत्र पर अपने अधिकार का दावा किया । कहा गया कि भारत ने इस क्षेत्र पर अवैध रूप से अधिकार कर रखा है । पाकिस्तान का यह दावा देखा जाए तो ऐतिहासिक एवं वैधानिक दोनों ही कसौटियों पर गलत साबित होता है । भारत और पाकिस्तान के बीच जब अन्तर्राष्ट्रीय सीमा निर्धारित कर दी गई तो पाकिस्तान

के इस दावे का प्रश्न ही नहीं उठता। पाकिस्तान ने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए तर्क दिए कि सन् १८६२ में सिन्ध के राजा ने कच्छ पर आक्रमण किया था, सन् १८७५ में सिन्ध के अधिकारियों ने यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि कच्छ-सिन्ध सीमा धर्मशाला पर स्थित थी जो कि कच्छ की खाड़ी के मध्य में है। कच्छ का रन या तो थल से घिरा हुआ समुद्र माना जाना चाहिये अथवा यह सीमा की एक झील है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सीमा इसके मध्य में होनी चाहिए।

इन सभी दावों के लिए भारत ने जो उत्तर प्रस्तुत किया उसमें यह कहा गया कि सिन्ध के राजा का कच्छ के रन पर कोई अधिकार रहा हो, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सिन्ध के राजा द्वारा इस क्षेत्र में जो सेना नियुक्त की गई थी उसको उसके लड़के द्वारा वापस बुला लिया गया। ग्रेट ब्रिटेन की सर्वोच्च शक्ति ने कच्छ के रन को हमेशा कच्छ के अधिकार क्षेत्र में माना है। इसके अतिरिक्त सन् १९०६ में भारत सरकार के विदेशी विभाग ने अन्तिम रूप से निर्णय किया था कि कच्छ का रन थल से घिरा हुआ समुद्र अथवा झील न होकर एक दलदली प्रदेश है। इसलिए यहां तथा-कथित अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू नहीं किया जा सकता है।

जिस समय भारत का विभाजन किया गया उस समय कच्छ के रन का उत्तरी भाग कच्छ के राजा के अधिकार क्षेत्र में था। कच्छ सिन्ध के जिलाधीश द्वारा ब्रिटिश प्रान्त, सिन्ध एवं देशी रियासत कच्छ के बीच सीमा निर्धारित की जाती थी। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा न होने के कारण इसका विभाजन अन्तर्राष्ट्रीय सीमा की भांति नहीं हुआ। १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व नक्शों में जो सीमा रेखा दिखाई गई है वह विवाद में परे है।

२४ मार्च, १९६५ को पाकिस्तान ने कच्छ सीमा पर बड़े स्तर पर आक्रमण किया। यह आक्रमण सर्व प्रथम कच्छ की खाड़ी में कंजरकोट से ३० मील पूर्व की ओर ०°८४ पर किया गया। इसमें पाकिस्तान द्वारा भारत की सरदार विगकोट (Sardar Vigkot) तथा छाड़ बेट (Chhadbet) नामक चौकियों पर बम बरसाये गए। भारत ने इस आक्रमण का मुकाबला किया किन्तु साथ ही इस युद्ध को बढ़ने से रोकने के लिए पाकिस्तान के सम्मुख अनेक प्रस्ताव भी रखे। इन प्रस्तावों को मानने की बजाय पाकिस्तान ने २५ अप्रैल तक युद्ध जारी रखा।

भारत-पाकिस्तान के बीच होने वाली इस लड़ाई को रोकने के लिए ब्रिटेन ने युद्ध विराम का प्रस्ताव रखा। पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसका कहना था कि दोनों देश सम्पूर्ण संघर्ष क्षेत्र से अपनी सेनाएँ हटा लें। इसके विपरीत भारत युद्ध से पूर्व की स्थिति स्थापित करने के पक्ष में था। बाद में ग्रेट ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव रखा कि कच्छ के रन में जनवरी, १९६५ की स्थिति कायम की जाए और दोनों राज्यों के सशस्त्र दल अपने-अपने पूर्व स्थान पर आ जायें। बहुत दिनों तक समझौता वार्तायें चलती रहीं और ३० जून, १९६५ को भारत पाकिस्तान के बीच युद्ध विराम

संधि पर समझौता किया गया। इस समझौते के अनुसार पाकिस्तान अपनी सेनायें अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के उत्तर में ले गया किन्तु डिंग सूरज-कंजरकोट मार्ग पर दोनों देशों को अपना पुलिस दल रखने का अधिकार मिल गया। पाकिस्तान ने अपनी सेनायें वियारवेट, ०.८४ तथा कंजरकोट से हटालीं और भारत को सरदार विगकोट की चौकियां खाली करनी पड़ी। यह कहा गया कि यदि दोनों देशों के गस्ती दलों का आमना-सामना हो जाए तो वे एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। कच्छ के रन सम्बन्धी विवाद पर अन्तिम समझौते का कार्य एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग को सौंपा गया है। इस समझौते का जनसंघ तथा प्रजा समाजवादी, आदि दलों द्वारा विरोध किया गया और इसे भारत के राष्ट्रीय हित तथा सम्मान के विरुद्ध बताया गया।

कश्मीर की समस्या

स्वतन्त्रता के बाद कश्मीर में पाकिस्तान का अनाधिकृत आक्रमण हुआ। इसके परिणामस्वरूप तत्कालीन कश्मीर के नरेश श्री हरीसिंह ने २४ अक्टूबर, १९४७ को भारत सरकार से सहायता मांगी और २६ अक्टूबर, १९४७ को प्रवेश पत्र पर हस्ताक्षर करके कश्मीर को भारत संघ में मिला दिया। उस समय महाराजा ने यह लिखा था कि "मैं भारत सरकार की सहायता चाहते हुए प्रवेश पत्रक (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करके स्वीकृति के लिए भेज रहा हूं। इसके सिवाय मेरे पास दूसरा विकल्प यही हो सकता है कि अपने राज्य और प्रजा को आततायी लुटेरों के हाथ बेच दूं। इस लूट के आधार पर संसार का कोई भी राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। मैं आपकी सरकार से शीघ्र सैनिक सहायता भेजने के लिए निवेदन करता हूं।"[1] इस प्रार्थना पर भारत का पहला सैनिक दस्ता २७ अक्टूबर, १९४७ को कश्मीर पहुंचा। इसके यहां के आक्रमणकारियों को दबा लिया गया। पाकिस्तान से कहा गया कि वह आक्रामकों को वापस बुला ले किन्तु पाकिस्तानी गवर्नर श्री जिन्ना यही कहते रहे कि कबाइली आक्रमण के सम्बन्ध में पाकिस्तान की कोई जिम्मेदारी नहीं है और इसके बारे में कुछ नहीं कर सकता। किन्तु बाद में यह स्पष्ट हो गया कि इस सब के पीछे पाकिस्तान का सक्रिय हाथ था। कश्मीर के विवाद को ३१ दिसम्बर, १९४७ को भारत के प्रतिनिधि श्री पी. पी. पिल्लाई द्वारा सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत किया गया। इस पर सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पास किया कि स्थिति की सही जांच के लिए तीन व्यक्तियों का एक आयोग बनाया जाए और यह जम्मू कश्मीर में जाकर सही स्थिति ज्ञात करके परिषद को प्रतिवेदन दे और स्थिति में सुधार लाने के लिए आवश्यक कार्यवाही भी करे। यह आयोग ७ जुलाई, १९४८ को कराची पहुंचा और तथ्यपूर्ण जानकारी के आधार पर लड़ाई में पाकिस्तानी सेनाओं का हाथ बटाया।

२५ फरवरी, १९५० को सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पास करके आस्ट्रेलिया के न्यायाधीश सर ओवन डिक्सन को पांच महीने के भीतर कश्मीर

---

1. Vital Speeches in Kashmir, Special Issue P. 80.

में दोनों दलों की सेनायें हटवाने और मध्यस्थ के रूप में समस्या को सुलझाने का काम सौंपा गया। पर्याप्त प्रयास के बाद १५ सितम्बर, १९५० को डिक्सन ने अपनी असफलता का प्रतिवेदन सुरक्षा परिषद के सम्मुख प्रस्तुत किया। बाद में सुरक्षा परिषद द्वारा मार्च, १९५१ में इस समस्या को सुलझाने के लिए नया मध्यस्थ नियुक्त करने का प्रस्ताव किया और ३० अप्रैल को अमरीका के फ्रैंक ग्राह्म को इस पद पर नियुक्त किया गया। २७ मार्च, १९५३ को ग्राह्म ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में डिक्सन की तरह भारत और पाकिस्तान के मध्य सीधी संधि-वार्ता द्वारा समस्या को सुलझाने का प्रस्ताव रखा। इस सुझाव के अनुसार दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों ने जून-जुलाई १९५३ में कराची और नई दिल्ली में कश्मीर के सम्बन्ध में वार्तालाप किया। ३० जून, १९५५ को पाकिस्तान बगदाद संधि में सम्मिलित हो गया और उसे अमरीका से प्रत्यक्ष रूप में सैनिक सहायता मिलने लगी। इस सहायता के सम्बन्ध में स्व. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "अमरीका द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सहायता से आक्रमणात्मक परिस्थितियों के उत्पन्न होने की सम्भावना है।" पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने कहा कि यह सैनिक सहायता कश्मीर समस्या को सुलझाने में सहायक सिद्ध होगी। यह इस बात का सूचक था कि उसका मन किस प्रकार सोचता था और वह सैनिक सहायता का क्या प्रयोग करना चाहता था।

कर उसके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए तैयार नहीं है।

अक्टूबर, १९६२ में चीन के आक्रमण के बाद पश्चिमी देशों द्वारा भारत को जो सैनिक सहायता प्रदान की गई उसका पाकिस्तान ने विरोध किया। ऐसी स्थिति में ग्रेट-ब्रिटेन ने यह उचित समझा कि दोनों देशों का यह विवाद तय हो जाए। फलतः २८ नवम्बर, १९६२ को भारत व पाकिस्तान की सरकारों ने एक संयुक्त विज्ञप्ति में यह कहा कि दोनों देश वार्ता द्वारा कश्मीर समस्या का हल निकालने का प्रयास करेंगे। यह वार्ता पहले मन्त्रियों के स्तर पर प्रारम्भ होगी और यथोचित समय पर नेहरू तथा अय्यूब के बीच बातचीत की व्यवस्था की जाएगी। २१ दिसम्बर, १९६२ को वार्ता का पहला दौर प्रारम्भ हुआ। इस वार्ता के कुछ ही घन्टे पूर्व पाकिस्तान ने यह घोषणा की कि उसने चीन के साथ सैद्धान्तिक रूप से सिकियांग और आजाद कश्मीर के बीच सीमा निर्धारण के बारे में समझौता कर लिया है। इस समझौते द्वारा पाकिस्तान ने भारतीय कश्मीर का २००० वर्गमील का क्षेत्र चीन को दे दिया। पाकिस्तान के विरोध पूर्ण कार्यों के बाद भी भारत ने वार्ता में भाग लिया। दोनों देशों के बीच इस वार्ता के ६ दौर सम्पन्न हुए किन्तु पाकिस्तान की हठधर्मी के कारण कोई समझौता नहीं हो सका और वह अनवरत रूप से भारत के विरुद्ध विषवमन करता रहा।

कश्मीर का विलय पूर्ण रूप से वैधानिक है। स्व. श्री नेहरू के कथनानुसार यह पूर्णतः भारतीय स्वतन्त्रता कानून के अनुरूप है। यह बिल्कुल उसी तरह है जिस प्रकार कि अन्य रियासतें भारत के साथ मिलीं। दूसरे, भारत का कहना है कि पाकिस्तान आक्रमणकारी होने के नाते कश्मीर में कोई अधिकार नहीं रखता। सर ओवन डिक्सन ने भी अपने प्रतिवेदन में यह बताया कि जब पाकिस्तान के सैनिक जत्थों ने ५ मई, १९४८ को कश्मीर की सीमा में प्रवेश किया तो वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन किया। तीसरे, पाकिस्तान ने १५ जनवरी, १९४८ के सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव का उल्लंघन किया जिसमें कि पाकिस्तान से यथास्थिति बनाए रखने के लिए कहा गया था। पाकिस्तान ने UNCIP की उपस्थिति में ही आजाद कश्मीर पर कब्जा कर लिया। चौथे, मध्यस्थता और पंचनिर्णय का इस प्रश्न पर कोई सवाल ही नहीं उठता क्योंकि कश्मीर भारत का अंग हो चुका है और कोई भी देश अपनी सम्प्रभुता और अखण्डता पर आंच नहीं आने देना चाहता। भूतपूर्व रक्षा मंत्री श्री कृष्णामेनन के अनुसार 'भारत एक संघ राज्य है और इसमें मिलने के बाद इकाइयों को इसमें रहना पड़ता है। हमारे संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है कि इसकी इकाइयां संघ से अलग हो सकें।"[1]

पाकिस्तान द्वारा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की दुहाई दे कर काश्मीर में जो जनमत संग्रह कराने की मांग की जाती है भारत को कई कारणों से अमान्य है। प्रथम, १३ अगस्त, १९४८ का जो प्रस्ताव काश्मीर में जनमत संग्रह की मांग करता है उसके तीन भाग हैं—युद्धविराम विसैन्यीकरण तथा जनमत संग्रह। जब तक पूर्व दो मांगों को पूरा नहीं किया जाता तब तक तीसरे को कैसे किया जा सकता है। पाकिस्तान की सेनायें जब तक तथाकथित आजाद काश्मीर से बाहर नहीं जातीं तब तक जनमत संग्रह के प्रस्ताव को पास हुए १९ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और तब से अब तक परिस्थितियां पर्याप्त बदल चुकी हैं। इतने पुराने दायित्व को पूर्ण कराने के लिए किसी देश को बाध्य नहीं किया जा सकता। तीसरे, आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का प्रयोग राज्यों को टुकड़ों में बांटने के लिए नहीं किया जा सकता। कोई भी देश अपने किसी भाग को उसमें जनमत संग्रह कराके अलग कराने के लिए तैयार नहीं होगा। चौथे, जो पाकिस्तान १९ वर्षों के काल में अपने राज्य की जनता को लोकतंत्रात्मक अधिकार नहीं दे सका वह काश्मीर के लोगों के आत्मनिर्णय अधिकार की किस मुंह से दुहाई देता है। सुरक्षा परिषद में भारत के प्रतिनिधि श्री चक्रवर्ती ने कहा था कि "यह अच्छा व्यंग है कि जो सरकार अपनी जनता के प्रजातन्त्रात्मक अधिकारों व मताधिकार को अस्वीकार करती है वह अपने पड़ौसी देश के लोगों के लिए आत्मनिर्णय का

---

1. "We are a federation; and the units that accede to federation stay in once they have acceded. There is no provision in our constitution, there is no contemplation in our constitution for the secession."

—Menon's Speech in Security Council on 23rd Jan., 1957.

समर्थन करती है।"[1] पांचवें, आत्मनिर्णय का प्रयोग अव्यवहारिक है क्योंकि यह सारे देश में अशान्ति फैला देगा तथा भारत में वही स्थिति पैदा हो सकती है जो कि विभाजन के समय हुई थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ काश्मीर समस्या का हल ढूंढने में असमर्थ रहा है। कुछ राष्ट्रों के स्वार्थपूर्ण तथा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण के कारण इसने भारत-पाक सम्बन्धों को सुधारने के बजाय बिगाड़ने का ही कार्य किया है। सुरक्षा परिषद के वादविवाद ने समस्या को सुलझाने की अपेक्षा दोनों देशों के बीच शीत युद्ध को बढ़ावा दिया है। असल में यह समस्या पश्चिमी कूटनीति में उलझ गई है।

सन् १९६५ का पाकिस्तानी आक्रमण

कच्छ समझौते की अभी स्याही भी नहीं सूख पाई थी कि पाकिस्तान ने काश्मीर में बलवा मचाने के लिए एक चाल खेली और इसके लिए ५ अगस्त, १९६५ को काश्मीर की सीमाओं में सशस्त्र घुसपैठिये भेजे जिनकी संख्या अनुमानतः ३ हजार से लेकर ५ हजार तक थी। सारा कार्यक्रम योजनाबद्ध था। काश्मीर में पहुंच कर इन घुसपैठियों को हिंसात्मक विद्रोह प्रारम्भ करना था। आशा थी कि कश्मीरी मुसलमान भी इनकी सहायता करेंगे और उधर पाकिस्तान भी इनके पीठ के पीछे मौजूद था ही। घुसपैठियों का काम था संचार-साधनों का ध्वंस करना, कारखानों की तोड़-फोड़, असुरक्षा की स्थिति पैदा कर देना।[2]

पाकिस्तान इस पूरे कार्यक्रम में अज्ञात रहना चाहता था ताकि वह विश्व से कह सके कि आतंक और दमन से हारकर काश्मीर के मुसलमानों ने क्रान्ति द्वारा अपने आपको स्वतन्त्र कर लिया है। पाकिस्तान रेडियो ने यह घोषणा भी कर दी। किन्तु भारत की सुरक्षा सेनाओं की सजगता एवं काश्मीर के निवासियों के सहयोग के कारण पाक की नापाक योजना बुरी तरह से असफल हो गई। पाकिस्तान ने अब सीधे आक्रमण करने प्रारम्भ किये। १ सितम्बर, १९६५ को छम्ब के इलाके में पाकिस्तानी फौजों ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार किया। यह संघर्ष बढ़ता चला गया। पाकिस्तानी

---

1. "It is ironic that a government that has denied the democratic rights and sufferage to its own people, should advocate self-determination for the people of a neighbouring country."

—Vital Speeches, P. 871.

2. 'The hostilities in Kashmir began with an infiltration of gourrilo's troops reenuted as a matter of fact from the Pakistan Army though they were in different uniforms. The purpose of gurrillos was to arouse population and to liberate Moslem Kashmir."

—*Walter Lippman*, Indian Express, 7th Oct. 65

अन्तर्गत अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए अपने पारस्परिक विवाद को सुलझाने के लिए शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे। इसके स्थान पर वे शांतिपूर्ण तरीकों को अपनायेंगे।

२. दोनों देशों की सेनायें ५ अगस्त, १९६५ से पहले की स्थिति पर लौट जायेंगी। यह कार्य २५ फरवरी, १९६६ तक पूरा हो जायेगा। इसके अतिरिक्त दोनों पक्ष युद्ध-विराम की शर्तों का दृढ़ता के साथ पालन करेंगे।

३. दोनों देश यह स्वीकार करते हैं कि वे एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करेंगे।

४. दोनों देश यह स्वीकार करते हैं कि उनके उच्च आयुक्त अपने-अपने स्थान पर लौट जायें तथा दोनों देशों के बीच सामान्य कूटनीतिक सम्बन्ध फिर से स्थापित हो जायें।

५. दोनों देश एक दूसरे के युद्ध बन्दियों को स्वदेश भेज दें।

६. दोनों देशों के बीच व्यापार तथा आर्थिक सम्बन्ध फिर से स्थापित हो जायें।

७. दोनों देश एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार को प्रोत्साहित न करें, वे ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन दें जिससे कि मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने में सहायता प्राप्त हो सके।

८. युद्ध के दौरान एक देश की सम्पत्ति जो दूसरे देश द्वारा जब्त की गई है उसे वापिस लौटा दिया जाये।

९. घोषणा के अन्तर्गत दोनों देशों के संयुक्त आयोग नियुक्त किये जायेंगे जिनके द्वारा शेष समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयास किया जायेगा।

१०. दोनों देशों की यह इच्छा है कि समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए दोनों देशों के नेताओं का शिखर सम्मेलन भी होता रहेगा।

ताशकन्द समझौते का साम्यवादी चीन एवं पाकिस्तान के उग्र वर्ग को छोड़ कर सभी के द्वारा स्वागत किया गया। इस समझौते की सफलता से सोवियत रूस का सम्मान विश्व राजनीति में पर्याप्त ऊंचा हो गया। यह साम्यवादी चीन तथा पश्चिमी देशों की कूटनीति पर उसकी विजय का परिचायक माना गया।

भारत सरकार के कुछ आलोचकों ने ताशकन्द घोषणा का विरोध किया। किन्तु यह विरोध उतना व्यापक व प्रभावशील नहीं रहा जितना कि इसे बताया गया। एक केबिनेट मंत्री के त्यागपत्र दे देने पर भी मंत्रिमण्डल के भीतर ताशकन्द घोषणा का विरोध इतना प्रभावहीन था कि राष्ट्रीय कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन में इसका प्रसंग ही नहीं छिड़ा। प्रजा समाजवादी दल एवं जनसंघ ने इस प्रश्न पर भारत सरकार की नीति का विरोध किया। प्रजा समाजवादी दल इतना महत्वपूर्ण नहीं है और जनसंघ का प्रभाव केवल उत्तरी भारत तक ही सीमित है। विरोधी दलों में स्वतन्त्र पार्टी तथा

वामपंथी एवं दक्षिणपंथी साम्यवादियों ने ताशकन्द घोषणा का समर्थन किया। जनमत के मुख्य अङ्गों द्वारा भी इसका समर्थन किया गया। समाचार पत्रों ने इ से उचित बताया।

१० फरवरी, १९६६ को कांग्रेस की विषय चयन समिति की बैठक (जयपुर) में भाषण करते हुए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा कि "ताशकन्द घोषणा-पत्र भारत व पाकिस्तान के बीच रिश्ते के लिए एक नया रास्ता है तथा नई बुनियाद है। यह एक तरह से भारत की पाकिस्तान के साथ युद्ध न करो सन्धि करने की इच्छा की पूर्ति करता है। यद्यपि यह घोषणा कोई बहुत बड़ा दस्तावेज नहीं है। इसका महत्व इसी में है कि यह भारत व पाकिस्तान के बीच युद्ध के कारणों को दूर करने का प्रथम प्रयास है तथा पुरानी समस्या पर नये सिरे से विचार करने के लिए भी प्रथम पग है।" इसी बैठक में ताशकन्द समझौते से सम्बन्धित प्रस्ताव पेश करते हुए श्री मोरारजी देसाई ने कहा कि "ताशकन्द समझौते से दो पड़ौसियों के बीच मैत्रीपूर्ण भावना की पृष्ठभूमि तैयार हुई है। यह समझौता भारत की विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने की परम्परागत नीति के अनुकूल है।" रक्षा मन्त्री श्री चौहान ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और कहा कि "यह घोषणा-पत्र किसी समस्या विशेष और खास कर काश्मीर समस्या के समाधान के लिए नहीं है। ताशकन्द घोषणा-पत्र से दोनों के बीच चली आ रही अमैत्रीपूर्ण स्थिति का चक्र अब विपरीत दिशा में घूम गया है।"

कांग्रेस महासमिति की बैठक में महामन्त्री द्वारा १० फरवरी को प्रस्तुत रिपोर्ट में कहा गया कि यह घोषणा भारत-पाक सम्बन्धों में नये युग का सूत्रपात करती है तथा तटस्थता एवं विश्व शांति अभी भी भारत की विदेश नीति के मूल आधार हैं। श्रीमती इन्दिरा गांधी को जो राजनीतिक स्थिति विरासत में प्राप्त हुई है वह भारत व पाकिस्तान के बीच शांति के प्रयासों का वातावरण तैयार करने की थी। शास्त्री जब प्रधानमन्त्री बने तो परिस्थितियां ऐसी थीं कि उन्हें युद्ध भूमि में अपनी कुशलता का प्रयोग करना पड़ा; अब इन्दिरा गांधी को शांति के लिए लड़ाई लड़नी थी।

ताशकन्द घोषणा के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं—प्रथम है दोनों देशों के बीच फौजी अलगाव। इसके लिए समझौते के अनुसार दोनों देशों की सेनायें ५ अगस्त की स्थिति पर आ जायेंगी। दूसरा है दोनों देशों के बीच आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक मेल-मिलाप स्थापित करना। पाकिस्तानी सेना के कमान्डर जनरल मूसा २१ जनवरी, १९६६ को दिल्ली आये। भारतीय सेनाध्यक्ष जनरल चौधरी के साथ उनकी वार्ता के दौरान युद्ध विराम रेखा से फौजों को हटाये जाने के ब्यौरों पर विचार किया गया। २५ जनवरी से दोनों पक्षों ने हटना प्रारम्भ किया तथा २५ फरवरी को भारतीय सेनाओं ने हाजी-पीर-टिथवाल क्षेत्र के लगभग १८० वर्ग मील की भूमि को खाली करके सेनाओं की वापसी के कार्य को सम्पन्न किया। सीमाओं पर तनाव बहुत कम हो गया है। भारतीय सेनायें पाकिस्तान की सम्पत्ति को ब्यौरेवार रूप से

वापिस कर रही हैं; पीछे आने से पूर्व मस्जिदों को साफ किया जा रहा है तथा अज्ञात सैनिकों की मजारों पर फूल-मालायें चढ़ाई जा रही हैं। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि दोनों देशों के बीच के सम्बन्धों को इतना दृढ़ बना दिया जाय कि तनाव की स्थिति पूरी तरह से समाप्त हो जाय; क्योंकि दोनों देश अब यह जान चुके हैं कि शांति का उनके लिए कितना महत्व है। यही कारण है कि ताशकन्द घोषणा के बाद इस अल्पकाल में ही इस महाद्वीप के राजनैतिक वातावरण में काफी सुधार हुआ है। यह चीज शत्रुतापूर्ण प्रचार को बन्द करने पर आपसी समझौते की कारगरता के बाद में पिछले चन्द दिनों में दिल्ली और रावलपिण्डी में जारी किये गये अधिकारिक बयानों से स्पष्ट हो जाता है। प्रेस कान्फ्रेन्स में दोनों देशों के प्रतिनिधि-मन्डलों के प्रवक्ताओं ने वार्ता के बारे में कहा था कि ताशकन्द बैठक में प्रगति इन्चों में मापी गई थी किन्तु इस मीटिंग ने अन्त में दिखलाया कि किस प्रकार ये 'इन्च' लम्बी राह बन गये जिसे इस बैठक में भाग लेने वालों ने तय किया। यह नीति एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका में करोड़ों लोगों की नजरों में इन दोनों देशों के सम्मान को बढ़ाने में सहायक बनी है। इस घोषणा ने यह सिद्ध कर दिया है कि कूटनीतिक विजय अक्लमन्दी तथा धीरज से प्राप्त होती है नापाक बमों तथा आणविक शक्ति से नहीं। वाल्टर लिपमेन लिखते हैं कि "ताशकन्द में जो कुछ हुआ उसके कारण दुनियाँ बेहतर हो गई है। विश्व के अनेक देशों को उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिये 'ताशकन्द वार्ता' एक आदर्श प्रस्तुत करती है।"

ताशकन्द घोषणा पर कुछ राष्ट्रवादी तत्वों का अविश्वास है तथा वे इसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं। जनसंघ एवं प्रजा समाजवादी दल के नेता एकमत से यह शंका प्रकट करते हैं कि भारत सरकार ने सम्भवतः पाकिस्तान के साथ कोई गुप्त समझौता कर लिया है। ५ अगस्त की सीमा तक सैनिकों की वापसी उस समझौते का एक कदम है। यह समझौता भारत की संप्रभुता के खिलाफ है। भारत के वीर जवानों के शहीदी रक्त की बे-इज्जती है तथा संसद में प्रधानमन्त्री एवं सरकार के प्रवक्ताओं द्वारा जनता को दिये गये आश्वासनों के विपरीत है। हाजीपीर से सेनाओं की वापसी इन विचारकों के मत में देश की सुरक्षा के लिए भारी खतरा है। संयुक्त समाजवादी नेता डा० राममनोहर लोहिया ने ताशकन्द घोषणा की आलोचना करते हुए कहा था कि इससे स्थायी शांति कायम नहीं की जा सकती। इस प्रकार देश में कांग्रेस, साम्यवादी दल, स्वतन्त्र पार्टी तथा अन्य गैर-राजनैतिक संस्थायें जैसे—भारत सेवक समाज, सर्वोदय व खादी ग्रामोद्योग समाज आदि ताशकन्द घोषणा का समर्थन करते हैं एवं जनसंघ, प्रजा समाजवादी और संयुक्त समाजवादी दल इस घोषणा का विरोध करते हैं। फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस घोषणा ने देश को राहत प्रदान की है ताकि वह अपनी खाद्य समस्या एवं आर्थिक विकास की ओर ध्यान दे सके। इसके अतिरिक्त जैसा कि स्वर्गीय शास्त्री कहा करते थे कोई भी देश हमेशा लड़ाई करता नहीं रह सकता। लड़ाई को तो एक दिन बन्द होना ही था। इस दृष्टि से ताशकंद समझौता महत्वपूर्ण है क्योंकि वह सामंजस्य के साथ सद्भावनापूर्ण वातावरण तैयार करने में भी सहायक बनता है।

ताशकन्द-घोषणा की क्रियान्विति का एक काला पक्ष भी है जो कि धीरे-धीरे गहरा होता चला गया। सेनाओं की आपसी के बाद से यद्यपि व्यापारिक, संचार एवं अन्य क्षेत्रों में थोड़ी बहुत प्रगति की गई है तथा दोनों देशों के बीच सम्बन्ध अच्छा बनाने की ओर कदम उठाये गये हैं किन्तु पाकिस्तान का रुख धीरे-धीरे कड़ा होता चला गया। रावलपिण्डी में मंत्री स्तर पर की गई बातें असफल रहीं। यह समझा जाने लगा कि पाकिस्तान ताशकन्द समझौते को केवल एक भावना मात्र मानता है तथा उसकी कीमत उसकी नजर में केवल तभी हो सकती है जबकि वह उसे काश्मीर हड़पने में सहायता कर सके। भारत ने युद्ध काल में जो पाकिस्तानी सम्पत्ति अपने अधिकार में की थी वह लौटा दी गई है किन्तु पाकिस्तान ने अभी तक लगभग एक अरब रुपये के मूल्य की सम्पत्ति को नहीं लौटाया है। इस बात के कई प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि पाकिस्तान द्वारा नागा उपद्रवियों तथा मिजो पहाड़ी के विद्रोहियों को पूरी सहायता देकर प्रोत्साहित किया जा रहा है। पूर्वी पाकिस्तान में इन विद्रोहियों को प्रशिक्षण प्रदान किया जा रहा है। हाल ही के समाचारों के अनुसार पाकिस्तान ने भारत की सीमा पर सैनिक शक्ति का जमाव कर रखा है तथा ऐसी सम्भावना होने लगी है कि किसी भी समय अगस्त १९६५ की घटनाओं की पुनरावृत्ति हो सकती है। अनेक बातों

पाकिस्तान की तोतारटन्त

हिटलर यह कहा करता था कि एक झूठ को आप बार-बार दुहराइये तो वह सत्य बन जायेगा। यह कथन अत्यन्त व्यावहारिक एवं अनुभव पर आधारित है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति मार्शल अय्यूब खां तथा उनके नेतृत्व में पाकिस्तान प्रसिद्ध तानाशाह हिटलर के इस मूलमंत्र को अपनाने का पूरा-पूरा प्रयास कर रहा है। जब भी कभी भारतवर्ष ने अपने इस निकट के पड़ौसी से मित्रता बढ़ाने का प्रयास किया तभी उसे निराशा प्राप्त हुई। हर बार पाकिस्तान द्वारा कश्मीर का अडङ्गा बीच में लगा दिया जाता है। उसका कहना है कि सबसे पहले उसे भारत का यह भू भाग सौंप दिया जाये, उसके बाद ही वह किसी प्रकार की वार्ता करने के बारे में सोचेगा। दूसरी ओर भारत का मत है कि कश्मीर उसका एक अङ्ग है और उस पर वह किसी प्रकार की बात नहीं करना चाहता। फिर भी पाकिस्तान की रट कायम है।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खां ने रूस, फ्रांस, रूमानिया और तुर्की का दौरा करते समय जहां भी मौका मिला कश्मीर के सवाल का जिक्र किया और अतिथि देश को यह समझाने की कोशिश की कि भारत के साथ पाकिस्तान का असली झगड़ा कश्मीर पर है, भारत इस सवाल को हल करना नहीं चाहता और अगर झगड़ा बना रहा तो भारत और पाकिस्तान के बीच कभी शांति नहीं हो सकती।

कहा जा सकता है कि पाकिस्तान के पास कश्मीर की चर्चा करने के अलावा और कुछ कहने को नहीं। यह पाकिस्तानी नेताओं की कमजोरी हो सकती है और देश की भीतरी राजनीति को अपने मनोनुकूल चलाने की आवश्यकता का भी परिणाम, किन्तु इतना स्पष्ट है कि पाकिस्तान ने कश्मीर के सवाल को दुनियां के दिमाग से उतरने नहीं दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपने राष्ट्रीय हितों को गति और मोड़ देने के लिए भी पाकिस्तान ने कश्मीर की कुञ्जी का बड़ी सफलता के साथ उपयोग किया है।

साल का समय निकल चुका है। इस अवधि में विश्व मंच पर कई स्तरों पर ऐसे नेता आ गये हैं, जिन्हें बीस साल पूर्व की घटनाओं और कानूनी स्थिति की पूरी जानकारी नहीं। इस सवाल में उनकी इतनी दिलचस्पी भी नहीं कि वे बीस साल के रिकार्ड का अध्ययन करें। वे समस्या में दिलचस्पी रखने वाले या उससे सम्बद्ध राष्ट्रों के नेताओं, प्रतिनिधियों या उनके मित्रों की राय जान करके ही अपनी राय कायम करने की कोशिश करते हैं। ऐसे नेताओं के लिए पाकिस्तान की तोतारटन्त कर्णकटु, प्रतीत नहीं हुई। पाकिस्तान भी यह समझता है कि तोतारटन्त की आदत बुरी हो सकती है, किन्तु उसे इस आदत का लाभ मिला है। बीस साल में लगातार एक ही बात सुनते जो ऊब चुके हैं, पाकिस्तान उनकी अधिक परवाह नहीं करता, क्योंकि उसे संतोष है कि उसने सहानुभूति, सहायता और समर्थन के कई नये क्षेत्र खोज निकाले हैं। कई देशों ने अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अपने विचार बदले हैं। कई देश यह समझ कर कि यह सवाल पाकिस्तान की जिन्दगी और मौत का सवाल है, बीच का मार्ग अपनाने को राजी हो गये हैं और कुछ स्थिति को बिगड़ने से बचाने के खयाल से तटस्थ रहना पसंद करते हैं।

स्थिति भारत के प्रतिकूल होती जा रही है, ऐसी बात नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति संयम और धैर्य की नीति अपनाने की बात कहने वाले बहुत से राष्ट्र भारत के पक्ष को अब अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं। ऐसे राष्ट्रों का बहुमत है और वे पाकिस्तान के हमलावर इरादों पर शक भी करने लगे हैं। पाकिस्तान भी इसे समझ रहा है और इसीलिए वह कई बार विरोधी दिशाओं में भागता नजर आता है।

फिर भी कुछ तथ्य ऐसे हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। तोतारटन्त बुरी हो सकती है, किन्तु अपने पक्ष और समझौते की प्राथमिक आवश्यकताओं की चर्चा न करना अदम पैरवी में मुकदमा खारिज हो जाने की स्थिति को निमंत्रण देने के समान है।

पश्चिमी एशिया के सवाल को हल करने के लिए भारत की ओर से बार-बार इस पर बल दिया जाता है कि हमलावर को हमले का लाभ नहीं मिलना चाहिए और ४ जून की स्थिति कायम होनी चाहिए। लेकिन, कश्मीर के मामले में इस बात को दोहराना उचित नहीं समझा जाता। १९४७ के पाकिस्तानी हमले और हमलावर द्वारा जबरन दबाये गये क्षेत्र को एक ऐसा सत्य मान लिया गया है, जिसका उल्लंघन नहीं हो सकता। शांति के हित में यह जरूरी है कि युद्ध विराम रेखा का आदर हो। भारत जो शिकायत लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ में गया था, समय ने उस पर धूल डाल दी है। लेकिन पाकिस्तान अपनी फाइलों पर बल जमाने नहीं देता। भारत बिना शर्त बातचीत करने की अपनी तत्परता दोहराता है। भारत की यह बात ही पाकिस्तान को यह कहने का मौका देती है कि वह कश्मीर के मामले में भारत के बराबर का दावेदार है। एक बार यह दावा स्थापित हो जाने के बाद यदि कुछ और आगे बढ़ कर नये-नये दावे करने का साहस करे तो अस्वाभाविक नहीं।

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और उपप्रधानमन्त्री श्री देसाई यह कह चुके हैं कि कश्मीर किसी विवाद और बातचीत का विषय नहीं, किन अपनी ही ढिलाई से और तोतारटन्त की आदत न होने के कारण देश के भीतर कुछ लोग ऐसी बातों को सरकार पर दक्षिण पंथियों के बढ़ते दवाव का संकेत मानते हैं और देश से बाहर पाकिस्तान को यह प्रचार करने का मौका मिलता है कि भारत अब समझौता-वार्ता से भी इनकार करता है। ऐसा जान पडता है कि भारत अपनी ही नीति के दलदल में फंसता जा रहा है। देश को इससे उभारने की जरूरत है।

भारत और साम्यवादी चीन
[India and Communist China]

भारत के निकट का एक अन्य पड़ोसी साम्यवादी चीन है जिसकी वर्तमान नीतियों को देख कर यदि उसे आस्तीन का सांप कह दिया जाये तो कोई गलती नहीं होगी। प्रारम्भ में भारत व चीन के सम्बन्ध पर्याप्त घनिष्ट तथा मैत्रीपूर्ण थे। सन् १९४९ में जब वहां साम्यवादी शासन का प्रादुर्भाव हुआ तो भारत ने उसका बीसवीं शताब्दी के इतिहास की एक महान् घटना कह कर स्वागत किया। सन् १९५० के कोरिया संघर्ष के समय भारत ने समझौते के प्रयासों में चीनी दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा। अन्य अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समय भी भारत ने चीन के साथ अपनी सहानुभूति रखी। संयुक्त राष्ट्र संघ में लाल चीन का प्रवेश कराने के लिए भारत ने जो उत्साह दिखाया वह सोवियत रूस के उत्साह को भी कभी-कभी गौण बना देता है। भारत के प्रधानमन्त्री श्री नेहरू 'Discovery of India' लिखते समय ही चीन की सभ्यता एवं संस्कृति से इतने प्रभावित थे कि कई बार उन्होंने इसे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का पूरक भी कह दिया था। उनका विश्वास था कि "चीन की जनता के साथ हमारा बन्धु-भाव बढ़ रहा है। मैंने उस महान् देश के लोगों में शक्ति, उत्साह, कार्यशीलता और परिश्रम के लक्षण देखे हैं; भारत को चीन से बहुत कुछ सीखना है।"

२० अप्रेल १९५४ को भारत और चीन में व्यापार सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ जिसके द्वारा यह मान लिया गया कि तिब्बत चीन का ही एक प्रदेश है। इस समझौते में चीन का लक्ष्य व्यापारिक सुविधायें पाना ही न था वरन् तिब्बत हत्या पर भारत की मान्यता प्राप्त करने के बाद तिब्बत में सब प्रकार के भारतीय सम्बन्धों व हितों को सदा के लिए समाप्त करना था। पंचशील के रूप में तिब्बत की समाधि पर एक सुन्दर व मजबूत मजार बना दिया गया। भारत में इस समझौते को भारत-चीन मैत्री का प्रतीक माना गया। हिन्दी–चीनी भाई-भाई के नारों से भारत भूमि गुन्जित हो उठी। दोनों देशों के बीच शिष्ट-मण्डलों का आदान-प्रदान जोर-शोर से प्रारम्भ हुआ।

पंचशील की आवाज की गून्ज अभी बन्द न हो पाई थी कि चीनी सेनाओं ने घुसपैठ करके चूहों की भांति भारतीय सीमा को कुतरना प्रारम्भ

कर दिया। चीन सरकार ने भी नेपोलियन की आक्रमणकारी नीति को अपना कर १९ जुलाई, १९५४ से ही विरोधी-पत्रों की शृङ्खला का श्रीगणेश कर दिया जिसमें भारतीय सैनिकों पर तिब्बत के 'बूजे' नामक स्थान पर आक्रमण करने का आरोप लगाया गया। भूतपूर्व रक्षा मन्त्री श्री कृष्ण मेनन् ने लिखा है कि "चीन ने हमारे देश एवं जनता से अन्तर्राष्ट्रीय एकता एवं मित्रता के लिए पूरी सेवायें सद्भावनायें प्राप्त की। हमारी अच्छे पड़ौसी की नीति का इस पडौसी ने विश्वासघात के द्वारा जवाब दिया। चीन ने केवल हमारे साथ ही विश्वासघात नहीं किया किन्तु उसने विश्व शान्ति के विरुद्ध एवं एशिया तथा मानव जाति की प्रगति के विरुद्ध विश्वासघात किया है।"[1]

विरोधी दृष्टिकोण का श्री गणेश

कुछ लेखकों का यह मत है कि १९४९ से १९५४ तक भारत के साथ चीन के सम्बन्ध मैत्री पूर्ण लगते ही थे किन्तु वे असल में ऐसे नहीं थे। चीन बहे आरम्भ से ही भारत में क्रान्ति की भूमिकायें बना रहा था। चीन ने सन् १९५०–५१ में इस प्रकार के नक्शे प्रकाशित किए जिनमें कि भारत के लगभग पचास हजार वर्गमील क्षेत्र को चीन का बताया गया। इस समय चीन भारत के साथ मित्रता के ढोंग बनाए रखना चाहता था इसलिए भारत द्वारा नक्शों का विरोध किए जाने पर उसने जवाब दिया कि ये नक्शे चांगकाई शेख की राष्ट्रवादी सरकार के पुराने नक्शों की नकल है। चीन की नई सरकार को इतना समय नहीं मिल सका कि उनमें सुधार कर सके। समय मिलने पर उसने ऐसा करने का आश्वासन दिया। चीन भारत पर बहुत पहले ही आक्रमण करना चाहता था किन्तु तिब्बत की स्थिति उसके मार्ग में बाधा थी। सन् १९५० में जब तिब्बत को चीन का अभिन्न अंग बना लिया गया और अप्रैल १९५४ में भारत द्वारा वहां चीन की सम्प्रभुता को स्वीकार कर लिया गया तो आक्रमण करने में चीन को कोई बाधा नहीं रही। विचारकों का मत है कि यदि भारत तिब्बत को एक अलग राज्य के रूप में बनाए रखने पर जोर देता तो 'तिब्बत' भारत और चीन के बीच में एक अवरोधक राज्य बन जाता और इस प्रकार भारत तथा चीन के बीच सीमा विवाद की समस्या ही पैदा नह होती।[3] नवम्बर, १९५० को महायोगी अरविन्द ने भी यह भविष्यवाणी

---

1. "Inspite of all the good will and services, both in friendship and international solidarity, that China received from our country and our people and inspite of our good neighbourly policy, this neighbour of ours has betrayed us. China has not only betrayed us. but she has also betrayed the cause of world peace and the progress of the peoples of Asia and of mankind."

   —*V K. Krishna Menon*, India and the Chinese Invasion, *1963*, P. 9.

2. H. F. Hudson, London Times, 23rd December, *1962*.

की कि तिब्बत पर माओ का आक्रमण यथासम्भव शीघ्र भारत के लिए एक चुनौती है।[1] इस प्रश्न पर भारत ने चीन का विरोध करना निरर्थक समझा। किन्तु ज्योंही तिब्बत पर उसने चीन की सम्प्रभुता स्वीकार की त्यों ही चीन ने भारत की सीमा का अतिक्रमण प्रारम्भ कर दिया।

भारत और चीन के मध्य २२०० मील तथा भारत के संरक्षित राज्य भूटान और तिब्बत के बीच में ३०० मील लम्बी सीमा है। यह सामान्यतः हिमालय पर्वत माला के उच्चत्तम शिखरों से चलती है और इसका निर्धारण जल विभाजक के भौगोलिक सिद्धान्त (Watershed Principle) के अनुसार है। इसका अर्थ यह है कि हिमालय की सबसे ऊँची पर्वत शृंखला के दक्षिणी भाग जिनका पानी बह कर भारत में आता है वे भारत में हैं तथा जिस उत्तरी भाग का पानी तिब्बत में जाता है वह तिब्बत में है। इनके बीच में आने वाली पर्वतकी चोटियों को दोनों देशों की सीमा माना जा सकता है। इस लम्बी सीमा के तीन भाग हैं-पूर्वी क्षेत्र, मध्यवर्ती क्षेत्र और पश्चिमी क्षेत्र।

भूटान के पूर्व में इस सीमा को मैकमाहन रेखा के नाम से पुकारते हैं। यह सीमा हिमालय पर्वत-माला के ऊंचे शिखरों में होकर गुजरती है जो कि उत्तर में तिब्बत के पठार और दक्षिण में ऊंचे पहाड़ों के बीच प्राकृतिक सीमा बनाते हैं। यह आसाम के उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेश नेफा (NEFA) की उत्तरी सीमा है। मध्यवर्ती क्षेत्र में तिब्बत और भारत के बीच की सीमा पंजाब, हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश के द्वारा बनता है। पश्चिमी क्षेत्र में सिकियांग तथा तिब्बत से लगने वाली सीमा जम्मू तथा कश्मीर को छूती हैं। ग्यारह सौ मील लंबी इस सीमा का दो-तिहाई भाग लद्दाख में है। लद्दाख के द्वारा चीन के मध्य एशिया के सिकियांग को तिब्बत के साथ जोड़ने के लिए अक्साई चिन के पठार में होकर गुजरने वाला एक सुगम मार्ग प्रदान किया जाता है। सामरिक दृष्टि से यह स्थान चीन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि तिब्बत में क्रान्ति होने की दशा में वह इस मार्ग से वहां सेना भेज सकता है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि चीन इस पर अधिकार करना चाहेगा।

उच्चतम पर्वतमाला की जल-विभाजक शिखर-शृङ्खला के भौगोलिक सिद्धान्त का अनुसरण करता है। अधिकांश हिस्सों में से इसे भारतीय तथा चीन सरकारों के बीच होने वाले समझौतों का समर्थन प्राप्त है। भारतीय नक्शों में इन हिस्सों की जो स्थिति बताई गई है, भूगोल, परम्परा और संधियों पर आधारित है; इसलिए उसके सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है।

भारत और चीन के बीच सीमा-विवाद का प्रारम्भ १७ जुलाई, १९५४ के चाउ-एन-लाई के पत्र द्वारा हुआ जिसमें कि उत्तर प्रदेश के बड़होती नामक स्थान पर भारतीय सेना की उपस्थिति का विरोध किया गया। अप्रेल १९५५ के बाद भारतीय सीमा पर चीन की कार्यवाही जोरशोर से प्रारम्भ हुई। चीन ने बड़होती पर अधिकार कर लिया और अपनी सेना की एक टुकड़ी वहां स्थायी रूप से स्थापित कर ली। अप्रेल १९५६ में चीनी सैनिक टुकड़ियों ने दमजान और विलांग प्रदेश में प्रवेश किया। इसी प्रकार शिपकी दर्रा, हुपसंग और खुर्द में भी अनाधिकार प्रवेश किया गया। सन् १९५७ में इन सैनिक टुकड़ियों ने लोहित डिविजन में प्रवेश किया और जुलाई १९५८ में लद्दाख के खुरनाक किले पर अपना कब्जा कर लिया। इसी वर्ष अक्साईचिन के उत्तर में चीन द्वारा एक भारतीय गस्ती दल को बन्दी बना कर उसके साथ बुरा व्यवहार किया गया। इन दिनों चीन ने अक्साईचिन सड़क की रचना की, जब तक भारत ने अपना विरोध पत्र दिया उस समय तक चीनियों की वहां अनेक सैनिक चौकियां कायम हो चुकी थीं।

२३ जनवरी, १९५९ के पत्र में चीनी सरकार ने यह स्पष्ट किया कि भारत और चीन के बीच कभी भी सीमाओं का निर्धारण नहीं हुआ है और तथाकथित सीमायें चीन के विरुद्ध किये गये साम्राज्यवादी षड्यन्त्र का परिणाम मात्र है। चीन ने मैकमाहन रेखा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया और उसे एक परम्परागत सीमा मानने से इन्कार कर दिया।

तिब्बत में होने वाले भीषण मानव संहार से भयभीत हो कर ३१ मार्च, १९५९ को दलाईलामा ने भारत में राजनैतिक शरण ली। इसके परिणामस्वरूप चीन सरकार नाराज हो गई और पंचशील के सिद्धान्तों को उसने अपनी सुविधा के अनुसार अपनाने की घोषणा की। पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर चीन की हरकतें बढ़ती चली गयीं। तिब्बत में भारतीय यात्रियों और व्यापारियों को पर्याप्त कष्ट दिया जाने लगा। चीन ने लौंगजू पर कब्जा कर लिया और लद्दाख में भारतीय पुलिस के सिपाहियों को बन्दी बना लिया। स्पांगुर में चीन की चौकियां बन गयीं। सैनिक गतिविधियों के साथ-साथ चीन के विरोध पत्रों की भाषा अमानवीय और असभ्यतापूर्ण होती चली गई।

२० अक्टूबर, १९५९ को चीन की सेनाओं ने लद्दाख में चालीस मील दक्षिण कोंग के दर्रे में घुस कर नौ भारतीय सिपाहियों को मार डाला और

१० को बन्दी बना कर सीमा के उस पार ले गये। इनके साथ अमानवीय व्यवहार किया गया। भारत के प्रधान मन्त्री द्वारा कड़ा विरोध पत्र दिए जाने पर इन बन्दियों को १४ नवम्बर को छोड़ा गया।

समझौता-वार्ता

५ जनवरी, १९६० को भारतीय प्रधान मन्त्री ने चीनी प्रधान मन्त्री को संधि वार्ता के लिए दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया, जिसे स्वीकार करके चीन के प्रधान मन्त्री चाउ-एन-लाई, उप-प्रधान मन्त्री तथा विदेश मन्त्री चेन भी अन्य अधिकारियों के साथ १९ अप्रैल, १९६० को दिल्ली आए। २० घन्टे तक लगातार वार्ता करने के बाद भी दोनों देश अपने मतभेदों को दूर करने में सफल नहीं हो सके। केवल यह निर्णय लिया गया कि विवाद ग्रस्त सीमान्तों के सम्बन्ध में दोनों सरकारों के अधिकारी ऐतिहासिक तथा अन्य सम्बन्धित तथ्यों को अध्ययन करके अपनी सरकारों को प्रतिवेदन प्रस्तुत करेंगे।

इस निर्णय के आधार पर भारत और चीन के अधिकारियों ने रंगून में तथा अन्य कई सम्मेलनों में अपने-अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण दिए। भारत द्वारा अपनी सीमा की पुष्टि में ६३० प्रमाण प्रस्तुत किए गए, जब कि चीन द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों की संख्या केवल २४५ थी। चीन के प्रमाण तथ्यों पर आधारित नहीं थे। वे सुसम्बद्ध तथा निर्विवाद भी नहीं थे। चीन के पास सन् १९५० से पूर्व छपे सरकारी नक्शे के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। चीन के नक्शे में अनेक गम्भीर गलतियां थीं। दूसरी ओर भारत ने जो प्रमाण प्रस्तुत किए वे तथ्यों पर आधारित, सुसम्बद्ध एवं निर्विवाद थे।

१२ जुलाई, १९६२ को चीनी सेना ने गलवान घाटी की भारतीय पुलिस चौकी पर घेरा डाल दिया। इसी काल में तिब्बत में चीन फौज के १६ डिविजन आक्रमण की तैयारी करने लगे। अब भारत को चेत हुआ और लगभग २५०० वर्ग मील क्षेत्र खो देने के बाद उसने अपनी सीमाओं की रक्षा का भार सेना को सौंपा। पूरे कार्यक्रम पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत पर चीनी आक्रमण एक पूर्व आयोजित कार्य था। इधर-उधर की घटनाओं में भारत का ध्यान उलझा कर चीन तिब्बत में सैनिक तैयारियां करता रहा और आक्रमण के लिए उपयुक्त अवसर ढूंढ़ता रहा। उसे यह अवसर अक्टूबर, १९६२ में प्राप्त हुआ जब कि व्यापक स्तर पर उसने आक्रमण कर दिया।

अक्टूबर १९६२ का आक्रमण

२० अक्टूबर, १९६२ को सशस्त्र चीनी हमले ने पंचशील के सिद्धान्तों की अन्त्येष्टि की। भारत की उत्तरी सीमाओं पर सन् १९५४ में जो चिनगारी छोड़ दी गई थी वह सन् १९५८, ५९, ६०, तथा ६१ में सुलगती रही और ८ सितम्बर, १९६२ को उसमें भयंकर चिनगारियां फूटने लगीं। इस दिन चीन की सेनाओं ने थागला रिज (Thagla Ridge) की अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को पार किया। १० अक्टूबर को चीनी सेनाओं ने पुनः इस क्षेत्र पर

आक्रमण किया। जब भारत सरकार द्वारा विरोध पत्र प्रस्तुत किया गया तो चीन का उत्तर था कि ये स्थान उसकी सीमाओं में आते हैं और चीनी सेना वहां आत्मरक्षा के लिए लड़ रही है।

चीन का आक्रमण कोई अकारण घटना नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारकों एवं लेखकों के मतानुसार इसके लिए उत्तरदायी अनेक कारण थे। कुछ का कहना है कि जब चीन को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निराशायें मिलीं तथा देश में अशान्ति का खतरा हुआ तो उसने भारत पर आक्रमण कर दिया। अन्य के मतानुसार यह आक्रमण चीन की विस्तारवादी नीति का स्वाभाविक परिणाम था। दूसरे लेखक यह मानते हैं कि इस आक्रमण द्वारा चीन एशिया को यह बताना चाहता था कि वह पूर्व का स्वामी है और एशिया से स्वतन्त्र है तथा वह युद्ध को अनिवार्य मानने वाले साम्यवादी जगत का नेता है। मध्य-पूर्व तथा दक्षिणी-पूर्व एशिया के मामलों में अमरीकी सहायक सचिव मि० फिलिप्स टेलबोट के मतानुसार चीनी आक्रमण का लक्ष्य उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश (NEFA) में दबाव डाल कर लद्दाख में सुविधायें प्राप्त करना था। मि० स्टेविवन्स का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैराश्य, आन्तरिक अशान्ति, एशिया में सर्वोच्च स्तर पाने की इच्छा, भारत को नीचा दिखाने की कामना तथा सोवियत संघ को परेशान करने की आकांक्षा, आदि भारत पर चीनी आक्रमण के कुछ कारण थे। सीमा विवाद तो केवल एक बहाना मात्र था, असली कारण तो कुछ और ही थे। मलेशिया के प्रधान मन्त्री टुंकू अब्दुल रहमान के कथनानुसार "चीन ने भारत पर इसलिए आक्रमण किया है क्योंकि वह एशिया में अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं चाहता। चीन ने जब तिब्बत पर अधिकार किया तो हमें मालूम था कि उसके बाद क्या होने वाला है। चीन की आंखें भारत पर थीं और वह भारतीय सीमा के निकट आना चाहता था। भारत पर चीन के आक्रमण से हमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ है क्योंकि हमें पहले ही आशंका थी कि चीन अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है। अब इसके बाद वह क्या करेगा यह केवल खुदा जानता है।" श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित के शब्दों में "भारत की आर्थिक व राजनैतिक प्रगति से चीन को जलन होना स्वाभाविक था। भारत को निर्बल करके साम्यवादी क्रान्ति के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करने में इस आक्रमण को एक उप-क्रम माना जा सकता है।"

मि. के. पी. करुनाकरन, आदि कुछ विचारकों का यह कहना है कि चीन के साथ भारत का जो झगड़ा है वह बहुत कुछ सीमा विवाद है न कि भारत पर आक्रमण करने की चीन की इच्छा का परिणाम। इसलिए यह भारत के हित में रहेगा कि वह चीन से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करे। जब तक तथ्य को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक सामान्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते।[1] यह मत भारतीय जनमत के विरुद्ध है तथा तथ्यों

---

1. "This could be acomplished only by accepting the fact that

बातों को दोहराया गया तथा यह सुझाव रखा गया कि भारत चीन विवाद का अन्त करने के लिए एक अन्य कोलम्बो सम्मेलन का आयोजन हो। इस प्रस्ताव का कोई नतीजा नहीं निकला। इसके बाद चीन की ओर से समझौता-वार्ता के लिए प्रस्ताव आये किन्तु भारत का कहना है कि पहले चीन कोलम्बो प्रस्तावों को स्वीकार करे, उसके बाद ही समझौता-वार्ता की जा सकती है।

विदेशों की प्रतिक्रिया

भारत पर चीनी आक्रमण के समय विश्व के देशों की प्रतिक्रिया भी उल्लेखनीय है। प्रारम्भ में रूस का रुख चीन समर्थक था किन्तु बाद में रूसी पत्रों ने चीन को अपना भाई तथा भारत को अपना मित्र बताकर दोनों के झगड़े को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने का सुझाव दिया। ५ नवम्बर, १९६२ को रूसी पत्र प्रावदा ने लिखा कि "अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा, शान्ति व उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाले कुछ तरुण देशों में से भारत भी एक है।" रूस के साम्यवादी पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य विद्वान बोरिस पेनीमोरिव ने चीन की भारत आक्रमण के लिए आलोचना की। १२ दिसम्बर को खुश्चेव ने कहा था कि "भारत और चीन को अपना विवाद और गलत-फहमियां, अपनी परम्परागत मित्रता के द्वारा सहयोग से निपटानी चाहिए; बहुत पेचीदा समझौता भी युद्ध से कहीं अच्छा होगा।" संयुक्त राज्य अमरीका ने चीन के इस कार्य को नग्न आक्रमण माना। संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका के प्रतिनिधि अदलाई स्टीवेन्सन ने कहा था कि "इस आक्रमण के लिए चीन तीन वर्षों से तैयारियां कर रहा था। यह चीन का नया साम्राज्यवाद है।" संयुक्त राज्य अमरीका ने चीन के आक्रमण का विरोध करने के लिए भारत को शस्त्रास्त्रों की पूरी सहायता भेजी। इस संकट के समय भी अमरीका की ओर से ऐसा कोई प्रयास न किया गया कि भारत अपनी असंलग्नता की नीति को छोड़ दे। इसके विपरीत उपराज्य सचिव एवरल हैरीमेन ने कहा "भारत और पश्चिम के लिए यह अच्छा है कि भारत रूस से अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे।"[1] इसी प्रकार राष्ट्रपति केनेड़ी ने भी कहा था—"हम चाहते हैं कि तटस्थ देशों की स्वतंत्रता की रक्षा हो। इस दृष्टि से हम तटस्थ देशों की उतनी ही सहायता करेंगे जितनी सहायता अपने गुट के देशों की करते हैं।" भारत पर आक्रमण होते ही ब्रिटिश सरकार, विरोधी दल और लगभग सब पत्र-पत्रिकायें भारत को सहायता देने में एकमत हो गयीं। महारानी एलिजावेथ ने ब्रिटिश संसद के नये सत्र का आरम्भ करते हुए कहा था कि भारत पर चीन के आक्रमण से मेरी सरकार को एक धक्का लगा है। अपनी सीमाओं की रक्षा करने के भारतीय निर्णय को पूरा करने के लिए हम पूरी सहायता देंगे।

राष्ट्रमण्डलीय देशों में से केनेड़ा ने बड़े उत्साह एवं सहानुभूति से भारत का समर्थन किया। केनेड़ा के प्रधान मंत्री ने यह आश्वासन दिया कि

---

1. Television Appearance on 9 Dec., 1962, Reported in Boston Herald Dec. 10, 1962.

केनेडा "कामनवेल्थ" के एक सहायोगी मित्र देश को संकट की स्थिति में सब प्रकार की सहयता देगा। भारत पर चानी आक्रमण के समय जिस देश ने घी के दीपक जलाये उनमें पाकिस्तान अग्रगण्य है। उसने भारत को दी जाने वाली सैनिक सहायता का पूरी तरह विरोध किया। नेपाल के हिन्दी पत्र दैनिक नेपाली ने इस रुख का विरोध करते हुए लिखा था कि "पाकिस्तान का व्यवहार उस व्यक्ति की तरह है, जो अपने पड़ौसी के घर आग लगने पर खुशी से तालियां ही नहीं बजाता, बल्कि बिना सोचे कि यह आग उसके घर तक भी पहुंच सकती है–वह उस आग को तेज करने में सहायता भी देता है।" भारत ने भी पूरी तरह से कड़ा रुख अपना लिया। जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "भारतीय सीमा पर चीन के इस दावे को भारत सरकार या कोई भारतीय कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता; इसके परिणाम चाहे कुछ भी हों। ये दावे मानने से पूरे हिमालय का भूगोल ही बदल जाता है और इस प्रकार हमें सारा हिमालय चीन को उपहार रूप में देना पड़ता है। भारत रहे या न रहे, पर ये दावे किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं किये जा सकते।"

भरातीय विदेश नीति के मोड़

चीनी आक्रमण ने भारतीय विदेश नीति के दृष्टिकोण में अनेक मोड़ों की सृष्टि की। प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने कहा था कि "हम अपनी ही कल्पना के संसार में रह रहे हैं। चीन के विश्वासघात से हमें प्रबल धक्का लगा है और हमारी आंखें खुल गई हैं।"[1] देश के नेताओं ने कहा कि भारत चीन की मैत्री पर विश्वास करता था; आक्रमण आकस्मिक हुआ; ऊंची भूमि पर होने से सैनिक दृष्टि से चीन को लाभ रहा और भारत अपनी वास्तविक सैनिक शक्ति से लड़ न पाया। भारतीय संसद ने 'एक-एक इंच भूमि पर से आक्रान्ता को खदेड़ने' की दृढ़ प्रतिज्ञा की। नये सुरक्षा मन्त्री श्री चव्हाण ने यहां तक विश्वास दिलाया कि मराठों की परम्परा के अनुसार वे जब तक चीनी आक्रान्ता को मातृभूमि से बाहर नहीं निकाल देंगे, तब तक वे 'अपने घर' नहीं जायेंगे। चीनी आक्रमण ने भारत की विदेश नीति के समर्थकों का विश्वास डिगा दिया और चारों ओर से यह मांग की जाने लगी कि देश की स्वतन्त्रता व क्षेत्रीय अखण्डता की सुरक्षा के लिए विदेश नीति की यथार्थवादी आधार पर पुनः रचना होनी चाहिए।

चीनी आक्रमण के तुरन्त बाद भारत ने यद्यपि सभी मित्र देशों से सहायता की प्रार्थना की थी किन्तु भारत को वास्तविक सहायता पश्चिमी देशों से ही प्राप्त हुई। साम्यवादी देशों ने भारत की कोई सहायता न की। इन दिनों आचार्य कृपलानी ने कहा था कि भारत पर साम्यवादी गुट के एक सदस्य ने आक्रमण किया है अतः अब हम तटस्थ नहीं रह सकते। दूसरे विचारकों के मतानुसार तटस्थता की आवश्यकता है आत्मनिर्भरता एवं शक्ति

1. World Press Review, Ministry of External Affairs, New Delhi, Nov. 1962

सम्पन्नता । तटस्थता के प्रति भारत का दृष्टिकोण इतना गलत था कि चीनी आक्रमण के समय भारत पश्चिमी देशों से सहायता मांगने में भी हिचकिचाने लगा । यह कहा जाता रहा कि सहायता लेने से भारत की तटस्थता समाप्त हो जायेगी और भारत को पश्चिमी गुट में शामिल समझा जायेगा । चीनी आक्रमण के समय ऐसा प्रतीत होता था कि पश्चिमी देश भारत को रूस से सम्बन्ध तोड़ने का परामर्श देंगे किन्तु आशंका के विपरीत अमरीका ने भारत को परामर्श दिया कि वह अपनी तटस्थ नीति पर ही चलता रहे और रूस के साथ अपने सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बनाये रखे । कुछ भारतीय नेताओं एवं दलों ने पश्चिम के साथ सैनिक गठबन्धन करने का विचार प्रकट किया । उनका तर्क था कि आज तक किसी भी साम्यवादी देश ने पश्चिमी गुट के किसी भी देश पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया तथा किसी भी पश्चिमी शक्ति ने साम्यवादी देश पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया । आरम्भ में भारतीय विदेश नीति ने तटस्थता को अहिंसा से सम्बन्धित कर दिया था तथा सैनिक तैयारी को तटस्थता के लिए घातक समझा था । किन्तु जैसा कि राजन् महाशय का विचार है "भारत-चीन युद्ध में हुई पराजय से एकमात्र महत्वपूर्ण शिक्षा यह मिली कि सुरक्षा व्ययन करके 'कल्याणकारी राज्य' बनाते रहने के कारण ही हम अपनी क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा न कर सके ।"[1] अब यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो चुका था कि वास्तव में तटस्थता की नीति हानिकारक नहीं है, अपितु इस नीति को जिस प्रकार व्यवहार में लाया गया, वह प्रयोग-रीति दोषपूर्ण थी ।

सन् १९६४ में चीन ने अपना अणु बम का परीक्षण किया । इसके प्रति भारत तथा शेष विश्व में भी भारी चिन्ता प्रकट की गयी । अनेक भागों से भारत पर भी अणुबम बनाने का दबाव डाला जाने लगा किन्तु प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि चीन चाहे कुछ भी करे किन्तु भारत कभी भी अणुबम नहीं बनायेगा । बाद में प्रधानमन्त्री श्री शास्त्री तथा अब श्रीमती इन्दिरा गांधी बम न बनाने की अपनी नीति पर पूरी तरह से स्थिर हैं । हाल ही के भारत-पाक युद्ध के समय चीन ने जो रवैया अपनाया वह बड़ा ही विरोधपूर्ण एवं अमैत्री युक्त था । पीकिंग रेडियो ने भारत को साम्राज्यवादी एवं विस्तारवादी कह कर विश्व शांति का दुश्मन बताया तथा पाकिस्तान पर आक्रमण करने वाला बताया । चीन ने पाकिस्तान के साथ अपनी पूरी सहानुभूति रखी तथा समय-समय पर युद्ध को जारी रखने की प्रेरणायें भी प्रदान कीं । चीनी कमाण्डरों द्वारा पाकिस्तानी सैनिकों को गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा दी गई । भारत की शक्ति को विभाजित करने तथा पाकिस्तानी पक्ष को मजबूत करने के लिए लाल चीन ने १७ सितम्बर, १९६५ को भारत को अल्टीमेटम दे दिया जिसमें कहा गया कि भारत ने चीन की ८०० भेड़ें तथा कुछ यार्क चुरा लिये हैं और तीन तिब्बतियों को पकड़ लिया है । इसके अतिरिक्त सिक्किम के पास उसने सामरिक महत्व के ५० स्थान

---

1. M. S. Rajan, International Studies, Chinese Aggression Number Delhi, P. 127

ना लिये हैं, आदि-आदि। इन सब शिकायतों को करते हुए चीन ने जो अल्टीमेटम दिया उसके कारण विश्व के देशों में सनसनी फैल गई किन्तु परिस्थिति पर थोड़ा विचार करने के बाद ही यह अनुमान लगा लिया गया कि चीन इन परिस्थितियों में कुछ भी कर सकने में असमर्थ है। यही हुआ, इस अल्टीमेटम को तीन दिन के लिए और बढ़ा दिया गया तथा बाद में जैसे मनगढ़न्त तर्कों के आधार पर यह लगाया गया था वह वैसी ही मनगढ़न्त कथाओं के द्वारा वापिस ले लिया गया।

पाकिस्तानी युद्ध के समय भी चीन की ओर से उत्तरी सीमा पर अनेक सीमा उल्लंघन होते रहे तथा ये अब भी जारी हैं। ताशकन्द वार्ता को चीन की एक बड़ी कूटनीतिक हार माना जाता है। चीन ने इसका पूरी तरह से विरोध किया है और उसका यह प्रयत्न बना हुआ है कि इस घोषणा का पालन न होने दिया जाय। भारतीय विदेश नीति विश्व-शांति चाहती है। यहां के नेताओं ने बार-बार कहा है तथा अब भी कह रहे हैं कि चीन-भारत सीमा विवाद को वार्ता द्वारा ही तय कर लिया जाय तथा इस प्रकार की वार्ता होने तथा उसे सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसके अनुकूल वातावरण बनाया जाये तथा विरोधी प्रचार के रवैये को बन्द किया जाय।

भूतपूर्व भारतीय विदेश मंत्री श्री एम. सी. छागला ने एक आम सभा में यह कहा था कि भारत चीन के साथ बिना शर्त वार्ता के लिए तैयार है। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बताया कि हम इन्तजार करेंगे और उस समय तक इन्तजार करेंगे जब तक कि चीन अनुकूल रवैया अपना कर वार्ता के लिए तैयार नहीं हो जाता।

नाथूला-संघर्ष

१ सितम्बर, १९६७ को लगभग ६० चीनी टुकड़ियां नाथूला के पार सिक्किम क्षेत्र में आई ताकि वे भारतीय सैनिकों को सीमा सम्बन्धी किले-बन्दी करने से रोक सके और उनको तार न खींचने दें। फलतः भारतीयों को मुकाबला करना पड़ा। चीनियों के द्वारा लगातार यह प्रयास किया जाता रहा है कि वे अपने संचार की लाइनों को नाथूला के पार सिक्किम तक बढ़ा लें। फलतः भारतीय सैनिकों ने सीमा को निश्चित करने के लिए तार खींचना उपयुक्त समझा। ९ तथा १० सितम्बर को चीनी सैनिक एक बड़ी मात्रा में पुनः घुस आये तथा भारतीय सीमा सैनिकों द्वारा चेतावनी दिये जाने पर लौट गये।

दिनांक ११ सितम्बर, १९६७ को चीनियों ने नाथूला के पास सीमा पर गस्त लगाते हुए भारतीय सैनिकों पर राइफलों तथा मशीनगनों से आक्रमण किया। जब भारतीयों ने जवाब में गोली चलाई तो दुश्मन ने तोपों तथा मोर्टार से गोलाबारी की। पूरे दिन यह गोलाबारी जारी रही। चीनियों द्वारा ७६ एम. एम. बन्दूकों द्वारा आक्रमण किया गया जिनकी मार आठ मील तक होती है।

पीकिंग रेडियो ने अपने कारनामों को छिपाते हुए यह घोषणा की कि लगभग ६० भारतीय सैनिक टुकड़ियां सीमा पार करके चीन की सरहद में घुस आई। चीनी सैनिकों ने केवल जवाबी कार्यवाही की। यह एक प्रकार से अपनी करतूत पर पर्दा डालने के लिए एक झूठा प्रचार था।

भारतीय विदेश मंत्रालय ने इस नृशंस आक्रमण के विरुद्ध ११ सितम्बर १९६७ को चीनी दूतावास को एक नोट भेजा जिसमें कि इस आक्रमण के तथ्यों की ओर चीन सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया। इसमें यह कहा गया था कि अगस्त, १९६७ के प्रथम सप्ताह से ही चीनी सैनिक टुकड़ियां समय-समय पर तिब्बत-सिक्किम के बीच की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार करके सिक्किम में घुसपैठ करती रही हैं। इसके अतिरिक्त चीनी सेना ने हल्के हथियारों तथा भारी तोपों के द्वारा सिक्किम प्रदेश में स्थित भारतीय सेना को उत्तेजित किया है। नाथूला क्षेत्र में चीन के सशस्त्र सैनिक सीमा पर भारी संख्या में एकत्रित हो गये तथा उसका अतिक्रमण करने लगे। १७ अगस्त को चीनी टुकड़ियों ने खाइयां खोद लीं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सीमा निर्धारित करने वाले सिक्किम की तरफ के जल-विभाजक तक जाती थीं। जब भारतीय सुरक्षा दल द्वारा उनको चेतावनी दी गई तो ६० चीनी टुकड़ियां सीमा पर आ गईं और चुनौती देने वाली वारदातें करने लगीं। बाद में २० अगस्त, १९६७ को जब भारतीय सैनिक सिक्किम के प्रदेश में तार खींच रहे थे तो हल्की मशीनगन तथा हथगोलों के साथ १२० चीनी सैनिक टुकड़ियां उनके विरुद्ध डट गयीं।

ये उत्तेजनात्मक कार्यवाहियां ६ सितम्बर तक बहुत गम्भीर बन गईं। इस दिन सुबह के समय जब भारतीय गस्तीदल अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के सिक्किम की तरफ नाथूला के दक्षिण की ओर बढ़ रहा था तो सशस्त्र चीनी सैनिकों द्वारा उसे ललकारा गया। इनमें से २० तो सीमा के भीतर भी घुस आये। ७ सितम्बर को जब भारतीय सैनिक भविष्य में होने वाली घुसपैठ को रोकने के लिए तार खींच रहे थे तो पुनः साठ चीनी सैनिक टुकड़ियां सिक्किम के प्रदेश में घुस आईं और वहां बीस मिनट तक रहीं। इन सैनिकों ने नाथूला में स्थित लाउड्स्पीकरों से उत्तेजनात्मक प्रसारण किये। १० सितम्बर को तीन अलग-अलग अवसरों पर चीनी सैनिक सिक्किम की सीमा में घुस आये।

११ सितम्बर १९६७ को चीनी सैनिकों ने सीमा के पार के भारतीय रक्षा दलों पर गोलाबारी शुरू कर दी। इसी प्रकार की उत्तेजनात्मक कार्यवाही चोला में भी की गई। चीन सरकार यह अच्छी तरह जानती है कि सिक्किम तिब्बत सीमा एक सुपरिभाषित अन्तर्राष्ट्रीय सीमा है तथा चीन भी इसे मान्यता देता है। आक्रमण करके चीन सरकार उस क्षेत्र में संघर्ष छेड़ना चाहती है जो कि कभी भी झगड़े का कारण नहीं रहा।

भारत सरकार ने स्थिति को अधिक गम्भीर बनने से रोकने के लिए तथा खिचाव को दूर करने के लिए यह सुझाया कि दोनों ओर से तुरन्त युद्ध विराम हो तथा दोनों ओर के सैनिक कमाण्डर नाथूला में मिलें।

चोला में गोलाबारी

तिब्बत सिक्किम सीमा पर १ अक्टूबर, १९६७ को चीनियों ने पुनः भारतीय सैनिकों पर गोलाबारी शुरू कर दी। यह घटना चोला नामक स्थान पर हुई। यह स्थान नाथूला से साढ़े तीन मील पश्चिमोत्तर में है। नाथूला पर १४ सितम्बर को गोलाबारी बन्द हुई थी, उसके बाद से किसी घटना का समाचार इस क्षेत्र से प्राप्त नहीं हुआ। इस काल में चीनी सेना अपने टूटे बंकर आदि बनने में व्यस्त रही। 'चोला' नाथूला की भांति ही भारतीय सैनिकों के लिए सामरिक दृष्टि से उपयोगी स्थल है, यद्यपि यह दर्रा उतना बड़ा नहीं है जितना कि नाथूला है। चीन की यह गोलाबारी चीन के राष्ट्रीय दिवस के अवसर पर की गई जबकि भारत की ओर से कोई उत्तेजनात्मक कार्य नहीं किया गया था।

चोला में २ अक्टूबर, १९६७ की शाम पांच बजे तक गोलाबारी चलती रही किन्तु बाद में यहां शान्ति रही। गोलाबारी शुरू करने के लिए तथा उत्तेजनात्मक कार्यवाही करने के लिए चीनी ही जिम्मेदार थे और आश्चर्य की बात है कि उन्होंने ही भारत को विरोध-पत्र भेजा है। यह विरोध पत्र पीकिंग में भारतीय प्रभारी अधिकारी श्री राम साठे को दिया गया। इस विरोध पत्र में भारतीय सैनिकों के खिलाफ निराधार आरोप लगाये गये।

चोला में अकारण चीनियों ने जो हमला किया, वह चोला नामक दर्रे के ८०० मीटर पश्चिमोत्तर बिन्दु, १५४५० पर हमारे ठिकाने के बारे में झगड़ा पैदा करने के बाद किया। जब इस ठिकाने पर भारतीय सैनिक ड्यूटी बदल रहे थे, तो चीनियों ने बहस की और उसके बाद हाथापायी होने लगी, जिसमें दोनों ओर के सैनिक हताहत हुए। तभी ठीक-ठीक नाथूला काण्डकी तरह चीनियों ने गोले बरसाने शुरू कर दिये। इनका मुंह-तोड़ जवाब हमारे जवानों ने दिया।

जुलाई १९६७ तक चोला क्षेत्र में सीमा के पार चीन की ओर कोई हलचल नहीं थी और हमारी चौकियों के सामने कोई चीनी चौकियां भी नहीं थीं। पहली बार २९ जुलाई को चीनी क्षेत्र में सैनिकों का आना-जाना और एक चौकी का स्थापित होना दिखाई दिया। धीरे-धीरे २९ जुलाई से लेकर १३ सितम्बर तक चीनियों ने मशीनगनों, रिकायलेस-गनों और मोर्टारों से लैस दो कम्पनी भर सैनिक जमा कर लिये। उनका यह सैनिक जमाव बढ़ता गया और कहीं-कहीं तो चीनी ठिकाने भारतीय ठिकानों से केवल कुछ ही गज दूर दिखाई देने लगे। १७ सितम्बर को चीनियों ने बिंदु १५४५० पर हमारे ठिकाने की तरफ आ कर हमारे सैनिक अफसरों को धमकाया कि यदि वे ये चौकी खाली नहीं करेंगे, तो चीनी गोली चलायेंगे, उसके बाद चीनी सैनिक हमारे ठिकाने के करीब बंकर आदि बनाते रहे और हमारे सैनिक सीमा के अपनी ओर वाकायदा गश्त लगाते रहे।

२ अक्टूबर, १९६७ को भारत सरकार ने एक कड़े विरोध पत्र में

चीन से मांग की कि वह तिब्बत-सिक्किम सीमा पर आक्रामक और उत्तेजक कार्यवाहियां करने से फौरन बाज आय, वर्ना जो भी गम्भीर परिणाम होंगे उनकी जिम्मेदारी चीन पर ही होगी।

विरोध पत्र में चीन को समझा दिया गया कि भारत सिक्किम की सीमा की रक्षा का उत्तरदायी है और उस पर होने वाले आक्रमण को विफल करने के लिए कृतसंकल्प है।

भारत सरकार तिब्बत-सिक्किम सीमा पर चीनी सैनिकों का बार-बार उत्तेजक उपद्रव करना अत्यन्त चिन्ता का विषय मानती है। मांग की गई कि ऐसी कार्यवाहियों से बाज आने का हुक्म चीन तुरन्त अपने सैनिकों को दे।

तिब्बत-सिक्किम सीमा पर ११ सितम्बर को आक्रमण करने के बाद इतनी जल्दी फिर एक और आक्रमण (पहली अक्टूबर को चोला पर) करने का मतलब यही है कि चीन सरकार अविवादास्पद सीमा पर जानबूझ कर तनाव पैदा करनी चाह रही है।

विरोध पत्र में स्पष्ट कर दिया गया कि चीन सरकार को भलीभांति मालूम है कि तिब्बत-सिक्किम सीमान्त सुविदित अन्तर्राष्ट्रीय सीमान्त और इस रूप में चीन द्वारा मान्य हुआ है।

विरोध पत्र में अन्त में यह भी स्मरण दिलाया गया है कि नाथू ला सम्बन्धी घटना के बाद भारत सरकार ने दोनों ओर के सैनिक अधिकारियों की बातचीत का सुझाव दिया था, परन्तु इस रचनात्मक सुझाव को चीन सरकार ने ताक पर रख दिया।

विरोध पत्र में दोबारा ऐसा कोई सुझाव नहीं दिया गया है।

परराष्ट्रमन्त्रालय के एक प्रवक्ता ने बताया कि चोला की घटना के कुछ ही घन्टों के अन्दर पीकिंग में भारतीय राजनयिक प्रतिनिधि श्री राम साठे को चीन सरकार ने बुला कर फिर विरोध पत्र दिया। इसमें संकेत मिलता है कि सारी घटना पूर्व नियोजित थी।

सीमान्त पर निराधार दावे बना कर चीनी सैनिकों की भारतीय सैनिकों से गुथ्थम-गुथ्था होने की घटनायें पहले भी हुई हैं। चोला में पहली अक्टूबर को उन्होंने जो गोलाबारी की वह एक बर्बर और जघन्य कृत्य था क्योंकि चीनी सैनिकों ने उसी समय गोली चलाना शुरू कर दिया जिस समय भारतीय सैनिक उनसे हाथापाई में लगे हुए थे।

चोला पर चीनी हमले से शिक्षा

चोला स्थित भारतीय चौकियों पर चीनी सेना ने पुनः जो गोलाबारी की और जिसके परिणामस्वरूप उभय पक्ष के काफी सैनिक हताहत हुए वह केवल एक स्थानीय संघर्ष मात्र था अथवा चीन के भारत विरोधी व्यापक षड्यन्त्र का एक भाग, यह कह सकना कठिन है। पिछली बार नाथूला में जो संघर्ष हुआ था वह पांच दिन बाद शान्त हो गया था। उस समय चीन की ओर से जिस हवाई हमले की धमकी दी गई थी वह भी कारगर नहीं हुई

थी । हो सकता है कि इस बार भ
जाय, परन्तु उसे केवल स्थानिक
और न ही इस प्रकार उत्तेजित ह
यह संघर्ष एक व्यापक युद्ध का रू

चीन जितना अधिक धोखे
तो इसीसे चलता है कि एक ओर
क्रांति की वर्षगांठ पर आयोजित
और दूसरी ओर सिक्किम की सी
बन्दूकों से हमला बोल दिया । इ
वारदात की याद ताजा हो आत
अफजल बेग ने शिवाजी को आम
कटार भौंकने की कोशिश की थ
कितना ही धूर्त व चालाक क्यों न
पाती हो, पर भारत बेखबर ना
सजग है । उसकी कोई भी हरकत
हो अथवा भारत को तंग करने
हुआ नहीं पकड़ सकती । अभी न
किया ही होगा, चोला के संघर्ष में
भारत शान्तिप्रिय जरूर है और
सैनिक शक्ति भी कम हो, पर उस
प्रकार के हमले से भारत को डरा
के लिए विवश किया जा सकता

चीन जब भी इस प्रकार हम
पर हमलावर होने का आरोप लगा
में उसने ऐसा ही किया था । कहा
की गई और उसकी यह रक्षात्मक
घुस आए । इस बार भी यह कहा
उनकी चौकियों पर गोलाबारी की
लड़ाई लड़नी पड़ी । चीन द्वारा
कि वह उनका कितना ही ढोल
वाला कोई नहीं है । उसके झूठ व
जब नाथूला की लड़ाई में भारत
सेनापतियों की बैठक का प्रस्ताव रद्द
गया । यदि भारत ने हमला किया है
इस बार ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं रखा
यही है कि जब उसके फलदायी होने
जानबूझ कर सीमा पर भड़काने वाल
प्रस्ताव को अपमानित होने देने से क्य

एक बहुत बड़ा सवाल यह है कि

क्या चाहता है ? नाथूला पर जब हमला हुआ था तो प्रधानमन्त्री की ओर से कहा गया था कि यह कोई नया खतरा नहीं है—सीमा पर इस प्रकार का खतरा बना रहता है, परन्तु ऐसा सोच कर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भले ही उस क्षेत्र में सीमा सम्बन्धी कोई विवाद न हो और उसके सम्बन्ध में एक ऐसी सन्धि हो जिससे चीन बंधा हो, परन्तु इससे यह नहीं समझा जा सकता कि सिक्किम के प्रति चीन के इरादे सही ही हैं। उसकी सीमा पर वह जिस भारी संख्या में सेना का जमाव तथा सड़कों, खाइयों और बंकरों आदि के रूप में सैनिक तैयारी कर रहा है उससे न केवल वह किसी दिन बड़े पैमाने पर कार्रवाई करके सिक्किम में घुसने की कोशिश करेगा अपितु यह भी डर है कि वह चुम्बी घाटी के रास्ते असम को भारत से काट देने की कोशिश करे। इस समय उसके हमलों की मार भले ही धीमी हो, परन्तु वह इस प्रकार के हमलों से भारत की शक्ति और संकल्प की टोह ले रहा हो सकता है। कम से कम इससे वह ऐसे स्थानों पर तो जम ही जाना चाहता है जहां से भारत और उसके रक्षित प्रदेशों पर मार करना सरल हो। चोला सिक्किम तिब्बत सीमा पर सबसे ऊंचा दर्रा है। यदि इस प्रकार के सब दर्रों पर उसका कब्जा हो जाय तो उसकी थल आक्रमण की शक्ति बढ़ जाती है।

वह यह भी सोच सकता है कि इस प्रकार के हमलों से भारतीय सेना को पूर्वी क्षेत्र में व्यस्त रखा जा सकता है। इसके दो फायदे उसके दिमाग में हो सकते हैं—एक तो यह कि जब लगातार हमले की तलवार भारत की गर्दन पर लटकी रहेगी तो वह आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से मजबूत नहीं हो सकेगा और दूसरे उससे पाकिस्तान के लिए भारत पर हमला करने की सुविधा रहेगी। कुछ भी हो, परन्तु चीन को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि इससे वह भारत का कोई खास नुकसान कर सकेगा। प्रतिरक्षा क्षेत्रों का यह विश्वास है कि भारत के विरुद्ध कितने ही बड़े पैमाने पर हमला किया जाय पर वह अपनी रक्षा करने में समर्थ है। उधर रक्षामंत्री श्री स्वर्णसिंह यह प्रकट कर चुके हैं कि भारत के जवान किसी दूसरे देश पर हमला नहीं करेंगे, किन्तु अपने देश की प्रभुसत्ता और अखण्डता की रक्षा के लिए वे पूरी ताकत लगा देंगे। आवश्यकता इस बात की है कि प्रधानमंत्री की अपील पर कान देकर जनता भी अपने मतभेद भुला कर उसमें सहयोग दे।

भारत और नेपाल
[India and Nepal]

नेपाल भारत का एक निकटस्थ पड़ौसी है जिसकी भौगोलिक सीमायें एक दूसरे से मिली हुई हैं। स्वर्गीय पण्डित नेहरू के कथनानुसार "एक बालक भी यह जानता है कि भारत से गुजरे बिना कोई भी व्यक्ति नेपाल नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में कोई भी देश का नेपाल के साथ भारत से अधिक घनिष्ट सम्बंध नहीं हो सकता।" दोनों देशों की सीमायें इतनी निकट हैं और यही कारण है कि दोनों के हित भी समरूप ही हैं। श्री नेहरू के ही कथनानुसार "यद्यपि भारत व नेपाल के बीच कोई सैनिक समझौता नहीं किया गया है तो भी

यदि नेपाल पर किसी भी ओर से आक्रमण किया गया तो वह भारत द्वारा सहन नहीं किया जायेगा। नेपाल पर सम्भावित कोई भी आक्रमण भारत की सुरक्षा के लिए खतरा होगा।"

नेपाल में भारत के अनेक हित सन्निहित हैं और इसीलिए वहां की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रगति में भारत पूरी-पूरी रुचि लेता है। जब से तिब्बत पर चीनियों का कब्जा हुआ है तभी से नेपाल की सुरक्षा में भारत की रुचि बढ़ गई है। नेपाल राज्य माओत्से तुङ्ग की विस्तारवादी नीति के लक्ष्यों से परे नहीं है। सन् १९३९ में प्रकाशित चीनी क्रान्ति और चीनी साम्यवादी दल नामक पुस्तक में माओ ने नेपाल को चीन का एक अधिराज्य बताया है जिसे इङ्गलैण्ड ने शक्ति के बल पर अपने अधिकार में कर लिया है।

भारत का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही ऐसा रहा है कि नेपाल में एक लोकप्रिय सरकार हो। यह उदार तथा लोकतन्त्रात्मक रहे। ऐसा होने पर नेपाल एक सबल राष्ट्र बन सकता है। भारत अपने राष्ट्रीय हित एवं सुरक्षा की दृष्टि से नेपाल को एक सबल राज्य देखना चाहता है। प्रारम्भ में नेपाल सरकार भारत के इरादों के प्रति शंकालु रही। उसके बाद नेपाल में पर्याप्त राजनैतिक उथल-पुथल रही। महाराजा त्रिभुवन नारायण शाह का प्रधानमंत्री के साथ मतभेद हो जाने के कारण उन्हें भारत जाना पड़ा। नेपाल में राजाओं का शासन रहा। अनेक समझौते तथा सन्धि वार्ताओं के परिणाम स्वरूप १८ फरवरी, १९५१ को प्रधानमन्त्री श्री मोहन रामशेर जङ्ग बहादुर के नेतृत्व में नये मन्त्री मण्डल ने शपथ ग्रहण की। यह प्रजातन्त्रात्मक परीक्षण कुछ दिन ही चला और असफल हो गया।

१३ मार्च, १९५५ को महाराजा त्रिभुवन नारायण शाह की मृत्यु हो गयी और उनके स्थान पर महेन्द्रवीर विक्रम शाह सिंहासन पर बैठे। इनके शासन काल में टंक प्रसाद आचार्य को मन्त्री मण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया। ये साम्यवादी विचारों से प्रभावित थे फलतः नेपाल चीन की ओर झुकता चला गया तथा यह माना जाने लगा कि नेपाल को चीन से नहीं अपितु भारत से खतरा है।

भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अक्टूबर, १९५६ में नेपाल की यात्रा की तथा दिसम्बर, १९५६ में टंक प्रसाद आचार्य को भारत यात्रा का निमन्त्रण दिया। इस यात्रा के दौरान भारत ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत की नेपाल में न तो कोई क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा है और न ही वह उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहता है। २२ अक्टूबर, १९५६ को डा० राजेन्द्र प्रसाद ने काठमाण्डू में कहा था कि "नेपाल की शान्ति एवं सुरक्षा के लिए कोई भी चुनौती भारत की शान्ति एवं सुरक्षा के लिए भी चुनौती है। तुम्हारे मित्र हमारे मित्र हैं और हमारे मित्र तुम्हारे मित्र हैं।" इन सब प्रयासों के बाद भी भारत व नेपाल के सम्बन्ध सन् १९६१ तक कटुता और

विद्वेषपूर्ण ही चलते रहे। यही कारण है कि चीनी आक्रमण के समय नेपाल ने तटस्थता की नीति अपनायी।

भारत-नेपाल सम्बन्धों में सुधार का श्री गणेश सन् १९६२ में तत्कालीन गृहमन्त्री स्व० श्री लालबहादुर शास्त्री की नेपाल यात्रा से होता है। श्री शास्त्री को अपनी कूटनीतिक कुशलता के कारण नेपाल के अनेक सन्देह दूर करने में पर्याप्त सहायता मिली तथा उन्होंने इस दृष्टि से एक नये अध्याय को प्रारम्भ किया। यह अध्याय बाद में की गई अनेक यात्राओं के परिणामस्वरूप बढ़ता ही गया। नेपाल नरेश तेरह दिन की यात्रा पर भारत आये। इधर डा० राधाकृष्णन् ने नेपाल की यात्रा की। इससे दोनों देशों के बीच के सम्बन्ध गहरे हुए। नेपाल की राष्ट्रीय पंचायत के चेयरमैन श्री सूर्य बहादुर थापा ने तो यहां तक कहा कि जब तक एक भी नेपाली जीवित तब तक नेपाल के रास्ते से किसी भी आक्रमणकारी के लिए भारत पर आक्रमण करना सम्भव नहीं है।

दिसम्बर १९६५ में नेपाल नरेश की भारत यात्रा की समाप्ति के बाद जो संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित हुई उसमें महाराजाधिराज महेन्द्र द्वारा यह स्वीकार किया गया कि "आत्मनिर्णय का सिद्धान्त केवल पराधीन और संरक्षित राज्यों पर ही लागू किया जा सकता है। इसे प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के अभिन्न अङ्गों पर लागू नहीं कर सकते।" इसमें काश्मीर का नाम नहीं लिया गया था किन्तु स्पष्ट है कि इशारा इसी ओर था। प्रधानमन्त्री बनने के बाद श्री सूर्य बहादुर थापा ने मार्च, १९६६ में भारत की यात्रा की। इन सब के बाद दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध पर्याप्त मधुर बने हैं। आवश्यकता है कि इन सम्बन्धों को और भी अधिक दृढ़ करने के लिए दोनों देशों के बीच घनिष्टतर राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना की जायें। काठमाण्डू में भारत के राजदूत श्री मन्नारायण का यह सुझाव था कि नेपाल से होकर भारत की ओर बहने वाली सारी नदियों का पानी और बिजली की शक्ति का दोनों देशों के हित में सदुपयोग करने के लिए एक बृहद योजना तैयार की जाये। भारत द्वारा नेपाल को गंडक बांध योजना में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया जा रहा है।

श्री मोरारजी देसाई की नेपाल यात्रा

२२ अक्टूबर, १९६७ को भारत के उपप्रधानमन्त्री श्री मोरार जी देसाई ने नेपाल की यात्रा की। काठमाण्डू में बोलते हुए उन्होंने यह घोषणा की कि 'भारत' नेपाल को उसके विकास कार्यों में मदद देता रहेगा। उनके कथनानुसार "यद्यपि भारत नेपाल की तुलना में बहुत बड़ा देश है किन्तु हम सभी स्वतन्त्र देशों को उनके क्षेत्रफल या आर्थिक विकास को ध्यान में रखे बिना समानता की दृष्टि से देखते हैं।"

भारतीय उपप्रधानमन्त्री श्री मोरार जी देसाई के सम्मान में आयोजित एक भोज-समारोह में भाषण करते हुए नेपाल के उपप्रधानमन्त्री श्री

कीर्तिनिधि विष्ट ने कहा कि एक मित्र देश होने के नाते नेपाल ने हमेशा ही भारत की उन्नति पर प्रसन्नता व्यक्त की है : उन्होंने नेपाल के विकास में भारत के सहयोग तथा आर्थिक मदद के बारे में भी चर्चा की और कहा कि दोनों देशों के बीच कई क्षेत्रों में सहयोग चल रहा है ।

श्री विष्ट ने कहा कि वे भारत सरकार के इस सहयोगपूर्ण रुख की सराहना करते हैं । आशा है कि श्री देसाई की यात्रा से दोनों देशों के बीच मैत्री सम्बन्ध और दृढ़ होते जायेंगे ।

उन्होंने कहा कि भारत तथा नेपाल के बीच परम्परागत सम्बन्ध है । दोनों के बीच कभी समस्यायें भी उठ सकती हैं, लेकिन वे आपसी चर्चा द्वारा सुलझायी जा सकती हैं ।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी दोनों देशों का इसी प्रकार का समान दृष्टिकोण रहा है । इसका आधार पंचशील है ।

अपनी नेपाल की त्रिदिवसीय सद्भावना यात्रा के समय श्री मोरार जी भाई ने नेपाल के प्रधानमन्त्री श्री सूर्य बहादुर थापा से लगभग डेढ़ घन्टे तक बातचीत की । इस वार्ता में करनाली बिजली परियोजना पर विशेष ध्यान दिया गया । यह परियोजना नेपाल में उत्तरप्रदेश की सीमा पर स्थित है । श्री देसाई की इस यात्रा को नेपाल के दैनिक पत्रों ने प्रमुखता दी । उनकी इस यात्रा को नेपाल और भारत के आपसी सम्बन्ध बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण बताया गया ।

यद्यपि वर्तमान में दोनों देशों के बीच कोई गलतफहमी नहीं है और सम्बन्धों का एक मधुर दौर चल रहा है, किन्तु फिर भी उपप्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने तीन दिन की जो नेपाल यात्रा की है उसके लाभ को कम आंकना एक भूल होगी ।

दो देशों के बीच सम्बन्ध स्थायी और मजबूत रहें इसके लिए यह तो जरूरी है ही कि इस प्रकार की सद्भावना यात्रा का क्रम चलता रहे, साथ ही यह भी आवश्यक है कि उनके बीच एक दूसरे के विकास और समृद्धि के लिए सहयोग का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत हो । यह विस्तार आर्थिक, व्यापारिक और औद्योगिक आदि सभी क्षेत्रों में हो सकता है । साथ ही इस सहयोग का रूप ऐसा होना चाहिए कि किसी को यह न लगे कि दूसरा उसे अपने समकक्ष नहीं रख रहा अथवा अपनी तुलना में उसकी स्थिति का बेजा फायदा उठाने की कोशिश कर रहा है । इतना ही नहीं मैत्री के पारस्परिक सूत्र को दृढ़ करने के लिए विचारों, आदर्शों और सिद्धान्तों में साम्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीति में एकता का भी बहुत अधिक महत्व है । कहना न होगा कि श्री देसाई की यात्रा के बाद जो संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित हुई है, वह इस बात का सबूत है कि इन सब की प्राप्ति में बेहद सफलता मिली है । इसीलिए उपप्रधानमन्त्री ने इसे आश्चर्यजनक उपलब्धि नाम दिया है । उससे न केवल उनके अपने गौरव में वृद्धि होगी अपितु दोनों देश अपने को एक दूसरे के और भी अधिक निकट अनुभव करेंगे ।

विज्ञप्ति में यह लिखा है कि दोनों देशों के उपप्रधानमन्त्री पूर्ण सह-अस्तित्व, गैर गुटबन्दी, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति के सिद्धान्तों का दृढ़ समर्थन करते हैं—दोनों नेता इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि शांतिपूर्ण उपायों द्वारा विवादों को सुलझाया जाय और जितने भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव हों उन्हें स्वतन्त्रता, सर्वप्रभुता, न्याय, समानता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पारस्परिक आदर के सिद्धान्तों के आधार पर हल किया जाय। कोई शक नहीं कि इस प्रकरण में किसी देश विशेष का उल्लेख नहीं है, परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अप्रत्यक्ष रूप से यह चीन पर प्रहार है। श्री देसाई ने अपनी प्रेस-कान्फ्रेंस में यह प्रकट किया है कि चीन के सम्बन्ध में नेपाली नेताओं से उनकी बातचीत हुई है। इसलिए इसका सम्बन्ध उससे भिन्न किसी से नहीं लगाया जा सकता। शायद यह पहला ही मौका है कि जब नेपाल ने चीन की नीति से इस प्रकार मतभेद प्रकट किया है। सब जानते हैं कि चीन सहअस्तित्व में विश्वास नहीं करता और विवादास्पद मुद्दों को शस्त्र बल पर सुलझाना चाहता है—वार्ता से नहीं। नेपाल ने एक पड़ोसी होने के नाते चीन से अपने सम्बन्ध भले ही बनाये रखे हों, परन्तु इस विज्ञप्ति से यह प्रकट है कि चीनी खतरे को वह भारत की तरह ही अनुभव करता है और उसके मुकाबले के लिए वह भारत के पहले से अधिक निकट आ गया है। यह निश्चय ही एक बहुत बड़ी सफलता है और इसके लिए उपप्रधानमन्त्री की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। भारत और नेपाल की जिस प्रकार की भौगोलिक स्थिति है, उसमें दोनों का यह नैकट्य दोनों को ही अधिक शक्तिशाली और आत्मविश्वासी बनाने में सहायक होगा।

जहां तक एक दूसरे के विकास में सहयोग की बात है उपप्रधानमन्त्री यह कह ही चुके थे कि भारत उसके लिए नेपाल को यथाशक्ति सहायता देगा, विज्ञप्ति में यह भी कहा गया है कि माल और तकनीकी ज्ञान दोनों ही दृष्टियों से भारत नेपाल को और अधिक मदद देगा। यद्यपि इस सहायता की मात्रा के सम्बन्ध में विज्ञप्ति मौन है, परन्तु फिर भी यह बात स्पष्ट है कि भारत नेपाल के विकास को अपने हित में समझता है और उसके लिए वह कुछ नहीं उठा रखेगा। इसके लिए अन्य विकासशील देशों के साथ मिल कर विकसित देशों से व्यापार आदि के क्षेत्र में विशेष प्रयत्न पर जो बल उन्होंने दिया है वह भी इस बात को पुष्ट करता है।

इसमें कोई शक नहीं कि उपप्रधानमन्त्री की इस नेपाल यात्रा के बाद दोनों देशों के बीच सम्बन्धों का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ है। विज्ञप्ति में यद्यपि बहुत सी विवादास्पद बातों का उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु सिद्धान्तों में समानता तथा सहयोग के क्षेत्र में विस्तार का जो जिक्र किया गया है वह यह विश्वास जमाने के लिए काफी है कि एक दूसरे की अपनी-अपनी कठिनाइयों के बावजूद वे पारस्परिक हित के लिए बहुत अधिक चिन्तित है। नेपाल भारत की उत्तरी सीमा पर स्थित एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य अवश्य है, परन्तु भारत के साथ उसका यह बढ़ता हुआ सहयोग और

और सद्भावना एक ऐसी उपलब्धि है जिसके महत्व को समझने का जरूरत है।

भारत और सोवियत संघ
[India and Soviet Union]

सोवियत रूस के साथ भारत के सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव आता रहा। यद्यपि भारत और रूस में भिन्न-भिन्न सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रणालियां हैं किन्तु फिर भी दोनों देशों ने अपने हित और विश्व-हित के लिए अनेक क्षेत्रों में परस्पर सहयोग किया है। यह इसलिए सम्भव हो सका कि दोनों देश एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का आदर करते हैं तथा एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते। एक और अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि दोनों देश विश्व शान्ति बनाए रखना चाहते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को युद्ध के जरिये हल करने के विरुद्ध हैं, ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त सीमाओं का आदर करते हैं और बलपूर्वक इन्हें बदलने के पक्ष में नहीं हैं, लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा करना चाहते हैं और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के विरुद्ध हैं। यह स्वाभाविक है कि किसी देश का शासनतंत्र उसकी आवश्यकताओं, ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों, परम्पराओं और आकांक्षाओं पर निर्भर करता है।

दोनों देशों के बीच अनेक समानतायें हैं। सोवियत संघ एक बहुत बड़ा देश है, जो एशिया और यूरोप दोनों पर फैला हुआ है और इसे अन्ध महासागर तथा प्रशान्त महासागर के बीच एक प्रकार का पुल कहा जा सकता है। इसी प्रकार भारत भी एक बहुत बड़ा देश है और जनसंख्या के हिसाब से विश्व में इसका दूसरा स्थान है। भारत भी पश्चिमी एशिया और पूर्वी एशिया के बीच तथा मध्य एशिया और दक्षिणी एशिया के बीच एक प्रकार का सेतु है। सोवियत संघ अनेक जातियों, संस्कृतियों, भाषाओं और धर्मों का सम्मिश्रण है। भारत में रूस से भी अधिक पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों तथा धर्मों का सम्मिश्रण मिलता है। दोनों देश लम्बे समय तक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के शिकार रहे हैं और जान-बूझ कर दोनों देशों को एक दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित नहीं करने दिया गया। सन् १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद दोनों देश एक दूसरे के निकट आए और बीस वर्षों में इनमें इतनी घनिष्टता हो गई जितनी घनिष्टता पैदा करने में अनेक देशों में एक शताब्दी समय लगा। पिछले दस वर्षों में रूस के साथ हमारे व्यापार में दस गुना से अधिक वृद्धि हुई है। दोनों देशों के सैकड़ों छात्र एक दूसरे के यहां उच्च अध्ययन और प्रशिक्षण के लिए आते हैं। सोवियत संघ भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की लगभग चालीस बड़ी योजनाओं को सहायता दे रहा है। किन्तु इससे भी बड़ी बात यह है कि दोनों देश एक दूसरे की समस्याओं को समझते हैं, एक दूसरे के दृष्टिकोणों का आदर करते हैं और दोनों देशों की जनता के हृदय में मित्रता की सच्ची भावना है।

स्व० प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की सन् १९५५ में रूस यात्रा के बाद से भारत और रूस के सदियों पुराने सम्बन्ध अधिकाधिक दृढ़ होते गए। सन् १९६० में दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा शिल्पिक सहयोग सम्बन्धी जो करार हुआ वह इसी भावना का सूचक है। इस करार के अनुसार वार्षिक कार्यक्रम तैयार किए जाते हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की वैज्ञानिक, शैक्षणिक, शिल्पिक, कृषि सम्बन्धी, कला, संस्कृति और स्वास्थ्य सम्बन्धी गतिविधियों का समावेश रहता है। आदान-प्रदान के उक्त छः वार्षिक कार्यक्रम अब तक सफलतापूर्वक चलाए जा चुके हैं। सन् १९६७-६८ और १९६८-६९ का सातवां भारत-रूस सांस्कृतिक और वैज्ञानिक आदान-प्रदान कार्यक्रम अन्तिम रूप से शीघ्र ही मास्को में तैयार किया जाएगा। २० वर्ष से चलने वाले आदान-प्रदान के इन कार्यक्रमों के द्वारा दोनों देशों ने यह अनुमान किया है कि न केवल दोनों देशों की संस्कृति में समानता है बल्कि वे तन्तु भी एक से हैं जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है।

जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है उसे कई प्राचीन परम्पराओं के ताने-बाने में बुना गया है। इसी प्रकार रूस में भी अनेक सांस्कृतिक परम्परायें रही हैं जो एक दूसरे की पूरक हैं। भारत और रूस के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ़ होने का यही मुख्य आधार है। परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के माध्यम से ही दोनों देशों की यह धारणा बनी है कि विज्ञान और तकनीकी की आज जो उन्नति हो रही है और जिस उन्नति में रूस अग्रगण्य है उससे मानवता का तब तक कोई विश्व-हित न होगा जब तक कि वह विश्व युद्ध की विभीषिका से मुक्त न हो जाए और स्थायी शान्ति का कोई सुदृढ़ आधार न बना ले। दोनों देश समय-समय पर इस बात पर जोर देते रहे हैं कि तमाम अन्तर्राष्ट्रीय विवाद चाहे वे क्षेत्रीय अथवा सीमावर्ती झगड़े क्यों न हों, शान्तिपूर्ण बातचीत से सुलझाये जायें तथा शक्ति प्रयोग को जरा भी सहन न किया जाए।

अपनी इस घोषित नीति के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना में प्रमुख सहयोगी के नाते रूस, पाकिस्तान को ताशकन्द में शान्ति वार्ता के लिए तैयार करने में सफल हुआ ताकि युद्ध का अन्त हो और बातचीत से विवाद सुलझाए जा सके। रूस के प्रधान मन्त्री श्री कोसीजिन के प्रयत्नों से ताशकन्द में जो ऐतिहासिक वार्ता हुई उससे भारत-रूस के बीच विद्यमान मैत्री और अधिक दृढ़ हुई। विश्व की अनेक समस्याओं के समाधान में भी भारत और रूस एक दूसरे का सहयोग करते हैं। दोनों ही देशों का उपनिवेशवाद, वियतनाम युद्ध, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, विकसित और विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग, विभिन्न सामाजिक और राजनैतिक प्रणालियों वाले देशों के बीच सहयोग आदि मामलों में समान दृष्टिकोण है।

आर्थिक सहयोग, छात्रों, सिद्धान्तों, अध्यापकों, वैज्ञानिकों, कलाकारों तथा सद्भावना शिष्टमण्डलों के आदान-प्रदान के जरिये भारत-रूस मैत्री निरन्तर दृढ़ हो रही है। दोनों ही देशों का शान्ति-स्थापना और शान्ति-

प्रसार के मामलों में एक ही लक्ष्य है। अतः दोनों ही देश इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ही में नहीं बल्कि इस विश्व संस्था के बाहर भी कन्धे से कन्धा मिला कर कार्य कर रहे हैं।

भारत के महान नेता स्व० श्री लालबहादुर शास्त्री को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए १ अक्टूबर, १९६७ को भारत स्थित रूसी राजदूत श्री एन० एम० पैगोव ने कहा कि "भारत तथा रूस की बढ़ती हुई मैत्री श्री शास्त्री का सबसे बड़ा स्मारक है।" राजदूत ने बताया कि भारत तथा रूस की जिस मैत्री की आधारशिला श्री जवाहरलाल नेहरू ने रखी थी उसे श्री लालबहादुर शास्त्री ने सुदृढ़ किया। यह प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी उन दोनों महापुरुषों द्वारा निर्मित मार्ग को प्रशस्त कर रही हैं। श्री पैगोव ने भारत तथा रूस की पुरानी मैत्री की परिभाषा देते हुए कहा कि इस मैत्री का उद्देश्य दोनों देशों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का बढ़ाना है।

भारत और पूर्वी योरोप के देश
(India and East European Countries)

अक्टूबर १९६७ की मध्यावधि में प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पूर्वी यूरोप के देशों की यात्रा की और वहां भारत के प्रति भावनाओं का अध्ययन एवं अभिवर्धन किया। ११ अक्टूबर को श्रीमती गांधी का बेलग्रेड में भव्य स्वागत किया गया। राष्ट्रपति टीटो के साथ दो दिन तक उन्होंने पश्चिम एशिया, वियतनाम, भारत-यूगोस्लाविया के आपसी सम्बन्ध आदि अनेक विषयों पर वार्ता की। दोनों नेता पश्चिम एशिया की समस्या में अरब क्षेत्र पर से इजरायली कब्जा समाप्त करने पर सहमत थे। दोनों नेता वियतनाम पर अमरीकी बमबारी बन्द करने पर सहमत थे तथा दोनों ने आपसी सहयोग के लिए विचार-विमर्श किया। बेलग्रेड में जब प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के सम्मान में एक सहभोज आयोजित किया गया तो यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा कि मजबूत और आधुनिक भारत का निर्माण विश्व के हित में है। मार्शल टीटो ने भारत की पश्चिम एशिया विषयक नीति की सराहना की। इन्होंने बताया कि संयुक्त अरब गणराज्य पर इजरायल का हमला गुट-निरपेक्षता की नीति पर हमला है। यूगोस्लाविया यात्रा के बाद प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों नेताओं ने इस बात पर बड़ा सन्तोष व्यक्त किया कि प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भारत और यूगोस्लाविया के विचारों में समानता चली आ रही है।

१३ अक्टूबर, १९६७ को श्रीमती गांधी बल्गेरिया पहुंची। वहां उन्होंने बल्गेरिया के प्रधान मन्त्री श्री टी० जीवकोव से वार्ता की। बल्गेरिया में भारतीय दूतावास नहीं है और श्रीमती गांधी ने इस प्रश्न पर भी विचार किया। उन्होंने बताया कि भारत पिछले वर्ष बल्गेरिया में अपने दूतावास स्थापित करना चाहता था किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह ऐसा नहीं कर सका। बातचीत के दौरान दोनों देशों में औद्योगिक सहयोग को बढ़ाने के

लिए एक संयुक्त औद्योगिक आयोग या समिति की स्थापना के प्रश्न पर भी विचार किया गया। मि० जीवकोव का कहना था कि "भारत विश्व में शान्ति के लिए सक्रिय रूप से कार्य कर रहा है। उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ रहे लोगों की सहायता में भारत ने बहुत कुछ किया। भारत की गुट-निरपेक्ष नीति से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसका बड़ा सम्मान है।" १६ अक्टूबर को श्रीमती गांधी रूमानियां के लिए रवाना हो गयीं। रूमानियां एक चीन समर्थक देश है और इसलिए वहां उन्होंने चीनी नीति के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं की। रूमानियां में जार्ज मोररे ने उनका स्वागत किया। रूमानियां की यात्रा के बाद श्रीमती गांधी को यह ज्ञात हुआ कि साम्यवादी देशों में पहले जिस रूमानियां को चीन का पिछलग्गू माना जाता था उसका झुकाव बाद में रूस की ओर हो गया और अब स्थिति यह है कि रूमानियां ने रूस और चीन के बीच तटस्थ भाव की सी नीति अपना रखी है। बुखारेस्ट से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चीन के प्रति अब भी स्नेह भाव उसके हृदय में बना हुआ है। किन्तु अब यह तथ्य दिन की रोशनी की तरह स्पष्ट है कि चीन अपने किसी भी पड़ौसी अथवा गुट-निरपेक्ष राज्य से दोस्ती कायम नहीं रख सका। यही नहीं विस्तार की उसकी आकांक्षा ने प्रायः सभी छोटे बड़े देशों को सशंक कर दिया है। निकटतम पड़ोसी तो हल्के-हल्के आतंकित भी हो गये हैं। रूमानिया यह अभी पूरी तरह नहीं मानता कि चीन आक्रामक देश है। शायद इस तरह की हल्की-गंध मिलने से ही पाकिस्तान के सदर अयूब खां रूमानियां की यात्रा पर गये। उनको यह भ्रांति हो सकती है कि रूमानिया ने भारतीय प्रधान मन्त्री का चीन के सम्बन्ध में विश्लेषण नहीं माना, इसलिए उनकी दाल वहां गल जायेगी, किन्तु उनका यह ख्याल बालू की दीवार पर आधारित है। यह तो हो सकता है कि चीन के विरोधी खेमे में रूमानिया शरीक न हो, किन्तु यह भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को प्रक्षय देगा यह समझ में आने वाली बात नहीं है।

पूर्वी योरोप के विभिन्न देशों की यात्रा करने के बाद प्रधान मन्त्री काहिरा पहुंची। वहां २० अक्टूबर की रात को लगभग ७५ मिनट तक उन्होंने पश्चिमी एशिया के संकट के बारे में बातचीत की। अलअहराम पत्र के अनुसार वार्ता में पांच बातों पर मुख्य रूप से विचार किया गया; वे थीं —पश्चिमी एशिया की स्थिति पर राष्ट्र संघ में विचार के समय नीति, इस समस्या को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास, इस मामले में तटस्थ देशों, विशेषकर भारत व यूगोस्लाविया का कार्य, पूर्वी यूरोपीय देशों के प्रधानों से श्रीमती गांधी की वार्ता का परिणाम तथा गुट-निरपेक्षता का विरोध करने वाले देशों के दबाव के मुकाबले के लिए गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का कार्यक्रम।

पश्चिमी एशिया संकट पर भारत ने जो रुख अपनाया है उसका यहां जबर्दस्त स्वागत किया जा रहा है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अरब राष्ट्रों के समर्थन में भारत ने जो आवाज उठाई है इससे यहां की जनता पर्याप्त प्रभावित है।

श्रीमती गांधी की यात्रा का फल

पूर्वी यूरोपीय देशों की यात्रा करके प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी लौट आयी तो स्वभावतः यह प्रश्न उठा कि इस यात्रा में उन्होंने क्या पाया अथवा देश को उसका क्या लाभ मिला ? हो सकता है कि दो और दो चार के रूप में यह न बताया जा सके कि उसका कोई ठोस लाभ देश को मिला है, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह यात्रा असफल रही है। पहली बात तो यह है कि वे किसी खास उद्देश्य को लेकर इस यात्रा पर नहीं गयी थीं जिसकी पूर्ति न होने पर निराशा का अनुभव किया जा सके और दूसरे इस प्रकार की जो यात्रायें होती हैं उनमें पारस्परिक हित की अनेक बातों पर विचार-विमर्श होता है और वे कभी एकदम व्यर्थ नहीं जातीं।

कम से कम इस यात्रा का एक ओर तो यह लाभ हुआ है कि जिन देशों–पोलैण्ड, रूमानिया, बलगेरिया, यूगोस्लाविया–में वे गयीं वहां की जनता और सरकार द्वारा यह अनुभव किया गया कि भारत उनसे अपने मित्रता के सम्बन्ध बढ़ाने का बड़ा उत्सुक है और दूसरी ओर यह कि ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर बात-चीत हो सकी जो विश्व शांति के लिए भारी खतरा बने हुए हैं। यह सही है कि उनसे भारत को कुछ ऐसा नहीं मिला जिसे उपलब्धि की संज्ञा दी जा सके किन्तु यह भी कुछ कम बात नहीं है कि वह यह जान सका है कि भारत के साथ संबंध बढ़ाने तथा विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के संबंध में उनका रुख क्या है। इससे निश्चय ही उनके साथ जहां व्यापारिक एव आर्थिक संबंधों के क्षेत्र के विकास का मार्ग प्रशस्त होगा वहां यह भी जाना जा सकेगा कि विश्व शांति के लिए खतरनाक मुद्दों को सुलझाने की भारतीय नीति में वे देश कहां तक उसके साथ हैं।

जो संयुक्त विज्ञप्तियां इन यात्राओं के बाद प्रकाशित हुई हैं उनसे यह स्पष्ट है कि वियतनाम और पश्चिमी एशिया की समस्या के हल के संबंध में उनमें कोई विशेष मतभेद नहीं है। प्रायः सभी चाहते हैं कि उत्तर वियतनाम पर अमरीकी बमबारी बन्द हो। इस संबंध में भारत और यूगोस्लाविया में केवल इतना अंतर है कि जहां पहला यह चाहता है कि अमरीकी बमबारी बन्द होने के बाद दूसरी ओर से भी शत्रुतापूर्ण कार्य बंद हो, वहां दूसरा यह कहता है कि बिना ठोस प्रस्तावों के ऐसा सम्भव नहीं। जहां तक पश्चिमी एशिया का प्रश्न है सब इसराइली फौज की वापसी चाहते हैं। अंतर सिर्फ इतना है कि भारत तथा इनमें से अन्य कुछ देश जहां यह कहते हैं कि इसराइल आक्रमणकारी है वहां रूमानिया कहता है कि अरबों को भी एकदम दोषमुक्त नहीं रखा जा सकता। परमाणु प्रसार विरोध संधि पर हस्ताक्षर की जो बात है उसके विषय में कम से कम रूमानिया भारत की तरह ही यह कहता है कि उसमें सब देशों के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया गया है और उससे उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। विज्ञप्तियां इन मतभेदों के संबंध में मौन है और उनमें मुख्य बल इसी बात पर दिया गया है कि सब अंतर्राष्ट्रीय विवादास्पद मामले बिना शक्ति का आश्रय लिये शांतिपूर्ण ढंग से सुलझा लेने चाहिए। कुछ भी हो मतैक्य का जो यह रूप है उससे भारत विश्व शांति के

लिए खतरनाक मुद्दों को जिस तरह से सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है उसे बल मिले बिना नहीं रहेगा।

भारत की मुख्य अंतर्राष्ट्रीय समस्या चीन और पाकिस्तान का खतरा है। यह निश्चित है कि इन प्रश्नों पर भी उक्त देशों के नेताओं से बातचीत हुई होगी। परन्तु विज्ञप्तियों में उनके संबंध में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है कि जिससे यह लगे कि वे भी उसे खतरा समझते हैं। केवल यह कह देने से कि सब अंतर्राष्ट्रीय झगड़े शांतिपूर्ण ढंग से सुलझा देने चाहिए और एक देश को दूसरे की सीमा का सम्मान करना चाहिए यह नहीं समझा जा सकता कि भारत को कोई विशेष लाभ हुआ है। वह तो इतनी आम बात है कि उससे जो देश भारत के लिए खतरा बन रहे हैं उनकी कोई सीधी आलोचना नहीं होती और उससे यह बिल्कुल पता नहीं चलता कि इस मुद्दे पर वे भारत के साथ कहां तक हैं? फिर रुमानिया तो यह भी नहीं मानता लगता कि चीन का जो व्यवहार है उसका कारण अमरीकी बमवर्षा और दबाव से भिन्न कुछ है। उसके इस रुख से लगता है कि वह चीन को विस्तारवादी और भारत की अखंडता के लिए खतरा नहीं मानता जबकि इस देश की सरकार ऐसा ही समझती है। उसके प्रधानमंत्री ने सभी एशियाई देशों के साथ मैत्री की जो बात कही है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चीन और पाकिस्तान के प्रति वे भारत का सीधा साथ देना नहीं चाहते। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रधानमंत्री की इस यात्रा से भारत को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है।

जहां तक पूर्वी देशों के साथ व्यापारिक एवं आर्थिक सम्बन्ध बढ़ाने की बात है, कहना होगा कि इस यात्रा ने उसमें काफी योग दिया है। कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसने यह न प्रकट किया हो कि वह भारत के साथ अपना व्यापार और उद्योगों में सहयोग बढ़ाना चाहता है। उसके लिए व्यापार और उद्योग के नये-नये क्षेत्र ढूंढ़ने की बात भी मान ली गयी है। निश्चय ही इससे भारत को अपने विकास में न केवल विदेशी मुद्रा की बाधा का सामना नहीं करना पड़ेगा अपितु यह बढ़ता हुआ पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध उन्हें एक-दूसरे के और अधिक निकट लाकर खड़ा कर देगा।

भारत और पश्चिम जर्मनी
[India and West Germany]

भारत और पश्चिम जर्मनी के सांस्कृतिक सम्बन्धों का इतिहास बहुत पुराना है। दूसरे विश्व युद्ध में इन सांस्कृतिक सम्बन्धों को जो आघात पहुंचा उसकी क्षति-पूर्ति करने के लिए आधुनिक जर्मनी ने बहुत बड़ा योगदान किया। इस समय भारत के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में भारत-पश्चिम जर्मनी सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में मक्स म्यूलर भवनों की स्थापना हो चुकी है जहां जर्मन भाषा सिखाने के साथ-साथ सांस्कृतिक सहयोग के अनेक कार्यक्रम समय-समय पर होते हैं। इन सांस्कृतिक केन्द्रों में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के लिए नयी दिल्ली के मक्स म्यूलर भवन में हिन्दी के माध्यम से जर्मन भाषा सिखाने का प्रयोग हाल ही में आरम्भ किया है। इसके अतिरिक्त साहित्य और कला

के क्षेत्र में सांस्कृतिक समन्वय स्थापित करने में इन मक्स म्यूलर भवनों का विशेष योगदान है। उनकी गतिविधियों का उद्देश्य दोनों देशों के सम्बन्धों का अधिकाधिक विस्तार करना होता है। जर्मन विनिमय सेवा अकादमी नामक एक संस्था छात्रवृत्तियों की व्यवस्था कर साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में दोनों देशों के छात्रों और विद्याध्ययन के इच्छुक व्यक्तियों के आदान-प्रदान की व्यवस्था करती रहती है और जर्मनी में संस्कृत पांडुलिपियों के अनेक अनुसंधान केन्द्र इस समय कार्य कर रहे हैं। जर्मनी और भारत के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निकटता का अपना एक वृहद इतिहास है जो एक बड़े ग्रंथ का विषय बन सकता है।

यह संतोष की बात है कि आधुनिक पश्चिम जर्मनी ने इस इतिहास की उपेक्षा नहीं की और आज भी वह इस इतिहास की रक्षा और उसके पृष्ठों को उज्जवल बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

भारत के कृषि विकास में पश्चिम जर्मनी की विशेष रुचि प्रारम्भ से ही रही। इसका प्रमुख कारण यह है कि पश्चिम जर्मनी के वर्तमान राष्ट्रपति हैनरी शुलयुवके स्वयं एक कृषि विशेषज्ञ है और कृषि प्रधान देश होने के नाते भारत के कृषि विकास में उनकी रुचि प्रारम्भ से ही रही। डा. कीसिंगर को वर्तमान राष्ट्रपति की इस रुचि से भारत के लिए विकास नीति का निर्माण करने के लिए अत्यधिक सहायता मिली और पश्चिम जर्मनी का वर्तमान महान सम्मिलन इस प्रश्न पर सबसे अधिक सहमत था कि भारत के विकास के लिए जिन योजना कार्यों का समारम्भ किया जा चुका है उनकी प्रगति के साथ-साथ कुछ नये योजना कार्यों का सूत्रपात भी अवश्य ही किया जाना चाहिए। इस नीति के अनुसार मद्रास के नीलगिरी जिले में, हिमाचल प्रदेश में मण्डी जिले जैसा भारत-जर्मन संयुक्त विकास कार्यक्रम हाल में ही शुरू किया गया जिसके परिणाम मण्डी जिले के भारत-पश्चिम जर्मनी संयुक्त योजना विकास जैसी ही संतोषप्रद होंगे।

पश्चिम जर्मनी की आर्थिक सहायता सदा से ही भारतीय समस्याओं को समझने के सन्दर्भ में रही है और औद्योगिक एवं तकनीकी क्षेत्र में भारत को विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का हल करने के लिए जिस प्रकार की मदद की जरूरत थी वह उसे बोन से ही मिली। निर्धारित योजना कार्यक्रम के लिए सहायता के अलावा पश्चिम जर्मनी की प्रतिवर्ष की आर्थिक सहायता में इस बात की छूट रही कि वह इस सहायता का अधिकांश भाग अपने ऐसे योजना कार्यों में भी खर्च कर सकता जिनका उल्लेख पश्चिम जर्मनी के साथ भारत में ऋण समझौते में नहीं है।

निर्यात के क्षेत्र में पश्चिम जर्मनी ने विशेष प्रकार की ऐसी सुविधायें भारत को उपलब्ध करायी हैं जिनसे भारत के माल की पश्चिम जर्मनी में अधिकाधिक खपत होने के साथ-साथ ऋणों की अदायगी में सहायता मिले। समय-समय पर पश्चिम-जर्मनी के विश्व औद्योगिक मेलों में भारत का सफलतापूर्वक सम्मिलित होना इस बात का उदाहरण है कि यूरोप के अन्य

देशों में भारत के माल की लोकप्रियता को बढ़ाने में पश्चिम जर्मनी सहायक हो रहा है। भारत के उपप्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई की हाल की पश्चिम जर्मनी यात्रा के दौरान दोनों देशों के मध्य जिस महत्वपूर्ण समझौते पर हस्ताक्षर हुए थे, उसमें भारत की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए सबसे अधिक व्यवस्था थी।

भारत की आर्थिक सहायता सम्बन्धी समस्याओं के प्रति पश्चिम जर्मनी में बहुत अधिक सद्भावना नहीं है तो इसका कारण अर्थ क्षेत्र में जर्मनी की अपनी कुछ कठिनाइयां हैं जिनको समझे बिना दोनों देशों के संबंधों की तह में नहीं जाया जा सकता। डा० एरहार्ड के बाद डा० कीसिंगर सत्तारूढ़ हुए तो जर्मनी के अर्थ-जगत में मंदी का दौर-दौरा शुरू हो गया। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि इसके आर्थिक-सहायता-कार्यक्रम में कटौती होती किंतु कीसिंगर-मंत्रिमंडल के प्रायः सब सदस्य कम से कम इस बात पर तो सहमत थे ही कि पश्चिम जर्मनी की अपनी आर्थिक कठिनाइयां चाहे कितनी ही हों विकासशील देशों की सहायता की जिस नीति का निर्माण डा. कीसिंगर के पूर्वाधिकारियों ने किया था उसका निरंतर अनुसरण करते रहना चाहिए। मंत्रिमण्डल के इस निर्णय में डा. कीसिंगर का महत्वपूर्ण हाथ था और विकासशील देशों में भारत को सर्वाधिक महत्व देने वाले भी वे ही थे।

डॉ० कीसिंगर की भारत यात्रा

पश्चिम जर्मनी के प्रधान मंत्री डॉ० कीसिंगर २० नवम्बर, १९६७ को सुबह दो दिन की राजकीय यात्रा पर भारत पधारे। श्रीमती गांधी ने उनका स्वागत करते हुए कहा कि पश्चिम जर्मनी के किसी प्रधान मंत्री की यह पहली भारत यात्रा है जिससे निश्चय ही दोनों देशों के सम्बन्ध दृढ़ होंगे। श्रीमती गांधी ने कहा कि डा० कीसिंगर का दृष्टिकोण उदार है तथा वे प्रगतिशील व्यक्ति हैं। भारत के वे मित्र हैं। हमारे देश के सामने अनेकों समस्याएं हैं, जिनमें से कुछ मनुष्य द्वारा निर्मित हैं तथा कुछ प्रकृति की देन। अपनी समस्याओं के हल में हमें मित्र देशों से, जिनमें पश्चिम जर्मनी भी है, आर्थिक मदद मिली है। जर्मनी के प्रधानमंत्री की यह पहली यात्रा हमारे सम्बन्धों की वृद्धि में एक नयी कड़ी होगी। भारत-जर्मन सहयोग बढ़ेगा।

डा. कीसिंगर ने अपने भाषण में श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व की सराहना की और कहा कि उन्होंने भारत ही नहीं, सारे संसार को नैतिक ताकत दी। वे भारत के विचारों के प्रबल पोषक थे। हमारे दोनों देशों का सम्बन्ध जर्मनी के विभाजन से पहले ही निकटतम रहा है। भारत और जर्मनी के बीच सांस्कृतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध बना हुआ है। हमारा राजनीतिक सम्बन्ध आपसी विश्वास तथा प्रजातन्त्र, शांति और न्याय की भावना पर आधारित है। दोनों प्रधान मंत्रियों ने अपनी बातचीत को महत्वपूर्ण बताया तथा आशा व्यक्त की कि उससे सम्बन्ध बढ़ेंगे।

डा. कीसिंगर ने कहा कि आज के युग में जब अनेकों खतरे भरे पड़े

हैं, हमें शान्ति के तत्वों को सबल बनाना होगा। हम यहां की कठिनाइयों के हल के तरीके से अपने विभाजित देश की समस्याओं के हल के बारे में कुछ सीखने आये हैं। इस महान प्रजातान्त्रिक देश की मित्रता को हम बहुत महत्व देते हैं। भारत अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की वृद्धि में सदा से योग देता आया है। हम भारत के साथ निकटतम सम्बन्ध बनाये रखने के इच्छुक हैं।

डा. कुर्ट ग्यार्ज कीसिंगर की यात्रा का महत्व इसी बात से आंका जा सकता है कि वे भारत आने वाले प्रथम जर्मन चांसलर हैं। लेकिन वे पहले भी भारत आ चुके हैं, १९५६में और फिर १९६५ में। वह इस देश के स्वातंत्र्य संग्राम से भलिभांति परिचित हैं और यहां की समस्याओं तथा इस देश की जनता की महत्वाकांक्षाओं का उन्हें ज्ञान है। उनकी यात्रा से दोनों देशों के मध्य आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध तो दृढ़ होंगे ही, यह भी आशा की जानी चाहिए कि जो कुछ भ्रांतियां हैं वे भी दूर होंगी तथा भारत के प्रति पश्चिम जर्मनी का रुख अधिक सहानुभूति पूर्ण होगा।

डा. कीसिंगर ने अपनी सन् ६५ की भारत-यात्रा के दौरान भारत के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण योजना का सुझाव दिया था जो संयोगवश उनकी इस यात्रा के दौरान कार्यरूप ले रही है। मद्रास के भारतीय तकनीकी संस्थान मे कारीगरों के प्रशिक्षण के लिए इस योजना कार्य के लिए डा. कीसिंगर ने अपनी पिछली भारत यात्रा के दौरान ही आर्थिक सहायता का प्रस्ताव किया था और आज जबकि वे पश्चिमी जर्मनी के चांसलर के रूप में भारत आये हैं, अपने इस प्रस्ताव का मूर्त रूप देखकर उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है।

पश्चिम जर्मनी के प्रधानमन्त्री की दो दिन की भारत-यात्रा, उनके अनुसार भी अत्यन्त सफल रही है। श्रीमती गांधी और श्री कीसिंगर की संयुक्त विज्ञप्ति में यह कहा गया है कि दोनों देशों में अधिकाधिक सहयोग बढ़ेगा। सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और तकनीक के क्षेत्र में दोनों देश वर्तमान व्यवस्था से और आगे बढ़ेंगे और निकट भविष्य में ही एक सांस्कृतिक करार किया जायगा। इसके अलावा भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध, भारत-चीन सीमा विवाद तथा परमाणु विस्तार विरोध संधि पर भारतीय दृष्टिकोण को जर्मन-चांसलर ने भलीभांति समझा है। विज्ञप्ति में यह भी कहा गया है कि पूर्वी यूरोपीय देशों के साथ पश्चिम जर्मनी अपने सम्बन्ध सुधारना चाहता है और दोनों प्रधान मन्त्रियों ने यह आशा भी व्यक्त की कि पूर्व और पश्चिम जर्मनी का एकीकरण शान्तिपूर्ण तथा लोकतन्त्री ढंग से हो सकेगा।

संयुक्त विज्ञप्ति के अलावा श्री कीसिंगर ने एक प्रेस सम्मेलन में भी अपने विचार प्रकट किये। वास्तव में पश्चिम जर्मनी ने भारत को आर्थिक तथा अन्य सहयोग प्रदान किया है और जैसाकि श्री कीसिंगर ने स्वयं कहा है कि भविष्य में परमाणुशक्ति के शांतिकालीन प्रयोगों में दोनों देशों में और भी सहयोग बढ़ सकता है। किन्तु एक बात जो भारतीय जनमानस की समझ में

नहीं आती वह है पश्चिम जर्मनी की पाकिस्तान को सैनिक सहायता। चांसलर ने कहा कि वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते जिससे भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों को हानि पहुंचे। सच तो यह है कि अगर पाकिस्तान के पास लड़ाकू विमान और टैंक भारी संख्या में न पहुंचे तो वह भारत पर आक्रमण करने के मंसूबे नहीं बांध सकता। चाहे श्री कीसिंगर की यह बात सच हो कि उन्होंने सीधे ढंग से पाकिस्तान को हथियार नहीं दिये किन्तु यह भी सत्य है कि उनके दिये हुए लड़ाकू विमान ईरान की मार्फत पाकिस्तान पहुंचे। और यह बात ऐसी नहीं है जिसे आसानी से समझा जा सके। श्री कीसिंगर ने यह भरोसा दिया है कि भविष्य में वे और भी ऐसी सावधानी बरतेंगे जिससे इस उपमहाद्वीप में जर्मन हथियार न पहुंच सकें। यदि उनकी बात पूरी हुई तो पश्चिम जर्मनी के प्रति जो थोड़ा बहुत रोष भारतीय जनता में है वह दूर हो सकता है।

भारत ने पश्चिम जर्मनी से हथियार प्राप्त करने के लिए कभी भी याचना नहीं की, और न सम्भवतः ऐसा अवसर ही आयेगा किन्तु पाकिस्तान येन-केन प्रकारेण हथियार पाने की पेशकश करेगा। पश्चिम जर्मनी में निजी फर्मों द्वारा भी शस्त्रास्त्र बेचा जाता है या यों कहें कि अगर कोई निजी फर्म किसी को हथियार बेच दे तो पश्चिम जर्मन सरकार यह कह कर बस कर सकती है कि उसका उस पर बस नहीं। किन्तु ऐसा होने पर भारत को तो कठिनाई में पड़ना ही पड़ेगा। यदि पश्चिम जर्मनी के नेता वास्तव में भारत उपमहाद्वीप में शान्ति चाहते हैं और तनाव वाले क्षेत्रों को हथियार देने की उनकी नीति नहीं है तो फिर यह कठिन नहीं होना चाहिए कि किसी भी प्रकार पाकिस्तान को हथियार न पहुंच सकें।

कश्मीर के सम्बन्ध में जैसा कि श्री कीसिंगर ने विदेश यात्रा पर रवाना होने से पहले कहा था कि उनका देश सख्ती के साथ तटस्थ रहेगा, ठीक भी है पश्चिम जर्मनी भारत की दोस्ती के लिए पाकिस्तान से दुश्मनी क्यों मोल ले, किन्तु यदि कश्मीर के प्रश्न पर उन्हें भारत का दावा उचित मालूम होता है तो एक हितैषी की तरह अपने पाकिस्तानी मित्रों से जिनसे वे अपनी इस विदेश यात्रा के दौरान मुलाकात करने वाले हैं, यह बता देना चाहिए कि उनके हित में यह नहीं है कि वे बार-बार कश्मीर पर हमला करें। ऐसा करने से दोस्ती में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

संयुक्त विज्ञप्ति में यह भी कहा गया है और इसी बात को अपने प्रेस-सम्मेलन में श्री कीसिंगर ने दोहराया कि पूर्व जर्मनी के साथ एकीकरण के लिए वह बातचीत करने के लिए तैयार हैं और किसी भी दशा में किसी प्रकार की हिंसात्मक कार्रवाई में रत नहीं होना चाहते। पूर्व यूरोपीय देशों के साथ धीरे-धीरे वे अपने सम्बन्ध सामान्य करते जा रहे हैं। सोवियत संघ और रुमानिया के साथ उनके राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हैं। इन दोनों देशों के साथ पूर्व जर्मनी के राजनयिक तथा मैत्री सम्बन्ध भी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पश्चिम जर्मनी को ऐसे देशों से सम्बन्ध स्थापित करने में कोई

एतराज नहीं जिनके सम्बन्ध पूर्व जर्मनी से हैं। लेकिन भारत अथवा कोई अन्य देश पूर्व जर्मनी को यदि मान्यता देता है तो पश्चिम जर्मनी इसे अमैत्रीपूर्ण कदम कहता है, उनकी यह बात गले के नीचे नहीं उतरती। उनकी यह बात भी समझ में नहीं आती कि वह भारत और पाकिस्तान को तो समान स्तर समझते हैं किन्तु भारत से यह प्रत्याशा करते है कि पूर्व और पश्चिम जर्मनी में समानता न रखे अपितु पश्चिम जर्मनी को ही जर्मन राष्ट्र का प्रतिनिधि माने।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी ही कुछ विरोधाभास वाली नीतियां सामान्य जन को यह सोचने के लिए मजबूर करती हैं कि राजनयिक सम्बन्धों का आधार मैत्री आदि कुछ क्यों न कहा जाय, पर उसकी जड़ में देशों की अपनी शक्ति और परिस्थितियां बहुत बड़ी सच्चाई हैं।

इस निर्णय से कि हर साल भारत और पश्चिम जर्मनी की सरकारों के मन्त्री अथवा उनके प्रतिनिधि बोन और नयी दिल्ली में क्रमशः मिला करेंगे, दोनों देशों के सम्बन्ध और भी दृढ़ होंगे। इससे यह भी प्रकट होता है कि दोनों ओर से सहयोग का क्षेत्र बढ़ाने की इच्छा है।

भारत और पश्चिम एशिया
(India and West Asia)

अरब-इजरायल युद्ध के बाद से भारत निरन्तर इस बात पर जोर देता रहा है कि इजरायल की फौजें विजित प्रदेश से वापस हों। यह बात न केवल संयुक्त राष्ट्र संघीय घोषणापत्र के अनुकूल है, अपितु उसके साथ वे सब देश हैं, जो ईमानदारी के साथ शान्ति और न्याय में विश्वास करते हैं। दुर्भाग्य यह है कि इजरायल इसे नहीं मानता। वह कहता है कि वह इस मामले में अरब देशों से अलग-अलग बातचीत और समझौते के लिए तैयार है। उसे यह आशंका है कि यदि वह अपनी फौजें ४ जून की स्थिति पर हटा लेगा, तो वह अरबों से जो कुछ चाहता है, उसे मनवाने का मार्ग कठिन हो जायगा। उसका यह ख्याल है कि कब्जा रहते तो यह सम्भव भी है कि यरूशलम पवित्र शहर बना दिया जाय और मिस्र की ओर से युद्ध की स्थिति खत्म करके उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया जाय, पर बाद में यह इतना सरल नहीं होगा। इसके अलावा उसके दिमाग में यह भी हो सकता है कि कोई समझौता होने से पहले मिस्र को उकसा कर विजित प्रदेश में अपनी स्थिति को और मजबूत बना लिया जाय। अभी हाल में जो कुछ हुआ है, वह उसी का अङ्ग मालूम होता है। कुछ भी हो, ऐसा रहते पश्चिमी एशिया के इस संकट का कोई शान्तिपूर्ण हल नहीं निकल सकता।

भारत इस क्षेत्र में शान्ति के लिए बहुत चिन्तित है। यह चिन्ता इसलिए तो है ही कि इस क्षेत्र में लड़ाई की चिंगारी व्यापक युद्ध का रूप धारण कर सकती है, स्वेज नहर के बन्द रहने से भी उसे नुकसान पहुँच रहा है। वह तभी खुल सकती है, जब अरब-इजरायल में समझौता हो जाय। इसके

लिए भारत की ओर से सुरक्षा परिषद में पेश करने के उद्देश्य से एक प्रस्ताव की रूपरेखा तैयार की गई है। उसमें जहां यह कहा गया है कि पश्चिमी एशिया में समझौते के लिए संयुक्त राष्ट्र संघीय महासचिव का एक प्रतिनिधि भेजा जाए, वहां उसके अधिकार क्षेत्र में सात मुद्दों पर बातचीत भी रखी है : इजरायली सेना की ४ जून की स्थिति पर वापसी, ४९ के सन्धि-समझौतों की मजबूती, सब सम्बद्ध पक्षों द्वारा प्रादेशिक अखण्डता का स्वीकार, शक्ति के बल पर दूसरे के प्रदेश पर कब्जा न जमाये रखने, इजरायल समेत सबके लिए स्वेज नहर खोलने और शरणार्थी समस्या के हल के लिए जोर देने की उसमें हिदायत की गई है।

भारत सरकार की अरब देशों के प्रति सहानुभूति की भारत में आलोचना वृद्धि पर है। कुछ एक क्षेत्रों में यह भी मांग की जा रही है कि इजरायल को कूटनीतिक मान्यता प्रदान की जाय।

श्री स्वर्णसिंह का कहना है कि यदि अरब क्षेत्र से सेनायें वापस बुलाने तथा समस्त राज्यों की अखण्डता व सुरक्षा की गारंटी के बारे में आम समझौता हो जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग जैसे महत्वपूर्ण मामलों का भी समुचित हल निकल सकता है, जो कि न केवल सम्बन्धित पक्षों के लिए अपितु सभी राष्ट्रों के लिए महत्वपूर्ण है।

इसमें संदेह नहीं कि फिलिस्तीन का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है तथा पश्चिम एशिया में सामान्य हालत पैदा करने के लिए उसका संतोषजनक हल जरूरी है।

पश्चिम एशिया की स्थिति ऐसी है, जहां सभी सम्बन्धित पक्ष राष्ट्र संघ के सदस्य है। इसलिए इस समस्या का हल राष्ट्र संघ में निकलना ही चाहिए। सब देश समस्या के इस पहलू पर जोर दे रहे हैं।

उन्होंने कहा कि हमारा तात्कालिक उद्देश्य यह होना चाहिए कि अरब राष्ट्रों के क्षेत्र से विदेशी सेनायें हट जायें। शान्ति को स्थायी बनाने के लिए भी कुछ कदम उठाने होंगे।

भारतीय कूटनीतिज्ञ मिस्रियों, इराकियों, सीरियाइयों तथा अन्य अरबों से यह आग्रह कर रहे हैं कि और अधिक धनराशि गंवाने से बचने के लिए उन्हें पश्चिमी देशों के साथ मेल-मिलाप कर लेना चाहिए।

निःसंदेह कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित करने का काम राष्ट्रीय स्वाभिमान की बलि देकर नहीं किया जाना चाहिए। इस बात के कई प्रमाण मिले हैं कि इस सलाह को अरब देशों के नेतागण मानने की प्रवृत्ति में हैं।

अरब देशों के साथ पश्चिमी देशों का समझौता कराने में मदद देनेके बारे में भारत सरकार के आतुर होने का एक बड़ा कारण यह है कि भारत को अपनी आर्थिक कठिनाइयों का रह-रह कर ख्याल आता है। स्वेज नहर के बन्द रहने से भारत को विदेशों से मंगाये जाने वाले माल पर अधिकाधिक भार सहन देना पड़ रहा है। भारत की पंचवर्षीय योजना के जो भाग

अभी पूरे होने हैं उक्त मार्ग-व्यय के कारण उनके मार्ग में भारी बाधा आ रही है।

भारत सरकार ने अपने कूटनीतिज्ञों को यह निर्देश दिया है कि वे एक समझौता कराने तथा पश्चिमी एशिया की समस्या को खत्म कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ में अन्य अफ्रेशियाई प्रतिनिधि के साथ मिल कर काम करें।

इस कार्य में उसका मुख्य साथी है यूगोस्लाविया। यूगोस्लाविया ने इस वस्तुस्थिति को समझ लिया है कि यदि अरब देश पश्चिमी देशों के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित करने को तैयार नहीं है, तो इजरायलियों को मिस्रियों के साथ मेल-मिलाप करने को मनाने या बाधित करने की शायद संभावना नहीं है।

वास्तव में भारत और यूगोस्लाविया अब यह महसूस करते हैं कि इस समस्या का कोई हल ढूंढ़ निकालने में अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस इन चारों देशों को कैसे शामिल किया जाय। यूगोस्लाविया को स्वभावतः अपनी शान्ति सम्बन्धी योजना अधिक पसन्द है। इस योजना के अनुसार उक्त चारों बड़े देश और सुरक्षा परिषद मध्य-पूर्व के प्रत्येक देश के प्रदेशों की हदों का आश्वासन देंगे।

इससे यह आश्वासन मिलेगा कि न इजरायल के प्रदेश को अरब कभी छीनेंगे न इजरायल अरबियों के किसी प्रदेश पर हमला करेगा। यूगोस्लाविया की दृष्टि में इजरायल इस समय जो अरब देशों से सीधी बातचीत की मांग कर रहा है, उसकी अभी व्यवस्था करने का समय नहीं है। नासिर की हुकूमत, हाल की लड़ाई में अपनी पराजय से जिसकी जड़ें हिल गयी हैं, विजयी इजरायल के साथ बैठकर शायद सीधी बातचीत नहीं कर सकेगी। यह भी स्पष्ट है कि कोई अरब नेता इजरायलियों के साथ मित्रों की तरह बैठकर बातचीत नही कर सकता है।

इसी बीच नई दिल्ली तथा अन्य अफ्रो-एशियाई राजधानियों में यह भावना जोर पकड़ती जा रही है कि इजरायली जनरलों व मंत्रियों पर यदि किसी देश का प्रभाव है, तो वह है अमरीका। लेकिन अमरीकी अभी तक इस मामले में न जाने क्यों खामोश हैं। भारत का यह दृष्टिकोण है कि अमरीकियों को इजरायल से स्वेज नहर का पश्चिमी तट खाली कराने के लिए प्रेरित करना आवश्यक है। लेकिन वाशिंगटन में किसी भी अरब देश के राजदूत के अभाव में अमरीका पर उक्त बात के लिए दबाव डालना कठिन है।

अरब देशों तथा इसरायल के मध्य इसरायल द्वारा अधिकृत प्रदेश केबारे में भारत ने माली और नाइजीरिया द्वारा समर्थित जो प्रस्ताव रखा है, उसमें भारतीय विदेश नीति के सभी पारम्परिक तत्व विद्यमान हैं, फिर भी सुरक्षा परिषद के रुख से ऐसा प्रतीत नही होता कि ये सिद्धान्त प्रतिष्ठित होंगे। प्रस्ताव में यह कहा गया है कि इसरायल चार जून की सीमा रेखा तक वापस लौट जाय। साथ ही यह भी मांग की गयी है कि सम्बन्धित पक्ष सिद्धान्ततः

यह स्वीकार कर ले कि इसरायल की स्वाधीनता एवं क्षेत्रीय सार्वभौम सत्ता की प्रतिष्ठा की जाय। अमरीका के प्रतिनिधि श्री गोल्डबर्ग ने इस विवाद को समाप्त करने के लिए जो सुझाव रखा था, उससे यह प्रतिध्वनित होता था कि अमरीका इसरायल के पीछे हटने से पूर्व यह चाहता है कि उसकी सुरक्षा का आश्वासन देने के लिए एक विसैन्यीकृत क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाय। इसरायल इन प्रस्तावों के सामने आने पर भी पीछे हटने को तैयार नहीं। जहां तक सुरक्षा परिषद में इसराइल के समर्थक राष्ट्रों का प्रश्न है, वे संयुक्त अरब गणराज्य के मित्र नहीं। इसरायल द्वारा सुरक्षा के नाम पर अधिकृत प्रदेशों को न छोड़ने का आग्रह इसी समर्थन से दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है।

इसरायल की ओर से भी यह कहा गया है कि वह अरब राज्यों के साथ सीधी बातचीत करके विवाद को हल करना चाहता है। यही बात अरब राज्यों की ओर से भी कही गयी है, लेकिन उसमें शर्त यह है कि पहले इसरायल चार जून की सीमा-रेखा तक वापस हट जाय और सीधी बातचीत द्वारा इस विवाद को हल कर लिया जाय। अरब देशों के इस आग्रह के पीछे जो सिद्धान्त है, उसका समर्थन किये बिना भी नहीं रहा जा सकता, क्योंकि आक्रमण के पुरस्कारस्वरूप इसरायल को अधिकृत क्षेत्र पर दावा करने का गुमान नहीं होना चाहिए। इन परिस्थितियों में यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि पश्चिम एशिया सम्बन्धी इस विवाद के बारे में भारतीय प्रस्ताव विवाद का कोई हल प्रस्तुत नहीं कर सकेगा। यह आश्चर्य की बात है कि भारतीय प्रस्ताव में उन सभी तत्वों के होते हुए भी, जो रूस की इसरायल सम्बन्धी नीति से अत्यन्त निकट हैं, रूस ने भारतीय प्रस्ताव पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। जोर्डन के शाह हुसैन ने, जो आजकल अमरीका की यात्रा पर हैं, यह कहा है कि इस समस्या का शीघ्र ही हल सामने आ जायगा, लेकिन उनकी आशा के विपरीत निदान का सामने आना कठिन प्रतीत होता है।

जहां तक इसरायल द्वारा अधिकृत प्रदेश का सम्बन्ध है, ऐसे लक्षण प्रकट होना शुरू हो गये हैं कि इस क्षेत्र पर हमेशा के लिए अधिकार रखना उसके लिए सम्भव न हो सकेगा। इस प्रदेश में आतंकवादी गतिविधियां प्रारम्भ हो गयी हैं। संयुक्त अरब गणराज्य, जोर्डन तथा सीरिया के जितने भू-प्रदेश पर इसरायल का अधिकार है अब अरबों की संख्या लगभग १८ लाख हो चुकी है। इससे पूर्व इसरायल में केवल १२ प्रतिशत अरब थे और इनके आतंकवादी गतिविधियों में सम्मिलित होने की कोई दुर्घटना घटित नहीं हुई। अब इसरायल के अन्दर तेलअवीव और हैफा जैसे बन्दरगाहों में भी आतंकवादी जोर पकड़ रहे हैं। यह स्पष्ट है कि नवीन अधिकृत क्षेत्रों के अरब, इसरायल के मूल अरब निवासियों के साथ मिल कर इन आतंकवादी कार्यों का संचालन कर रहे हैं। २५ लाख की आबादी के इसरायल के लिए १८ लाख अरबों को पुलिस तथा सेना के जोर से शासन में रखना कठिन हो जायगा, क्योंकि इन विरोधियों और आतंकवादियों को पांच करोड़ अरबों का सहयोग

निरन्तर प्राप्त होता रहेगा, जिसके रहते इसरायल के निवासियों को कभी भी चैन की नींद सोने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसा नहीं कि इसरायल को इस कठिन भविष्य की पूर्व कल्पना न हो, फिर भी वह पीछे नहीं हटना चाहता। इसका एकमात्र कारण यह है कि चारों तरफ से अरब देशों द्वारा घिरे होने के कारण वह अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं पाता। २५ लाख की आबादी के इसराइल का क्षेत्रफल केवल आठ हजार वर्गमील है, जो कि भूतान के क्षेत्रफल से आधा होता है और इसकी आबादी दिल्ली की आबादी से भी कम है। उसके तीन तरफ घिरे हुए अरब राज्यों का क्षेत्रफल पांचलाख वर्गमील है। वह यह आश्वासन अवश्य चाहेगा कि इस समय इस विवाद का जो निर्णय हो, उससे इसराइल को शक्तिशाली अरब राज्यों के सम्भावित आक्रमण से हमेशा के लिए नजात मिल जाय। भारतीय प्रस्ताव में जो आश्वासन सन्निहित हैं, उनका आधार केवल पिछला अरब–इसराइल युद्ध ही है, जिससे यह स्पष्ट नहीं होता कि पिछले बीस वर्षों से अरब राज्यों ने इसराइल–विरोधी जो रवैया अख्तियार किया, वह भविष्य में पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाय। अधिक शक्तिशाली होते हुए अरब राज्यों की ओर से भी ऐसा आश्वासन आना चाहिए। यह सौभाग्य की बात है कि इस युद्ध में विजय श्री इसरायल को मिली, लेकिन यदि युद्ध का परिणाम इसके विपरीत होता, तो क्या भारत फिर भी अरब राज्यों का समर्थन करता ?

भारतीय विदेशनीति का मूल्यांकन
[Evaluation of India's Foreign Policy]

किसी भी विदेश नीति के मूल्यांकन का सही मापदण्ड होता है उसके परिणामों की सफल अथवा विफल प्रकृति। एक देश की विदेश नीति उसके वास्तविक परिणामों से ही जानी जाती है। कहा गया है कि पंचशील, सह-अस्तित्व, विश्व शान्ति, न्याय, असंलग्नता आदि आदर्शों एवं व्यवहारों के सहारे भारतीय विदेशनीति को तब तक श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता जब तक कि यह मालूम न कर लिया जाय कि इसने देश के सम्मान और स्वतन्त्रता को बढ़ाने का प्रयास किया है अथवा नहीं। भारत की विदेशनीति के बारे में पण्डित नेहरू ने एक बार कहा था कि "यद्यपि यह एक आत्म-प्रशंसा है किन्तु तो भी मैं यह कहूंगा कि हमारी विदेशनीति संसार में भारत का सम्मान बढ़ाने में प्रमुख तत्व रही है।"

भारत की विदेशनीति का मूल्यांकन करते समय कुछ मापदण्डों से काम लिया जा सकता है। ये मापदण्ड मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

१. एक आदर्श के रूप में

भारतीय विदेशनीति ने उन देशों के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत किया जो अपनी स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा को बनाये रखना चाहते हैं। अनेक विचार से यह कहना है कि बर्मा के यूनू तथा अरब गणराज्य के कर्नल नासिर ने

तटस्थता एवं असंलग्नता का पाठ नई दिल्ली में पढ़ा था। यह विदेशनीति कई राष्ट्रों द्वारा अपनाई गई है। अरब गणराज्य के प्रो० मक्सूद ने विश्व-विद्यालय के राजनीति-शास्त्र विभाग, जयपुर में बोलते हुए यह स्वीकार किया था कि भारत असंलग्न देशों का मार्ग-दर्शक रहा है तथा इससे हमने प्रेरणा ग्रहण की है। भारतीय नीति की ईमानदारी तथा संगठित रूप के कारण इसने अनेक अनुयायी बना लिये।

२. राष्ट्रीय हित का साधक

प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने एक बार कहा था "कि विदेशनीति के संचालन की कला इस बात में है कि यह खोजा जाय कि देश के लिए सबसे उपयोगी क्या चीज है।" देश के हित के साधन के रूप में यदि विदेशनीति को लिया जाय तो यह काफी हद तक सफल रही है। असंलग्नता की नीति अपनाने के बाद ही यह सम्भव हो सका है कि दोनों ही गुटों ने भारत को आर्थिक एवं तकनीकी सहायता पूरी शक्ति से दी है।

३. विश्व में शांति की स्थापना

विदेशनीति का आधार विश्व शान्ति था किन्तु क्या इसने वास्तव में दूसरे राष्ट्रों के साथ न्याय से काम लिया है, उनके आपसी सम्बन्धों में सत्य एवं शांति की स्थापना की है। भारत की विदेशनीति ने राष्ट्रों के आपसी मनमुटाव को भी कम किया है अथवा नही? कुछ विद्वानों का मत है कि इस सम्बन्ध में हम प्रायः अपने आपके बारे में बहुत ऊंची धारणा बना लेते हैं, गलत रूप से जांचते हैं तथा निराधार नैतिक आदर्शों की जगत को शिक्षा देते हैं। सच तो यह है कि भारत के पंचशील, सहअस्तित्व आदि आदर्शों को विश्व के देशों की उपेक्षा ही अधिक प्राप्त हुई है। जहां कहीं भी भारत के शान्ति प्रयासों को सफलता प्राप्त हुई उसके अन्य अनेक कारण थे, भारतीय सहयोग उनमें से ही एक था यह एकमात्र कारण न था।

४. मित्रों की अभिवृद्धि

एक मापदण्ड यह भी है कि अगर हम जानना चाहें कि भारतीय विदेश नीति कितनी सफल रही है तो यह खोजें कि इस नीति से भारत के कितने नये मित्र बने हैं। पर्यवेक्षकों का मत है कि भारत के सच्चे मित्र नहीं हैं। इसने दोनों गुटों से अलग रह कर तथा दोनों के साथ मित्रता बढ़ाने के प्रयास में दोनों के दिलों में संदेह की स्थापना की है। इस संदेह के कारण साम्यवादी देश भारत को छिपा पूंजीपति देश कहते हैं तथा पश्चिमी राष्ट्र इसे समाज-वादी कहते हैं। किसी समस्या पर इसकी नीतियों के कारण स्थिति प्रायः और भी नाजुक हो जाती है। कहा जाता है कि भारत का ऐसा कोई भी मित्र नहीं है जिस पर कि वह संकट काल में भरोसा कर सके। यह हो सकता है कि एक महाशक्ति भारत के समर्थन के लिए आ जाय किन्तु ऐसा वह स्वयं की सुविधा या स्वार्थ के कारण ही करेगा, किसी प्रेम अथवा मित्रता के कारण नहीं। इस बात के विपरीत यह कहा जा सकता है कि विश्व राजनीति में देशों के स्थायी मित्र या शत्रु नहीं होते परन्तु स्थायी स्वार्थ होते हैं। भारतीय विदेश नीति अपने संकट के समय यदि दूसरे के हितों को खतरा

पैदा करके उन्हें अपने पक्ष में करने में समर्थ हो जाय तो यह उसकी सफलता ही कही जायगी।

५. देश का सम्मान

भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन करते समय प्रायः कहा जाता है कि इसने देश को विश्व राजनीति में एक ऊंचा स्थान प्रदान किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ में इसने बहुत महत्वपूर्ण योगदान किया है तथा सुरक्षा परिषद में भारत की आवाज को बड़े आदर के साथ सुना जाता है। भारत को यह सम्मान दिया जाना उसकी नीति की सार्थकता तथा विजय का सूचक माना जाता है। यह मत दूसरे कुछ विचारकों को नहीं भाता। उनका मत है कि भारत जैसे विशाल जनसंख्या एवं समृद्ध प्राकृतिक स्रोतों वाले देश का विश्व के संतुलन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। भारत की सद्भावना एवं मैत्री पाने के लिए प्रत्येक गुट उत्सुक है। भारत द्वारा इस गुटबन्दी की स्थिति से लाभ उठाया जा सकता है। एशिया तथा हिन्द महासागर का केन्द्र तथा सैनिक एवं औद्योगिक सम्भावनाओं से परिपूरित यह देश इतना महत्व रखता है कि सभी देश इसकी मित्रता प्राप्त करना चाहते हैं। इन सभी दृष्टियों से यह माना जाता है कि भारतीय विदेश नीति यदि सही रूप में ढाली व क्रियान्वित की जाती तो यह कई गुना हितों की साधना कर सकती थी जितना कि उसने अब तक किया है।

६. नेताओं का नेतृत्व

किसी देश की नीति तथा उसके कर्णधारों के बीच परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध की दृष्टि से भारत को सौभाग्यशाली माना जाता है जिसकी विदेश नीति को पण्डित नेहरू जैसे कुशल कूटनीतिज्ञ के विचारों के सांचे में ढाला गया था। कहा जाता है कि श्री नेहरू ने अपने अनुभवी मस्तिष्क के कारण भारत पर आने वाले कई संकटों को बिना अधिक हानि सहन किये ही टाल दिया था। भारत का रुख सदैव विश्व शान्ति का समर्थन करने की ओर ही रहा है। अणु-शक्ति का विरोध, युद्ध की आलोचना, निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का सक्रिय समर्थन, संयुक्त राष्ट्र संघ में पूरा-पूरा विश्वास, पाकिस्तान तथा चीन की उत्तेजनात्मक कार्यवाहियों के प्रति संयम का बर्ताव आदि अनेक नीतियों के कारण भारत तथा इसके कर्णधारों को विश्व के मानवतावादी, शान्तिवादी एवं विश्व-बन्धुत्व के समर्थक विद्वानों एवं विचारकों ने बहुत सम्माननीय माना है। किन्तु राजनीतिज्ञों तथा विश्व राजनीति के रूप पर भारत की नीतियों का इतना अधिक प्रभाव नहीं है और यही कारण है कि आदर्श के रूप में यह नीति सफल मानी जा सकती है किन्तु व्यवहार रूप में नहीं।

भारतीय विदेश नीति की कालिमा
(The black side of India's Foreign Policy)

भारतीय विदेश नीति ने जिन अन्तर्राष्ट्रीय विवादों पर विचार किया वे सभी उसकी निष्पक्षता एवं असंलग्नता के प्रतीक थे। कुछ विचा-

रकों के मतानुसार भारत ने सही रूप में सभी परिस्थितियों में इस नीति का प्रयोग नहीं किया है। इसके अतिरिक्त अनेक समस्याओं से घिरी रहने के कारण भारत की विदेश नीति अपने आपको पूर्ण रूप से सफल मानने में सदैव ही संकोच करेगी। काश्मीर का झगड़ा, चीन के साथ सीमा विवाद, वर्मा में भारतीयों की सम्पत्ति का प्रश्न, लंका में भारतीयों का प्रश्न, इन्डोनेशिया के साथ कटु सम्बन्ध, पश्चिम शक्तियों के साथ मनमुटाव आदि अनेक घेरों में घिर कर भारत की विदेश नीति अपने मार्ग के सम्बन्ध में भ्रान्त सी दिखाई देने लगी है। प्रारम्भ में जब यह प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के हाथों द्वारा संचालित की जा रही थी तो अपनी प्रकृति के अनुसार इसने प्रति वर्ष पवित्र तथा उच्च आदर्शों की घोषणा को अपने व्यवहार का सामान्य नियम बना लिया। श्री नेहरू यह मानते थे कि दूसरों की आलोचना करना उचित नहीं है क्योंकि कोई भी त्रुटियों से मुक्त नहीं है। भारत एक ओर साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद की बुराई करता है तथा दूसरी ओर वह इनका व्यवहार करने वाली शक्तियों के साथ पूरी तरह से मित्रता रखने का भरसक प्रयास करता है। यह अन्तर्विरोध तथा अपने आपको नैतिक रूप से उच्च स्वीकार करना भारत को दूसरे देशों की फलदायक मैत्री प्राप्त नहीं करने देता।

भारत की विदेश नीति का एक दूसरा दोष यह रहा कि इसने सिद्धान्तों एवं व्यवस्थाओं के अन्तर पर ध्यान दिये बिना ही सब देशों की मित्रता प्राप्त करने का प्रयास किया है। किन्तु मित्रों का सा व्यवहार करना इस नीति ने नहीं सीखा है, यही कारण है कि दूसरे राष्ट्रों को इससे संतोष प्राप्त नहीं हो पाता। अनेक मित्रों के सम्बन्ध में हमारे मन में कई गलत धारणायें बनी हुई हैं, ऐसी परिस्थिति में किसी प्रकार की मित्रता रहना असम्भव है। सभी देशों को मित्र बनाने की नीति अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों की रचना करती है, उदाहरण के लिए प्रश्न उठ सकता है कि एक प्रजातन्त्रात्मक देश होते हुए भी क्या हम एक सम्पूर्णतावादी राज्य के साथ अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रख सकते हैं अथवा समाजवादी समाज में विश्वास रखते हुए पूञ्जीपति राष्ट्रों की मित्रता हमें कितनी उपयोगी रहेगी।

कई बार यह कहा जाता है कि भारत की विदेश नीति स्पष्ट-वक्ता है, इसमें नैतिक साहस है किन्तु कई उदाहरणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि यह न तो स्पष्ट-वक्ता थी और न ही साहसी। इस मत के समर्थक विचारक पाकिस्तान के साथ भारतीय सम्बन्धों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो भारत के परम शत्रु के रूप में व्यवहार करता रहा है। तिब्बत के मामले में भी चीन ने भारत को चुप लगाने को कहा और भारत ने चुप्पी साध ली। हम जो कहते हैं यदि उसे व्यवहृत करने के लिए हमारे पास शक्ति नहीं है तो विश्व को हमारा खोखलापन स्पष्ट नजर आ जायेगा।

भारतीय विदेश नीति के कर्णधारों ने समय-समय सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार की शिक्षा दी है किन्तु उनका स्वयं का व्यवहार कई बार असहिष्णुता-

पूर्ण रहा है। हम घटना या वस्तु-स्थिति को जिस प्रकार देखते हैं, चाहते हैं कि दूसरे भी इसी रूप में देखने लगें। जब हम दूसरे देशों की आलोचना करते हैं तब भी एकपक्षीय दृष्टिकोण अपनाते हैं तथा दोहरे स्तर के दोष से दूषित बन जाते हैं। हमने अमरीका द्वारा की गई सैनिक सन्धियों की कटु आलोचनायें की हैं किन्तु सोवियत रूस द्वारा की गई सन्धियों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हमारे नीति निर्माताओं ने कई बार कहा है कि वे दो जिह्वाओं से नहीं बोलेंगे किन्तु व्यवहार में उन्होंने अपने कथन का पालन कम किया है। हमारी नीति प्रायः केवल शब्दों तक ही सीमित रही है। पाकिस्तान व चीन के साथ भी मजबूर होकर हमें हथियार उठाना पड़े थे, नहीं तो शान्ति व अहिंसा के समर्थक हमने कभी भी शक्ति-प्रयोग की दिशा में सोचा ही न था। यह हमारी अवास्तविक नीति का एक प्रमाण है। हमने 'प्रचार' रूपी अस्त्र का इतना कम प्रयोग किया है कि विश्व के देश कई प्रश्नों पर सही रूप में हमारे दृष्टिकोण को अभी तक नहीं समझ पाये हैं। यह कहा जाता है कि भारत ने दोनों गुटों के बीच पुल का काम किया है। यह कार्य दूसरों की अपेक्षा हमारे द्वारा ही अधिक प्रशंसा का पात्र बना है। किन्तु यह काम यदि हमने संभाला भी है तो इसे अपने सिद्धान्तों का बलिदान किये बिना पूरा कर सकेंगे, इसमें संदेह है।

SUGGESTED READINGS

1. Karunakaran, K. P. : India in World Affairs-1947-50, 1952 and 1950-53, 1958
2. Thapar, Romesh : India in transition, 1956
3. Bharadwaj, R. P. : Peaceful Co-existence, 1958
4. Bowles, Chester : "A friendly peep at Asia's glass-house', Times of India, 19th Sep. 1954
5. Bozeman. Adda B. : 'India's foreign policy today', World Politics, Vol. 10 [1958] P p. 256-73
6. Chipman W. : India's Foreign Policy, 1954
7. Durgadas : India and the world, 1958
8. Kamath, M V. : 'India's Dynamic Neutralism,' Current History. Vol 36 (1959) P p. 130-40
9. Kundra, J. C. : Indian Foreign Policy, *1947-64, 1955.*
10. Mukherjee, M. : Our Foreign Policy, AICC Economic Review, 15 Jan. *1958.* P p. 93-94.
11. Parameshwaran C. : Nehru's Foreign Policy-Rayed, 1954.
12. Srivastava, G. P : 'Some Aspects of Indian Foreign Policy', Modern Review March, 1954, P p. 189-95.
13. Mookherji, S. K. : 'India's role in world peace,' Modern Review, Nov. 1956 P p. 357-61,
14. Arora, S. K. : 'Indian Attitudes towards China' International Journal, Vol. 14 (1958-9) P p. 50-9.

15. Ismail Sir Mirza : 'India and her neighbours' The Hindu (Madras) 20 Feb, 1955
16. Levi, Werner : 'India's Himalayan Border.' Contemporary Review, Vol. 188 (1955) P p. 40-4.
17. Panikkar, K. M. : Asia and Western dominance 1955.
18. Arora, S. K. : American Foreign Policy towards India, 1954.
19. Mazumdar, H. T. : 'India and America' United Asia, Sep 1957, P p. 263-6
20. Roy, N. C. : India and the United States of America, 1954.
21. Sohan Lal : Red Star over India ?, 1956.
22. Berkes, Ross N : 'India and the Communist world' Current History, March, 1959, P p. 146-52.
23. Patel. Satyavrata Ramdas : Foreign Policy of India, 1960.
24. Braine, B. ; "Will India stay in the Commonwealth ?" New Commonwealth, 10 Dec 1956, P p. 567-9.
25. Dwedi, Surendranath : Why leave Commonwealth? Janta, 25 Aug, 1957. P p. 45.
26. Kachroo, J L. : India and the Commonwealth, 1959.
27. Surjeet, Harikishan Singh : Kashmir and its future, 1955.
28. Kamath, M. Y. ; India at the United Nations', United Asia, Sep. 1957, P p. 225-9.
29. Bhagat, B. R. : 'Role of Foreign assistance in India's economic development', Economic Review, 15 Dec 1955.
30. Zikkin, Maurice : Development for Free Asia, 1956.
31. Nan poria, N. J. : The Sino-Indian dispute, 1963.
32. भारत सरकार प्रशासन—चीन का पाखण्ड भरा शान्ति अभियान, 1962.
33. शान्ता कुमार—हिमालय पर लाल छाया, 1965.

अध्याय-२

सोवियत रूस की विदेश नीति
[FOREIGN POLICY OF U.S.S.R.]

सोवियत रूस विश्व राजनीति का एक प्रमुख देश है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी को वहां की विदेश नीति में निर्णय लेने की प्रक्रिया और वास्तविक विदेश नीति के व्यवहार का अध्ययन करना चाहिए। सोवियत रूस की विदेश नीति की जानकारी के लिए इस देश के साम्यवादी समाज की प्रकृति तथा मूल्यों का अध्ययन करना जरूरी है। सोवियत संघ में हिंसात्मक क्रान्तियों के द्वारा साम्यवादी विचारधारा से समूह ने राजनैतिक शक्ति को अपने हाथ में लिया। जिस समय देश में राजनैतिक अस्थिरता थी, औद्योगीकरण कम था और समाज को स्थायित्व देने वाला कोई मध्यम वर्ग नहीं था तो यहां क्रान्ति हो गई। क्रान्ति के बाद साम्यवादी दल ने व्यक्ति को महत्वहीन बना दिया और उसके स्थान पर मार्क्सवादी, लेनिनवादी समाज की स्थापना का प्रयास किया।

विदेश नीति में निर्णय लेने की प्रक्रिया
[Decision Making Process in Foreign Policy]

रूसी विदेश नीति में दिए जाने वाले निर्णय नए राजधर्म पर आधारित समस्टिवादी समाज व्यवस्था में लिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त निर्णय लेने की प्रक्रिया पर यहां की संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव है। सोवियत रूस की विदेश नीति में जो निर्णय लिए जाते हैं उनको पर्याप्त गोपनीय ढंग से लिया जाता है और जो कहा जाता है वैसे निर्णय नहीं लिए जाते। यदि तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो सांवैधानिक प्रबन्ध और सरकार की औपचारिक संस्थायें निर्णय लेने की प्रक्रिया पर पश्चिमी देशों में कम प्रभाव डालती हैं। किन्तु सोवियत संघ में नीति का स्रोत और उसे क्रियान्वित करने की शक्ति साम्यवादी दल की तानाशाही से उत्पन्न होती है।

सोवियत संघ का संविधान मास्को की केन्द्रीय सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रशासित करने की सामान्य प्रक्रिया निर्धारित करने के लिए शक्ति देता है। सैद्धान्तिक रूप से सभी संघराज्यों को यह अधिकार दिया गया है कि वे संघ को छोड़ने के लिए स्वतन्त्र हैं तथा विदेशों से सम्बन्ध रख सकते हैं किन्तु सत्य यह है कि मास्को की सरकार विदेश नीति के समस्त पहलुओं का नियन्त्रण करती है।

साम्यवादी दल और निर्णय प्रक्रिया
[Communist Party and Decision Making Process]

सोवियत संघ में साम्यवादी दल के पालिट ब्यूरो (Polit Buro) में शक्ति का केन्द्रीयकरण है। इसी में मुख्य निर्णय लिए जाते है तथा द और सरकार को निर्देश दिए जाते हैं। नीति सम्बन्धी निर्णयों को राज्य तथा सरकार के प्रतिनिधि अङ्गों के सम्मुख सूचना के लिए अथवा स्वीकृति के लिए भेजा जाता है और ये साधारणत: बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लिए जाते हैं।

विदेश नीति से सम्बन्ध रखने वाले पालिट ब्यूरो नेता प्रेसीडियम (Presidium) कहलाते हैं। इसके निर्णयों पर पूरी शक्ति रहती है। निर्णय लेने की प्रक्रिया पर सांवैधानिक प्रतिबन्ध, जनता की आलोचना, भावी चुनावों का प्रभाव जैसी कोई सीमा नहीं है। फिर भी निर्णय लेने की प्रक्रिया पर सोवियत समाज के हित समूहों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। दल की एकाधिकार की स्थिति और सूचनाओं के साधनों पर सरकार का नियन्त्रण रहने से किसी भी निर्णय का विरोध नही किया जा सकता। पालिट ब्यूरो के सदस्य तथा उच्चकोटि के दलीय सदस्य मन्त्रि परिषद के सदस्य होते हैं और सुप्रीम सोवियत के नेता होते हैं। सोवियत विदेश नीति के पहले ४७ वर्षों में निर्णय तीन व्यक्तियों द्वारा लिया जाता था—लेनिन स्टालिन और खुश्चेव। ये एक के बाद एक प्रधानमन्त्री बने। खुश्चेव के बाद जब कोसीजिन के हाथों में सत्ता आई तो निर्णय अधिक सचेत एवं सामूहिक रूप से लिए जाने लगे।

सोवियत संघ की सर्वोच्च नीति एव निर्णय लेने वाली संस्था साम्यवादी दल का पालिट ब्यूरो है। इसे कभी प्रेसीडियम भी कहा जाता था। इसके ग्यारह सदस्यों का चुनाव उस केन्द्रीय समिति द्वारा होता है जो कि दलीय कांग्रेस द्वारा चुनी जाती है। ये सदस्य अपने पद पर इसलिए रहते है क्योंकि इन्होंने क्रान्ति के समय महत्वपूर्ण कार्य किये हैं अथवा इन्हें वर्तमान नेताओं का विश्वास प्राप्त है। पालिट ब्यूरो का सभापति दल का महासचिव कहलाता है। यह निकाय छोटे और बड़े सभी विषयों पर नीति की रचना करता है। विदेश मन्त्रालय को प्रत्यक्ष एव नियमित रूप से सारी सूचनायें पालिट ब्यूरो को देनी होती हैं। जब निर्णय लिए जाते हैं तो सुझाव देने के लिए या तकनीकी परामर्श देने के लिए विदेशमन्त्री को आमन्त्रित किया जा सकता है, वैसे विदेशमन्त्री हमेशा ही इसका सदस्य नहीं होता। पालिटब्यूरो के कार्य की तुलना ग्रेट ब्रिटेन में कैबिनेट से की जाती है। यद्यपि यह निकाय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता किन्तु शक्तिया पर्याप्त प्रयुक्त करता है।

साम्यवादी दल का सचिवालय पालिट ब्यूरो के बाद आता है तथा विदेश नीति के निर्णय लेने में उसमें कम भाग लेता है। सचिवालय का कार्य दलीय यन्त्र को निर्देशित करना तथा उसे सहयोग देना है। इसका नेतृत्व

महासचिव करता है। सचिवालय के सदस्यों द्वारा पालिट ब्यूरो के सदस्य के रूप में नीति निर्माण की प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रभाव डाला जाता है।

साम्यवादी दल की कांग्रेस जिसमें कि हजार से० अधिक प्रतिनिधि होते हैं, सैद्धान्तिक रूप से दल की सर्वोच्च सत्ता कहलाती है। उच्च कार्य-पालिका अङ्गों द्वारा प्रस्तावित दलीय नीति को स्वीकार करने तथा संशोधित करने का इसे अधिकार रहता है। इस केन्द्रीय समिति में १७५ पूर्ण सदस्य होते है, ११३ कांग्रेस द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं तथा विभिन्न सोवियत गणराज्यों के दलीय नेता होते हैं। समिति का मुख्य कार्य पालिट ब्यूरो और सचिवालय की नियुक्ति करना तथा उन नीतियों पर पुनः विचार करना है जो कि पालिट ब्यूरो द्वारा निर्धारित की जाती हैं। कभी-कभी केन्द्रीय समिति द्वारा वास्तविक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है। ख्रुश्चेव को हटा कर उसके स्थान पर मि० ब्रिजनेव को बैठाने का काम इसी ने ही किया।

सरकार और निर्णय प्रक्रिया
[The Government and Decision Making Process]

सोवियत संघ की व्यवस्था में नीति सम्बन्धी निर्णय लेने की दृष्टि से सरकारी संस्थायें दलीय नेतृत्व से कम महत्वपूर्ण होती हैं। मन्त्रिपरिषद (The Council of Ministers) में प्रमुख कार्यपालिका अङ्ग होता है। इसमें एक सभापति होता है जो कि सोवियत संघ का प्रधानमन्त्री है। इसके अतिरिक्त कुछ उपसभापति, विभिन्न मन्त्रालयों के अध्यक्ष और कुछ अन्य लोग होते हैं। परिषद द्वारा मन्त्रालयों के कार्य का निर्देशन किया जाता है। यह सशस्त्र सेनाओं का पर्यवेक्षण करती है और दलीय निर्देशों के तहत विदेशी मामलों को सामान्य निर्देशन देती है। नीति निर्धारण की प्रक्रिया में इसका महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि उच्च शिखर के दलीय नेता एवं इसके सदस्य प्रायः एक ही होते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार और दल की स्थिति एक जैसी होती है।

सर्वोच्च सोवियत (The Supreme Soviet) को सैद्धान्तिक रूप से मन्त्री परिषद से उच्च बनाया गया है किन्तु जनता द्वारा निर्वाचित यह द्विसदनीय व्यवस्थापिका निकाय नीति निर्धारण में बहुत कम योगदान करता है। सर्वोच्च सोवियत की बैठक वर्ष में दो बार होती है। इसका एक सत्र एक से लेकर तीन सप्ताह तक का होता है जिसमें कि यह मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों की सुनवाई करती है। सर्वोच्च सोवियत में संघ के मुख्य नेताओं द्वारा नीति सम्बन्धी घोषणायें की जाती हैं, यह अपनी प्रेसीडियम चुनती है, वार्षिक बजट पर मतदान करती है और मन्त्रिपरिषद के सदस्यों को नामजद करती है। प्रेसीडियम का प्रथम सभापति सांवैधानिक रूप से सोवियत राज्य का नाम मात्र का अध्यक्ष होता है। सर्वोच्च सोवियत की अनेक शक्तियों का प्रयोग औपचारिक रूप से प्रेसीडियम द्वारा किया जाता है; जैसे, युद्ध की घोषणा करना, संधियों को स्वीकार करना, राजदूतों

नियुक्ति करना, विदेशी कूटनीतिज्ञों की अगवानी करना, आदि पालिट ब्यूरो और मन्त्रिपरिषद के सदस्य सामान्यतः सर्वोच्च सोवियत के सदस्य होते हैं।

सरकार का एक अन्य प्रमुख अङ्ग विदेश मन्त्रालय है जो कि विदेश नीति के निर्णयों को क्रियान्वित करता है। इसकी सहायता प्रमुख दलीय अधिकारियों एवं कूटनीतिज्ञों द्वारा की जाती है। सोवियत विदश मन्त्री की तुलना अमरीकी राज्य सचिव या ब्रिटिश विदेश सचिव से नहीं की जा सकती। उसे पालिट ब्यूरो का सदस्य होना जरूरी नहीं है जब कि अमरीका का राज्य सचिव हमेशा राष्ट्रपति की कैबिनेट और राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का सदस्य होता है। मास्को में विदेश मन्त्री का सम्मान और स्थिति दलीय नेतृत्व पर आधारित है। बहुत दिनों तक मार्शल स्टालिन ने इस पद पर अपने व्यक्तिगत विश्वासपात्र मि० मोलोतोव को रखा। यह स्टालिन के पालिट ब्यूरो का सदस्य था और कभी-कभी मन्त्रि परिषद का प्रथम सभापति भी बन जाता था। जब मोलोतोव के स्थान पर विशिंसकी (Vishinsky) आया तो वह पालिट ब्यूरो का सदस्य नहीं था। इसी प्रकार ग्रोमिको भी पालिट ब्यूरो का सदस्य नहीं रहा। शीर्ष स्तर पर नियोजन एव निर्देशन स्टाफ रहता है जिसमें कि विदेश मन्त्री तथा उपमन्त्री होते हैं। स्टालिन की मृत्यु के बाद से विदेश मन्त्रालय को उच्चत्तर स्थिति प्राप्त हो गई है और इसकी सेवायें पर्याप्त सम्मानजनक बन गई हैं। मुख्य दलीय अधिकारियों को कुछ उच्च कूटनीतिक पदों पर रखा जाता है।

सुरक्षा मन्त्रालय सोवियत विदेश नीति की एक अन्य निर्णायक इकाई है। यह सैनिक संस्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान करता है। इसमें एक सामान्य स्टाफ होता है तथा एक मुख्य राजनैतिक निदेशालय होता है जो कि सशस्त्र सेनाओं पर दलीय नियन्त्रण रखने वाला मुख्य साधन है। सेवाओं के प्रत्येक स्तर पर राजनैतिक अधिकारी रखने से दलीय नियन्त्रण सुरक्षित बनता है। सशस्त्र सेवाओं के उच्च अधिकारी पालिट ब्यूरो में लिए जायें अथवा न लिए जायें किन्तु राष्ट्रीय नीति एक ऐसा सैनिक सस्थान बनाने की होती है जो कि पूञ्जीवादी देशों और चीन को लगातार चुनौती देता रहे तथा सोवियत संघ पर आक्रमण का विरोध करे। राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित प्रमुख नीति सम्बन्धी निर्णय पालिट ब्यूरो के दलीय नेताओं द्वारा लिए जाते हैं। वे ऐसा करते समय सैनिक विशेषज्ञों से विचार विमर्श एवं तकनीकी परामर्श लेते हैं। समस्त नीति का सम्बन्ध एक राष्ट्रीय नीति से होता है। सेना को दलीय नेतृत्व द्वारा स्वीकृत योजना के आधीन कार्य करना होता है। सन् १९३७-३८ में जो शुद्धिकरण किया गया उससे स्पष्ट है कि राजनैतिक तत्व पर्याप्त प्रधान रहता है। स्टालिन ने अपने अधिकांश महत्वपूर्ण सैनिक नेताओं की स्वामीभक्ति पर संदेह किया और उनको पद से हटा दिया। स्टालिन की मृत्यु के बाद सैनिक और राजनैतिक नेताओं के बीच कुछ विरोध देखने में आया है। कभी-कभी पालिट ब्यूरो के नीति सम्बन्धी निर्णयों से सेना को असन्तोष हो जाता है। सेना का सोवियत संघ में पर्याप्त

सम्मान है और यह आशा नहीं की जाती कि वह राष्ट्रीय हित के विरुद्ध नीतियां अपनाएगी। सैनिक शक्ति, विदेश नीति, आर्थिक विकास और सोवियत साम्यवाद का प्रसार आदि को पालिट ब्यूरो द्वारा एकीकृत कार्यक्रम का रूप दिया जाता है और एक बड़ी रणकौशल की नीति अपनाई जाती है ताकि सोवियत संघ की शक्ति को महान बनाया जा सके, कमजोर विरोधी को नष्ट किया जा सके और अर्ध-विकसित दुनियां के नए क्षेत्रों में साम्यवाद को प्रसारित किया जा सके।

सोवियत संघ की विदेश नीति में विदेशी आर्थिक मामलों का पर्याप्त महत्व है। सोवियत नीति में आर्थिक और सैनिक सहयोग के कार्यक्रमों पर पर्याप्त जोर दिया जाता है ताकि उपनिवेशों में होने वाली क्रांति तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के उदय से उत्पन्न चुनौतियों का सामना किया जा सके। इन कार्यक्रमों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी विदेशी आर्थिक सम्बन्धों की एक राज्य समिति को बनाया जाता है। यह समिति आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धों का विकास करती है, तकनीकी और आर्थिक सहयोग का पर्यवेक्षण करती है, वैज्ञानिक सहयोग का प्रबन्ध करती है, विदेशों में उद्यमों की रचना के लिए मदद करती है आदि-आदि। पालिट ब्यूरो द्वारा जो नीति सम्बन्धी नियोजन किया जाता है उसमें राष्ट्रीय नीति के इन सभी पहलुओं को समाहित कर लिया जाता है। विदेश व्यापार के मन्त्रालय द्वारा विदेशी व्यापार का पर्यवेक्षण किया जाता है। यह राजनैतिक लक्ष्यों को प्रोत्साहन देने के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसके लक्ष्यों को बाजार की स्थिति के द्वारा नहीं बल्कि राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं के आधार पर निर्धारित किया जाता है। इसका कारण यह है कि सोवियत व्यापार प्रायः राज्य के अङ्गों द्वारा ही किया जाता है और इसलिए राजनैतिक और आर्थिक कारणों से बाजारों एवं कच्चे माल के साधनों में तुरन्त परिवर्तन किया जा सकता है। जब संयुक्त राज्य अमरीका ने सन् १९६० में क्यूबा से चीनी न खरीदने का निर्णय लिया तो मास्को ने २४ घन्टों के भीतर-भीतर यह घोषणा कर दी कि वह क्यूबा से चीनी खरीदेगा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ में जो आर्थिक एवं वैज्ञानिक प्रगति हुई है उससे उसकी आन्तरिक सत्ता और सैनिक शक्ति में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में सोवियत प्रगति उसकी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने में पर्याप्त महत्वपूर्ण रही है। इससे एशिया और अफ्रीका के नेता पर्याप्त प्रभावित हुए और विश्व राजनीति में सोवियत संघ का सम्मान बढ़ा। इस सम्मान की प्राप्ति के लिए सोवियत संघ ने सक्रिय रूप से प्रयास किया था।

सोवियत संघ में जब विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लिए जाते हैं तो वे एक विशेष प्रक्रिया में हो कर निकलते हैं। नीति सम्बन्धी निर्णयों के प्रस्तावों का या तो सम्बन्धित मन्त्रालय में विकास होता है अथवा पार्टी के सचिवालय में। इन प्रस्तावों को मन्त्री परिषद द्वारा स्वीकार किया जाता है। उसके बाद नीतियों को और उससे सम्बन्धित समस्याओं को पालिट ब्यूरो के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। यहां इन पर सम्बन्धित अभिकरणों

द्वारा विचार-विमर्श किया जाता है और उसके बाद निर्णय लिया जाता है। लिए जाने वाले निर्णयों को वापस मन्त्री परिषद तथा सम्बन्धित मन्त्रालयों को और दलीय सचिवालय को भेजा जाता है ताकि उनको क्रियान्वित किया जा सके। इन नीतियों से सम्बन्धित प्रतिवेदन तथा किए जाने वाले कार्यों की सूचना सर्वोच्च सोवियत को प्रस्तुत की जाती है। सभी स्तरों पर नीति की एकता का ख्याल रखा जाता है। विभिन्न निकायों को एक पंक्ति में रख कर एक से दूसरे को प्रभावित किया जाता है।

सोवियत विदेश नीति के आधार
(The Bases of Soviet Foreign Policy)

सोवियत विदेश नीति अन्य देशों की विदेश नीति की भांति अनेक तत्वों पर निर्भर करती है जो कि प्रकृति की दृष्टि से पर्याप्त जटिल हैं। इन तत्वों में वातावरण, राजनैतिक परंपरायें, ऐतिहासिक अनुभव, सोवियत नेताओं के व्यक्तित्व तथा उनके आपसी सम्बन्ध और मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त आदि महत्वपूर्ण हैं। सोवियत संघ का एक बड़ा क्षेत्र पर्याप्त साधन स्रोत, मानव-शक्ति एवं औद्योगीकरण सोवियत नेताओं को व्यापक विदेश नीति अपनाने की ओर प्रेरित करता है। सोवियत संघ की भौगोलिक स्थिति ने अन्य क्षमताओं के साथ मिल कर उसे विश्व की महान शक्ति बना दिया है।

जहां तक सोवियत रूस की विदेश नीति का सम्बन्ध है यह दूसरे देशों से भिन्न कुछ विशेषतायें रखती है। एक ओर तो यह अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है तथा दूसरी ओर यह विश्व-व्यापी राजनैतिक आन्दोलन के लक्ष्यों एवं नियमों का संचालन करती है। वैसे तो "अधिकांश देशों की विदेश नीति," जैसा कि टर्न (R. S. Tarn) महोदय का मत है, "एक ऐसी प्रक्रिया होती है जो कि उनके राष्ट्रीय अस्तित्व की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहती है। ऐसा वह कभी तो दूसरे देशों के मूल्य पर करती है और कभी उनके साथ शान्तिपूर्ण सहयोग करके।"[1]

रूस की विदेश नीति के आधारों का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि यह एक साम्यवादी राष्ट्र है जहां कि मार्क्स के विचारों को सर्वप्रथम सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया गया था। साम्यवाद के सिद्धांतों का रूस के राष्ट्रीय जीवन पर जितना प्रभाव है उतना ही उसके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों पर भी क्योंकि विदेश नीति प्रायः गृहनीति की ही अभिव्यक्ति

---

1. "The foreign policies of most countries can be described fairly simply as the process by which the attempt to maintain their national existence, sometimes at the expense of other states, sometime in peaceful co-operation with them." —*R. S. Tarn*, "Continuity in Russian Foreign Policy", International Journal, Canadian Institute of International Affairs, Automn 1950

होती है। रूस की विदेश नीति के इस सैद्धान्तिक आधार का अनेक रूपों में प्रभाव होता है; इसकी मान्यतायें उन देशों से भिन्न हो जाती है जहां कि साम्यवादी व्यवस्था नहीं है। रूस की विदेश नीति के प्रमुख आधारों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) अतीत की परम्परायें

वर्तमानकाल में सोवियत रूस की विदेशनीति की जो प्रकृति है वह अपने अतीत से बहुत अधिक प्रभावित है। वैसे इस देश के राजनैतिक स्वरूप में बहुत परिवर्तन हो चुके हैं तो भी जारों के समय में यह जिन प्रक्रियाओं को अपनाता था उन्हें यह पूरी तरह से नहीं छोड़ पाया है।

मार्क्स, लेनिन तथा स्टालिन की विचारधारा ने रूस की विदेश नीति को दिशा संकेत दिया है तथा लक्ष्य निर्धारित करने के लिए आधार प्रदान किया है, फिर भी कुछ महत्वपूर्ण तत्व ऐसे हैं जो कि अब भी पूर्ववत् बने हुए हैं। पश्चिमी शक्तियों के साथ इसके सम्बन्ध विरोध एवं संघर्षपूर्ण हैं। युद्ध के बाद यह आशा की गई थी कि रूस पश्चिम के साथ सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना कर लेगा। कुछ रूसी लेखक भी इसका समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि युद्धोपरान्त पश्चिम के दृष्टिकोण को देखकर रूस अपरिहार्य संघर्षपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के लिए मजबूर हो गया। किन्तु टर्न (R.S. Tarn) की भाँति अनेक पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रूस ने दोनों गुटों की मित्रता की सम्भावना एवं लाभों में कभी विश्वास किया था।[1]

रूसी विदेश नीति के परम्परागत लक्ष्यों के बारे में यह कहा जाता है कि इवान दा टेरिबल (Ivan the Terrible) का प्रमुख लक्ष्य मंगोलों को वोल्गा के पार पहुँचा देना एवं पोलिश विस्तार के खतरे को मास्को के लिए कम कर देना था। पीटर का महान् लक्ष्य स्वीडन की शक्ति को समाप्त कर देना था। एलिजाबेथ तथा केथेरिन महान पोलिश तथा लिथुआनियन राज्यों को नष्ट कर देना चाहते थे। उनके उत्तराधिकारी भी इन दिशाओं में विस्तार करते रहे। सन् १९१४ में आकर जारों की विस्तारवादी नीति कुछ धीमी हो गई किन्तु समाप्त नहीं हुई। इससे पूर्व पर्सिया एवं अफगानिस्तान भी इस विस्तार के शिकार बन चुके थे। तुर्किस्तान में रूस का विस्तार उसे अफगानिस्तान तथा भारत की सीमाओं के निकट ले आया। जैसे ही रूस ने साइबेरिया की ओर बढ़ना शुरू किया त्यों ही चीन के विरुद्ध उसके हित टकराने लगे। सुदूर पूर्व में अपनी कूटनीति को बढ़ाने के लिए जारशाही रूस ने मान्चू दरबार को घूंस देने में संकोच न किया। सन् १९१८ से सन् १९२६

1. "On the basis of the evidence, however, there can be no real probability the Moscow ever seriously believed friendship between the two camps would be possible or even profitable from its points of view."

—*R. S. Tarn*, op, cit., 1950

तक रूसी साम्यवादियों ने चीनी साम्यवादियों का सीधा समर्थन किया किन्तु चांगकाई शेख के शक्ति में आते ही उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। इस प्रकार वर्तमान रूस की विदेश नीति ने जो कुछ भी अपनी परम्पराओं से अपनाया उनमें से प्रथम तथा महत्वपूर्ण तत्व "विस्तारवादी नीति है"।

जारशाही से ग्रहण रूसी विदेश नीति की दूसरी विशेषता रूस के लोगों का गहरा एवं रहस्यमयी विश्वास है जिसके आधार पर विश्व के इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य करना वे अपना उत्तरदायित्व मानते हैं। रूस प्रारम्भ से ही दास लोगों का नेता तथा उनकी प्रेरणा का प्रधान स्रोत रहा है। दासों का भ्रातृत्व (Pan-Slavism) आज भी रूसी विदेश नीति में महत्वपूर्ण भाग ले रहा है तथा पोलेण्ड, चेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लाविया और बल्गेरिया आदि देशों को इसने प्रभावित किया है। मास्को विश्व साम्यवाद का आध्यात्मिक केन्द्र बना दिया गया है और विश्व के सभी साम्यवादी यहीं से प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन प्राप्त करते हैं। गैर-साम्यवादी देश भी यह स्वीकार करते हैं कि किसी भी सैद्धान्तिक विवाद एवं संदेह पर क्रेमलिन का निर्णय अन्तिम होगा। यह अवश्य है कि चीनी साम्यवाद के उदय से इस स्थिति में अब बहुत कुछ परिवर्तन आ गया है।

(२) सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न एवं परिस्थिति पर विचार करते समय रूस के कर्णधारों द्वारा जिस दिशा में मस्तिष्क की तंत्रियां संचालित की जाती हैं वह है साम्यवाद की स्थापना तथा मार्क्स और लेनिन के मन्त्रों की साकार अभिव्यक्ति। इस दृष्टि से सोवियत नीति स्वेच्छाचारी, अबौद्धिक और गूढ़ार्थक बन जाती है,वैसे समय-समय उत्तरदायी व्यक्तियों के वक्तव्य इसकी दिशा का परिचय देते रहते हैं। घटनाओं का सैद्धान्तिक विश्लेषण करने के कारण प्रायः रूस की विदेश नीति गलत निर्णयों पर भी पहुंच जाती है। द्वन्दात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स-लेनिन के सिद्धान्तों की मूल आत्मा है। स्टालिन तथा अन्य सोवियत नेताओं की नीतियों एवं सामान्य दृष्टिकोणों में तथा इस सिद्धान्त में एक गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। वे पूंजीवादी शक्तियों को वर्तमान समाज की पतनोन्मुख तथा असङ्गठित शक्ति मानते हैं। स्टालिन का कहना था कि पूंजीवाद क्रान्ति का विरोधी है जिसके द्वारा पूंजीवादी स्वामित्व को समाजवादी स्वामित्व के रूप में बदल दिया जायगा। स्टालिन तथा लेनिन समाजवाद के विकासवादी, क्रमिक एवं प्रजातंत्रात्मक तरीकों की तीव्र आलोचना करते थे; क्योंकि ये पूंजीवाद को स्थिरता प्रदान करते हैं। इस आधार पर सोवियत रूस ने पूंजीवादी देशों के समाजवादी आन्दोलनों को बुरा-भला कहा। सोवियत सिद्धान्त की दूसरी विशेषता ने भी सोवियत विचारों पर भारी प्रभाव डाला है।

लेनिन यह मानते थे कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम सीढ़ी है। पूंजीवाद के प्रसार से ही साम्राज्यवादी युद्धों का जन्म होता है, उपनिवेश बनते हैं तथा प्रतिक्रिया-स्वरूप इन उपनिवेशों में पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष

का उदय होता है। फरवरी, १९४६ में स्टालिन ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए बताया कि "उसके मतानुसार युद्धों का तब तक अस्तित्व रहेगा जब तक कि पूंजीवाद की व्यवस्था रहेगी।" इन सिद्धान्तों को कठोरता से लागू करने के कारण रूसी विदेश नीति ने कई बार बहुत असाधारण गलतियां की हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी और पूर्वी योरोप के देशों के श्रमिक वर्ग के बारे में इसने यह अनुमान लगा लिया कि या तो ये रूस समर्थक नहीं हैं अथवा इनके पास आशानुकूल शक्ति नहीं है। पूर्वी योरोप में राष्ट्रवाद के उदय की संभावनाओं पर भी यह इसी कारण विचार नहीं कर सकी थी। साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित रहने के कारण ही सोवियत रूस की यह पक्की धारणा बनी कि पश्चिमी देशों के साथ उसके सम्बन्ध कभी भी मैत्रीपूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि वहां का समाज, राज्य, धर्म, संस्कृति एवं अर्थ-व्यवस्था आदि सभी कुछ पूंजीवादी आधारों पर स्थित हैं। साम्यवादी एवं असाम्यवादी समुदायों के बीच संघर्ष का होना स्वाभाविक तथा अपरिहार्य है।

प्रारम्भ में असंलग्न देशों के प्रति रूस का रुख बड़ा अमैत्रीपूर्ण था। यह समझा जाता था कि जो रूस का मित्र नहीं है अथवा उसके गुट में नहीं है वह अवश्य ही क्रान्ति विरोधी तथा पूंजीवाद का समर्थक है। पूंजीवाद राष्ट्रों के साथ साम्यवादी देशों का मतभेद इतना मौलिक है कि वह हिंसात्मक एवं विध्वंसात्मक रूप भी धारण कर सकता है। स्टालिन का कहना था कि पूंजीवाद के ऊपर शांतिपूर्ण साधनों से विजय नहीं की जा सकती। वर्तमान परिस्थितियों में पूंजीवाद को केवल क्रांतिकारी साधनों से ही उखाड़ा जा सकता है। यह क्रान्ति हिंसात्मक रूप धारण कर मौत का भी कारण बन सकती है। सन् १९२१ में इस मत के ठीक विपरीत उसने कहा था कि पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ हमारे वर्तमान सम्बन्धों का आधार दो विरोधी व्यवस्थाओं का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व है। इस प्रकार सोवियत रूस पूंजीवादी राष्ट्रों पर कभी आक्रमण नहीं करेगा और आशा है कि पूंजीवादी राष्ट्र भी रूस पर आक्रमण नहीं करेंगे क्योंकि इसका परिणाम होगा विश्व से पूंजीवाद की पूरी तरह समाप्ति। जनवरी, १९३४ में साम्यवादी दल की १७वीं कांग्रेस में स्टालिन ने कहा था कि "हमारी विदेश नीति स्पष्ट है। हम प्रत्येक के साथ शांति एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध चाहते हैं। हम किसी पर आक्रमण करने की तो क्या, आक्रमण की धमकी देने की भी नहीं सोचते। किन्तु हम धमकियों से नहीं घबराते और जो युद्ध छेड़ने का प्रयास करते हैं उनको घूंसे का बदला घूंसे से ही देने को तैयार हैं।"[1]

1, "Our Foreign Policy is plain. We want peace and friendly relations with everyone. We do not think of threatening anyone, still less of attacking them; but we do not fear threats, and we are ready to give blow for blow to those who try to inflame war."

—*Stalin*, at the 17th Congress of the Communist Party in Jan., *1934*.

इस प्रकार सोवियत विदेश नीति सिद्धान्तों से पूरी तरह प्रभावित है; यहां व्यवहार को हमेशा सैद्धान्तिक रूप में ही समझा जाता है तथा किसी कार्य को न्यायोचित ठहराने के लिए विचारधारा का सहारा लिया जाता है। मार्क्स के सभी सिद्धान्तों को लेनिन ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में लागू किया तथा वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल बनाया। लेनिन ने एक बार कहा था कि "हम केवल राज्य में नहीं वरन् राज्यों की व्यवस्था में रह रहे हैं और अधिक समय तक पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ-साथ सोवियत गणराज्य का अस्तित्व विचार से परे की बात है। अन्त में एक को या दूसरे को समाप्त होना पड़ेगा और जब तक यह अन्त आये तब तक सोवियत गणराज्य एवं बुर्जुआ राज्यों के बीच संघर्षपूर्ण विघटनों की एक शृङ्खला का आना अपरिहार्य है।"[1]

बाद में खुश्चेव के प्रधानमंत्रित्व में आकर रूस का दृष्टिकोण स्टालिनवादी तानाशाही प्रवृत्तियों से थोड़ा नरम हुआ। शक्ति एवं बाध्यता का सहारा छोड़ कर रूसी नेता यह मानने लगे कि एक देश की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन उस देश के लोगों का आन्तरिक मामला है इसमें उनको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ख्रुश्चेव ने कहा था कि 'निश्चय ही केवल दो मार्ग शेष हैं या तो शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और या इतिहास का सबसे भयानक व विध्वंसक युद्ध, तीसरा रास्ता है ही नहीं।"[2] कुछ लेखकों का मत है कि सोवियत रूस ने अपनी जारशाही की विस्तारवादी नीति को सैद्धान्तिक चोला पहना दिया है और वह आज भी पहले की तरह ही विश्व साम्राज्य के स्वप्न देख रहा है।

(३) आर्थिक नीतियां

सोवियत रूस की सबसे प्रमुख विशेषता जो उसे विश्व के असाम्यवादी राज्यों से पृथक करती है वह है वहां की साम्यवादी अर्थव्यवस्था एवं उत्पादन का साम्यवादी तरीका। कहने की आवश्यकता नहीं कि वहां की अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व है, व्यक्तिगत लाभ के लिए उत्पादन के स्थान पर सामाजिक आवश्यकता के आधार पर उत्पादन होता है अथवा हम दो शब्दों में कह सकते हैं कि यह अर्थव्यवस्था पूञ्जीवादी व्यवस्था के ठीक विपरीत है। सोवियत रूस की विदेश नीति का रूप निश्चित करते समय यह सदैव ध्यान रखा जाता है कि इससे विश्व में समाजवादी अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिले और पूञ्जीवादी अर्थव्यवस्था नष्ट हो जाय। अपने उत्पादन के तरीकों एवं व्यवहारों में क्रान्तिकारी

---

1. Lenin in his report to the Eighth {Congress of the Communist Party, March 18, 1919.

2. "...Indeed, there are only two ways : either peaceful coexistence or the most destructive war in history. There is no third way..."

—*N. S. Khruschev*, in report of the central committee of the CPSU to the 20th Party cong. Feb., 1956.

परिवर्तन करके रूस बहुत शीघ्र ही एक समर्थ राष्ट्र बन गया है तथा इसने अपने कृषि प्रधान रूप को औद्योगीकृत बना लिया है। विश्व के अर्धविकसित एवं अविकासशील राष्ट्रों के लिए यहां की अर्थव्यवस्था एक आदर्श है। इस आदर्श का प्रसार करने के लिए सोवियत रूस पूञ्जीपति राष्ट्रों के साथ गहरे आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना करता है। साम्यवादी दल की १५वीं कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा दिसम्बर १९२७ को आर्थिक सहयोग की नीति के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "हमें हमारी नीति को दूसरे देशों के साथ अधिक से अधिक आर्थिक सम्बन्धों का विकास करने के विचार पर आधारित करना चाहिए जहां तक कि ऐसे सम्बन्ध संघ की आर्थिक शक्ति को बढ़ाते हैं। हमें इसे पूञ्जीपति विश्व से अधिक स्वतन्त्र बनाना चाहिए तथा संघ के अग्रिम औद्योगिक विस्तार के लिए समाजवादी नींव को बढ़ाना चाहिए।"[1] अदुर्खानोव अब्दुर्कमन के शब्दों में सोवियत विदेश नीति स्टालिन के राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए बनाई गई थी। ये लक्ष्य थे- औद्योगीकरण, समष्टिकरण तथा एक राक्षसी तथा आतंकवादी यन्त्र का निर्माण।[2]

सोवियत विदेश नीति के लक्ष्य
[Objects of Soviet Foreign Policy]

साम्यवादी विचारधारा सोवियत विदेश नीति के लिए केवल आधार ही प्रदान नहीं करती वरन् यह उसके लक्ष्यों की ओर भी स्पष्ट रूप से संकेत करती है। रूसी विदेश नीति अन्य देशों की विदेश नीति की भांति उसके राष्ट्रीय हित की पूर्ति करती है, उसे विश्वास की महान शक्ति बनाने का प्रयत्न करती है, उसके मित्रों की संख्या को बढ़ाने में सहायक बनती है। इसके अतिरिक्त वह साम्यवाद के प्रसार, साम्यवादी देशों के संगठन तथा उसके हितों में एकरूपता की स्थापना, पूञ्जीवादी व्यवस्था का अन्त, पूञ्जीवादी युद्धों का अन्त,

---

1. "We must base our policy on the idea of a maximum development of our economic relations with foreign countries so far as such relations (expansion of foreign trade, foreign credits, concessions, employment of foreign technical advisers, etc.) contribute to the economic strength of the union. We must make it more independent of the capitalist world; and broaden the socialist foundation for further industrial expansion of the Union."

   —From a Resolution of the 15th congress of Communist Party, Dec., 1927.

2. "Soviet foreign policy was made to serve Stalin's domestic goals of industrialization, collectivization and the creation of a gigantic terror machine."

   —*Abdurkhman Avtorkhanov*, Problems of Soviet Foreign Policy, A Symposium, edited by Oliver J Frederiksen, Munich, 1959,

एशिया, अफ्रीका आदि देशों में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना, साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद की समाप्ति आदि लक्ष्यों की पूर्ति के लिए संचालित होती है। सोवियत विदेश नीति के मुख्य-मुख्य लक्ष्य निम्न प्रकार हैं—

१. विश्व में साम्यवाद की स्थापना

साम्यवादी घोषणा-पत्र में विश्व के मजदूरों को एक होने का आह्वान किया गया है तथा विश्व से पूञ्जीवाद के एकदम समाप्त होने की भविष्यवाणियां की गई हैं तथा इसका स्थान साम्यवादी समाज ले लेगा ऐसी आशा लगाई गई है। यही कारण है कि सोवियत रूस की विदेश नीति भी विश्व भर में साम्यवादी आन्दोलनों को प्रोत्साहन देने एवं क्रांतियों को सफल बनाने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती है। साम्यवादी लोग सोवियत रूस को उतना ही महत्वपूर्ण मानते हैं जितना कि धार्मिक विश्वास वालों के लिए तीर्थ स्थान महत्वपूर्ण होता है। इससे भी अधिक वे विश्वव्यापी साम्यवादी व्यवस्था के अन्तिम राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मास्को से सैनिक एवं अन्य प्रकार की सहायता पाने की पूरी आशा रखते हैं।

सोवियत संघ की विदेश नीति के प्रमुख एवं प्रथम निर्माता लेनिन का झुकाव अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर अधिक था, इसके लिए वे राष्ट्रीय स्वार्थों का बलिदान करने को भी तैयार थे। उन्होंने रूस के राष्ट्रीय हितों को बिना किसी संकोच के अपने दल की विचारधारा से गौण बना दिया था। उनका मत था कि वर्तमान राष्ट्रीय युद्धों को गृहयुद्धों में बदल दिया जाय अर्थात् पूञ्जीपति राष्ट्र आपस मे लड़ें; इसके स्थान पर एक ही देश में सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध युद्ध छेड़ दे और इस प्रकार सारे संसार में इन दोनों वर्गों के बीच युद्ध छिड़ जाय। राष्ट्रीयता के विचार का यहां कोई स्थान नहीं था वरन् वर्ग हित प्रधान था। लेनिन का कहना था कि विदेश नीति के प्रश्नों पर दो प्रकार से विचार किया जाता है। सर्वहारा के मत में समाजवादी क्रांति महत्वपूर्ण है तथा सबसे प्रथम स्थान पर है जबकि बुर्जुआ के मत में महाशक्तिवान राज्य की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता श्रेष्ठ है तथा इसे सब चीजों से अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। लेनिन के ही शब्दों में—"हम न तो महाशक्ति की ओर न ही राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हैं। हम यह मानते है कि समाजवाद अर्थात् विश्व समाजवाद के हित राष्ट्रीय हितों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं, राज्य के हितों से अधिक महत्वपूर्ण हैं।"[1] कामिन्टर्न के द्वारा साम्यवाद को विश्वव्यापी बनाने के लिए अनेक प्रकार के तरीकें अपनाये जाते हैं। स्टालिन के समय में रूस की विदेश

---

1. "We defend neither great power—nor national interests, we hold that the interests of socialism, the interests of world socialism, are more important than national interests, more important than the interests of state"
—*V. I Lenin*, Sochineniya (works) Moscow, 4th ed., 1950 XXVII, P. 342

नीति ने साम्यवाद के विश्व में प्रसार को गौण बना दिया था किन्तु भुलाया नहीं था।

२. राष्ट्रीय हित की साधना

सोवियत रूस में साम्यवाद की स्थापना के बाद जिस विदेश नीति का विकास हुआ उसने राष्ट्रीय हित को एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय हित के साथ एकाकार कर लिया। यह समझा जाने लगा कि विश्व में पूञ्जीवाद की समाप्ति एवं समाजवादी समाज की स्थापना ही सोवियत संघ का सबसे बड़ा हित है। एक बार लेनिन ने कहा था कि हमें अपनी क्रियाओं को इस ढंग से व्यवस्थित करना सीखना चाहिए कि हम सर्वहारा की तानाशाही को एक लम्बे समय तक बनाये रखने में समर्थ बन सकें। साम्यवादी व्यवस्था के अनुसार यहां देश की विदेश नीति केवल दल के हाथों में रहती है। यहां शक्ति का केन्द्रीकरण पहले दल में, उसके बाद नौकरशाही में तथा उसके बाद एक तानाशाह में हो जाता है। इस दृष्टि से यह कहना सच ही है कि सोवियत रूस की विदेश नीति एक राष्ट्रीय राज्य की नीति नहीं है वरन् यह सत्ताधारी वर्ग की सैद्धान्तिक एवं दलीय नीति है। दल का हित स्वाभाविक रूप से विश्व में अपना प्रसार करना है। विरोधी विचारधारा, अर्थव्यवस्था एवं मान्यताओं से पूर्ण पूञ्जीवादी प्रजातन्त्रों से घिरा हुआ सोवियत संघ निश्चय ही अपने किसी भी हित को प्राप्त नहीं कर सकता अतः यह उचित ही नहीं वरन् आवश्यक भी है कि सोवियत रूस साम्यवाद का प्रसार करे तथा पूंजीपति राष्ट्रों से अपने हितों की एवं स्वतन्त्रता तथा अखण्डता की रक्षा करने के लिए समाजवाद में विश्वास करने वाले राष्ट्रों का एक अलग से गुट बना ले।

३. एक नवीन साम्राज्य की स्थापना

पश्चिमी आलोचकों द्वारा सोवियत रूस की साम्यवाद के प्रसार की नीतियों को प्रायः उसकी साम्राज्यवाद की पुरानी परम्परा को कायम रखने का एक दूसरा तरीका बताया जाता है। अब्दुर्कमन अटोर्खानोव (Abdurakhman Avtorakhanov) का कहना है कि 'जारशाही रूस लक्ष्य क्षेत्रीय प्रसार था जो केवल यूरेशियन क्षेत्र की ओर ही निर्देशित था अतः यह स्थानीय प्रकृति का था। किन्तु सोवियत रूस का लक्ष्य सैद्धान्तिक है और इसलिए यह विश्वव्यापी है।"[1]

विश्व समाजवादी क्रान्ति के नाम पर सोवियत रूस एक नवीन प्रकार के साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विकास कर रहा है। यह पुराने तरीके के साम्राज्यवाद की पुनरावृत्ति नहीं है। यह राष्ट्रवाद से ऊपर है और

1. "The goal of Tsarist Russia was territorial expansionism, directed toward the Eurasian arena and therefore of a local nature. The goal of the USSR is ideological and therefore global."

—*Abdurkhman Avtorakhanov*, op. cit., P. 3

इस प्रकार एक क्रान्तिकारी विकास है। यह आर्थिक साम्राज्यवाद नहीं है वरन् विचारों का साम्राज्यवाद है। प्रारम्भ में यह कच्चे माल, बाजारों, मुफ्त के श्रम या पूञ्जी लगाने के स्थानों में रुचि नहीं लेता ताकि उन देशों पर यह एक निश्चित राजनैतिक तथा सैद्धान्तिक शासन जमा सके। पूञ्जीवादी साम्राज्यवाद अपने उपनिवेशों तथा अधीनस्थ लोगों पर अपनी व्यवस्था एवं विचारधारा को नहीं थोपता। किन्तु साम्यवादी साम्राज्यवाद मुख्यतः इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, अन्य बातें तो घटनावश हो सकती हैं। इस प्रकार अटोखानोव के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "सोवियत साम्राज्यवाद, साम्राज्यवाद का एक नया प्रकार है; यह अधिक गतिशील तथा अधिक सफल है। यह एक अजातीय साम्राज्यवाद है जो कि एक ऐसे शासकीय वर्ग की स्थापना कर देता है जो उस उपनिवेश की जनता का सोवियत नीतियों के लिए समर्थन पा सके और स्वयं उसके निरीक्षण का कार्य संभाल ले।"[1]

रूसी साम्राज्यवाद को भली प्रकार से समझने के लिए आवश्यक है कि हम अपने आपको रूस वालों की स्थिति में रख कर उन्हीं की आंखों से विश्व की ओर देखें। सोवियत साम्राज्यवाद स्टालिन के समय में भी संसार के लिए एक चुनौती बन गया था। खुश्चेव के आने पर स्टालिनवाद की बुरी तरह आलोचना की गई किन्तु उसे साम्राज्यवादी नहीं बताया गया क्योंकि ये नीतियां स्वयं खुश्चेव को भी अपनानी थी। क्रेन्कशा (Edward Crankshaw) का तो यहां तक कहना है कि सोवियत रूस एक देश नहीं है वरन एक साम्राज्य है।[2] रूस की विदेश नीति जिस साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखती है उसका उदाहरण विश्व के इतिहास में प्राप्त नहीं है। यह अपने प्रकार का अनूठा ही है। विश्व भर में मजदूर वर्ग का प्रभुत्व हो जाये तथा सारा संसार मास्को के नेतृत्व के आधीन रहे, यह रूसी साम्राज्यवाद का अन्तिम लक्ष्य है।

४. साम्राज्यवादी युद्धों को रोकना

वर्तमान विश्व के अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय विवाद एवं झगड़े चाहे वे बातचीत तक सीमित हों अथवा शस्त्रों का सहारा ले रहे हों, मुख्य रूप से पूञ्जीपतियों द्वारा ही पैदा किये जाते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े तब पैदा

1. "Thus Soviet imperialism is a new typical imperialism—more insidious, more dynamic, and ultimately more successful. It is a non-racial imperialism, which is oriented towards the creation of new governing classes to support its policy among the colonial peoples while retaining for its satraps an overall supervisory role."

होते हैं जबकि दो पूञ्जीपति देशों के हित परस्पर टकराते हैं। इन मुख्य हिस्सेदार भी पूञ्जीपति ही होते हैं। साम्यवाद का समर्थक नाते सोवियत रूस का यह विचार है कि इन झगड़ों में विजय भी वर्ग के लिए उतनी ही अनुपयोगी एवं हानिकारक है जितनी कि उस हार हानिकारक हो सकती है। इसलिए किसी भी कीमत पर मजदूर इन युद्धों में सहयोग नहीं देना चाहिए। सोवियत रूस की विदेश नं प्रयास करती है कि इस प्रकार के युद्धों के स्थान पर वर्ग युद्ध क ताकि पूञ्जीवाद को समाप्त करके सर्वहारा वर्ग शासन को अपने ले सके।

५. शान्तिपूर्ण-सह

स्टालिन के समय में रूस की विदेश नीति पश्चिमी गुट व तरह से विरोध करती थी तथा यह माना जाता था कि पूञ्जीवादं साम्यवादी देशों के बीच संघर्ष तथा युद्ध का होना अनिवार्य है। युद्ध के कोई भी पूञ्जीवादी देश अपनी शक्ति का त्याग नहीं करेगा। स्टालि विचार था कि जो लोग आगामी विश्व युद्ध के खतरे को टालने की दृ लेनिन के इस विचार को 'कि साम्राज्यवाद युद्ध को जन्म देता है' गलत हैं, वे स्वयं ही असत्य हैं। शान्ति की स्थापना के लिए चाहे कितने ही प्र किए जायें, वे सभी युद्ध तब तक नहीं रोक सकते जब तक कि पूञ्जी दुनियां में कायम है।

ख्रुश्चेव ने स्टालिन द्वारा अपनाई गई कठोर द्वेषपूर्ण विरोधी नी को थोड़ा नरम बनाया। साम्यवादी दल की २०वीं कांग्रेस में बोलते उन्होंने कहा था कि "उन्नीसवीं कांग्रेस से आज तक का जो समय गुजर है उसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गए हैं। जै शीतयुद्ध का छिड़ना, कोरिया तथा इन्डोचाइना में हिंसात्मक वारदातें, दो गुटों में तीव्र मतभेद के कारण सैनिक संगठनों का सूत्रपात जैसे नाटो, सीएटो वगदाद सन्धि आदि।" ये सन्धियां विश्व में पूञ्जीवादी प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए की गई हैं। इस समय तक विश्व स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो चुका था तथा दोनों ही गुटों के बीच एक अपूर्व संतुलन भी था। ख्रुश्चेव के मतानुसार इस संतुलन के रहते हुए विश्व युद्ध असंभव बन गया है। एक गुट दूसरे गुट की शक्ति की मात्रा तथा प्रतिक्रिया की सम्भावनाओं को देख कर उस पर आक्रमण करने का दुस्साहस कदापि न करेगा। शस्त्रों की दौड़ आज अपनी पूरी गति पर है। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त एक दूसरा मुख्य विकास यह हुआ कि पूञ्जीवादियों के साम्राज्य एवं उपनिवेश अब तक एक-एक करके स्वतन्त्र राष्ट्र बनते जा रहे हैं। इस नवीन समय में लेनिन की यह भविष्यवाणी सच हो गई है कि विश्व के भाग्य का निर्णय करने में पूर्व के लोग महत्वपूर्ण एवं सक्रिय भाग ले रहे हैं। एशिया और अफ्रीका के अविकसित एवं अर्धविकसित देशों का जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए बड़ी शक्तियों द्वारा सहायता योजनायें प्रारम्भ की जा रही हैं। यह विदेशी सहायता किसी शर्त पर दी जाती है। ख्रुश्चेव के मतानुसार शर्त यह है कि वे

देश उस गुट के सैनिक संगठन में बंध जायें तथा अमेरिका की विश्व-विजय ने पूर्ण विदेश नीति का समर्थन करें। गुटों से अलग रहने की पूर्वी देशों की नीति उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को बनाए रखने का प्रयास है। एक तीसरा मुख्य परिवर्तन यह है कि अर्धविकसित देशों तथा साम्यवादी देशों के बीच मैत्री सम्बन्ध दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रहा है।

इन सब परिवर्तनों के कारण विश्व में जिस प्रकार की स्थिति पैदा हो गई है उसमें सोवियत संघ द्वारा यह सोचा गया कि विदेश नीति को शक्ति एवं हिंसा पर आधारित न रख कर पश्चिमी देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति अपनायी जाय। हाइड्रोजन बम के आविष्कार के कारण 'विश्व युद्ध' विश्व विनाश का प्रतीक बन चुका है। अब पूञ्जीवाद को समाप्त करने तथा साम्यवाद का प्रसार करने के लिए शान्तिपूर्ण साधनों का सहारा लिया जाना चाहिए। ख्रुश्चेव के शब्दों में "लेनिन का विभिन्न समाज व्यवस्थाओं के साथ शान्तिपूर्ण-सहअस्तित्व का सिद्धान्त हमेशा ही हमारी विदेश नीति का मार्ग रहा है। यह कोई चालबाजी नहीं है वरन् सोवियत विदेश नीति का मौलिक सिद्धान्त है।"[1] रूस की विदेश नीति का यह विश्वास है कि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की प्रतियोगिता निश्चित रूप से समाजवाद को विजया बना देगी।

६. अमेरिका को नीचा दिखाना

विश्व की एक महान शक्ति होने के नाते सोवियत रूस के हित अन्य कुछ देशों के साथ भी टकरा सकते हैं किन्तु उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी तो वही हो सकता है जो उसे विश्व की एक मात्र महान शक्ति होने के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर सके। इस दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी है। अतः आर्थिक, राजनैतिक, सैनिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में उसे नीचा दिखाना सोवियत संघ की विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य बन गया है। समाजवाद के शत्रुओं को यह दिखाने के लिए कि श्रमिक वर्ग में अपना नवीन समाज बनाने की पूरी योजना है और निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत लाभ तथा प्राप्तियों के तथा कथित लाभों से वंचित रहते हुए भी वे अपने देश का उत्पादन बहुत कम समय में आशातीत स्तर पर ला सकते हैं, सोवियत रूस हर सम्भव प्रयास करता है। इसका कारण यह है कि अपनी उन्नत एवं सफल अर्थ-व्यवस्था के प्रति एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों को वह अमरीका के प्रभाव से खींच कर साम्यवादी छत्रछाया में ला सकता है। सोवियत रूस द्वारा स्टील का उत्पादन तथा उपयोग संयुक्त राज्य अमरीका से दुगुना किया जाता है तथा कृषि, दूध उद्योग आदि के क्षेत्र में भी वह तीव्र

---

1. "The Leninist principle of peaceful co-existence of states with different social systems has always been and remains the general line of our country's foreign policy—it is not a tactical move, but a fundamental principle of Soviet foreign policy."
—*N. S. Khruschev*, 20th Party Congress, 14 Feb 1956

गति से बढ़ता जा रहा है। उद्योग, विज्ञान, तकनीकी ज्ञान आदि क्षेत्रों मे प्राप्त की गई भारी सफलतायें पूञ्जीवादी व्यवस्था के विरुद्ध समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता की प्रभावशाली प्रमाण हैं। सोवियत रूस में विज्ञान ने जो प्रगति की है वह भी दर्शनीय है। ल्यूना–९ का चंद्रमा पर बिना खटके उतर जाना तथा रूसी उपग्रह का बदली से ढंके शुक्र ग्रह पर उतर जाना यहां के विज्ञान के उत्कृष्ट विकास के प्रति संसार के ध्यान को बरबस ही आकृष्ट कर लेते हैं। सन् १९५७ में खुश्चेव ने कहा था कि "हमारे देश की सारी सफलतायें सोवियत संघ के साम्यवादी दल की लेनिन की नीतियों को क्रियान्वित करने का परिणाम है।"[1] इस प्रकार अपने अभूतपूर्व विकास के परिणामों तथा प्रगति की सम्भावनाओं को दिखा कर सोवियत रूस पूञ्जीवादी व्यवस्था की सारहीनता तथा साम्यवादी समाज की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन करना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर सोवियत विदेश नीति इस बारे में सदैव जागरूक रहती है कि किसी देश विशेष अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर संयुक्त राज्य अमरीका का प्रभाव बढ़ने नहीं पाये।

सोवियत विदेश नीति के साधन
(The Means of Russian Foreign Policy)

जहां तक पश्चिमी विचारकों का प्रश्न है वे सभी प्रायः एकमत से यह स्वीकार करते हैं कि रूस में चाहे जारशाही रहे या साम्यवादी विचारधारा किन्तु अन्त में यही साबित हो जाता है कि सोवियत विदेश नीति शुद्ध रूप से स्थायी चालबाजी है, इसके अतिरिक्त यह कुछ भी नहीं है। सोवियत विदेश नीति अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जिन साधनों का प्रयोग करती है वे मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

(१) कुशल राजनीति

प्रत्येक देश की विदेश नीति के संचालन का प्रमुख साधन है 'कूटनीति' जिसके द्वारा वह अपने राष्ट्रीय हितों की तथा अन्य लक्ष्यों की साधना का प्रयास करती है। सोवियत संघ द्वारा विदेश नीति के इस साधन का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक कुशलता, जटिलता एवं सफलता से किया जाता है। यह कहा जाता है कि इसी कारण पश्चिमी देशों की कूटनीति ने अपना यह प्रमुख लक्ष्य बना लिया है कि वह रूसी विदेश नीति के उन परिवर्तनों (Deviations) का बारीकी से अध्ययन करे जो समय-समय अपने मुख्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साम्यवादी नेताओं द्वारा किये जाते हैं। सोवियत विदेश नीति चालबाजी (Tactics) से सुगमतापूर्वक काम ले सकती है क्योंकि वहां ऊंचे दर्जे की केन्द्रीकृत तानाशाही है जो कि आसानी

1. "All our country's successes are a result of the consistent application of the Leninist policy of the communist party of the Soviet Union."
—*N. S. Khruschev*, The Current digest of the Soviet Press (New York) Vol. IX, No. 2, 1957

से लोकमत को अपने पक्ष में कर सकती है। इस चालबाजी के पीछे बहुत जोरशोर तथा प्रभावशाली प्रचार का यन्त्र रहता है। इस यन्त्र के द्वारा देश में तथा विदेश में साम्यवाद को और इस प्रकार रूस के हितों का प्रचार किया जाता है। सोवियत रूस द्वारा अपनाई जाने वाली चालबाजी के मार्ग में अनेक बाधायें भी हैं जो वहां के लोगों की संदेहशील प्रकृति एवं कठोर नौकरशाही से पैदा होती है। इसके अतिरिक्त साम्यवादी विचारधारा एवं सैद्धान्तिक लक्ष्यों में एक स्थायित्व पाया जाता है अतः उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन बहुत सोच समझ कर ही किया जा सकता है।

(२) साम्यवादी दल

सन् १९१७ की क्रान्ति के बाद सोवियत रूस की विदेश नीति का प्रमुख साधन वहां का साम्यवादी दल बन गया। सन् १९१७ से राजनैतिक विकासों की जो प्रकृति रही है उसने सोवियत नेताओं को साम्यवादी दल का प्रयोग दूसरे देशों में साम्यवाद का प्रचार करने के लिए ही नहीं वरन् विदेश नीति के एक साधन के रूप में करने को प्रेरित किया।[1] कहा जाता है कि सन् १९४७ के प्रारम्भ में तथा सन् १९५० के वसन्त में फ्रांसीसी साम्यवादी दल को यह आदेश दिया गया था कि नाटो संधि के अधीन शस्त्रों के जो जहाज आयें उनको खाली करने में Savotage कर दे। सोवियत नीति को साधने में दूसरे देशों के साम्यवादी दल जो त्याग करते हैं उसकी एक सीमा होती है। इधर साम्यवादी क्रांति की सम्भावना के प्रति साम्यवाद का दृष्टिकोण भी बड़ी तीव्रता से बदल रहा है। रूसी क्रांति तो आज एक आदर्श बन गई है किन्तु सम्भावित क्रांति चैकोस्लोवाकिया की प्रकार की मानी जाती है जहां शासन सत्ता योग्यतम (Eliteguard) के हाथ में है तथा लाल सेना स्थित रहती है।

योरोप के द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही सोवियत रूस की यह नीति रही है कि वह स्पष्टतः दो भागों में बंट जाय तथा उसके अधिकतम भाग पर उसका सैनिक तथा राजनैतिक नियन्त्रण हो जाय। पूर्वी योरोप पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध तथा साम्यवाद का समर्थक है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये देश सोवियत संघ के अनुचर हैं। मार्शल टीटो ने मास्को का आधिपत्य स्वीकार करने से मना कर दिया है, यूनानी साम्यवादी सरकार पर अपना अधिकार नहीं कर पाये है। इस क्षेत्र में बल्कान राष्ट्रीयता का विकास सोवियत कूटनीति के लिए एक धक्का है जिसे वह अस्वीकार नहीं कर सकता।

लोह दीवार के पीछे से ही साम्यवादी दल को विदेश नीति के शस्त्र

---

1. "The nature of political developments since 1917 has led the Soviet leaders to use the communist parties abroad not to further communism in their countries but as instruments of Soviet policy"

—*R. S. Tarn*, op. cit., 1950

के रूप में पूरी तरह से प्रयुक्त किया गया है। जब साम्यवादियों ने फ्रांस व इटली की सरकार में भाग लेना प्रारम्भ किया तो रूस के साम्यवादी दल ने अपना हित साधने के लिए उन पर प्रभाव डाले ताकि वे आर्थिक एवं राजनैतिक पुनर्निर्माण के कार्य की गति को धीमा कर दें तथा मार्शल योजना और नाटो सन्धि को सफलतापूर्वक क्रियान्वित न होने दें। जर्मनी में भी साम्यवाद के नाम पर सोवियत रूस ने पूर्व और पश्चिम का विभाजन कर दिया है तथा उसका यह प्रयत्न रहता है कि पश्चिमी शक्तियों को पूरी तरह से जर्मनी से बाहर कर दिया जाय। जर्मनी का सोवियत रूस के लिए बहुत महत्व है। टार्न के शब्दों में—"'पूरी जर्मनी पर नियन्त्रण' सोवियत विदेश नीति के लक्ष्यों में प्रधान है और सोवियत संघ तब तक अपने आपको सुरक्षित नहीं मान सकता जब तक कि जर्मनी उसके नियन्त्रण से बाहर है।"[1]

(३) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें

सोवियत विदेश नीति मुख्य रूप से प्रचार के यन्त्र को प्रयुक्त करके विश्व राजनीति में आगे बढ़ती है। यह प्रचार देश में तथा विदेश में साम्यवादी दलों द्वारा किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन एवं संस्थाओं को यह अपने प्रचार के लिए एक प्रमुख केन्द्र बना लेती है। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रति सोवियत रुख उसकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण भाग है। कुछ विचारकों को इस बात में सन्देह है कि रूस ने 'सान फ्रांसिस्को चार्टर' पर हस्ताक्षर करते समय संघ के कार्यों में गम्भीरता-पूर्वक भाग लेने का लक्ष्य अपनाया भी था या नहीं। कारण यह है कि बहुत समय तक तो वह इसका तिरस्कार ही करता रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर सोवियत दृष्टिकोण को देखकर यह कहा जा सकता है कि सोवियत नेता जिस राष्ट्रीय सम्प्रभुता पर जोर देते हैं तथा दूसरे राष्ट्रों को संघ का अनुगामी न बनने की जो प्रेरणा देते हैं वह उसके असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण का द्योतक है। सोवियत नेता किसी भी गैर-साम्यवादी संस्था के नाम पर अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता को सीमित करने के पक्ष में नहीं हैं। इस कारण सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में सहयोग देना नहीं चाहता। इसके अतिरिक्त संघ की कार्यवाहियों के संचालन के लिए जो सूचना एवं विचारों का आदान-प्रदान आवश्यक है उसे रूस अपनी गुप्त नीति के कारण पूरी नहीं करता।

यद्यपि सोवियत संघ संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाहियों के सफल संचालन के लिए सहयोग नहीं करता तो भी रूस के लिए संयुक्त राष्ट्र का महत्व है। संयुक्त राष्ट्र संघ उसे एक ऐसा मंच प्रदान करता है जहां से वह

---

1. "The control of all Germany is evidently one of the prime aims of Soviet Foreign policy, and indeed the Soviet Union can never regard itself as secure in Europe so long as Germany is outside its control"

—*R. S. Tarn*, op. cit., 1950

पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध आक्रमण कर सके, अपने पक्ष को सामने रख सके. तथा किसी प्रकार का विधेयात्मक कदम उठाने से संघ को रोक सके। इस प्रकार थोड़ी असुविधा के द्वारा ही रूस को संघ से बहुत सारे लाभ प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि वह इसकी सदस्यता को जारी रखेगा और तब तक नहीं छोड़ेगा जब तक कि उसके राष्ट्रीय सम्मान पर कोई भारी मुक्का इसके द्वारा न लगाया जाये। संघ के अनेक अभिकरणों में जब भी रूस ने भाग लिया है वहां उसके सहयोग को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने केवल उन्हीं अभिकरणों में कार्य किया है जहां से वह बिना कुछ नुकसान उठाये पश्चिम को हानि पहुचा सके अथवा स्वयं ही कोई लाभ उठा सके।

(४) उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध

कभी वास्तविक रूप देकर उन्हें सच्चे हृदय से क्रियान्वित किया जाता है अथवा उनको केवल प्रचार एवं विदेश नीति का साधन ही बनाये रखा जाता है।

सोवियत विदेश नीति की विभाजक रेखा
(The demarcation line of Soviet Foreign Policy)

सन् १९१७ की अक्टूबर क्रांति से आज तक की सोवियत विदेश नीति को मुख्यतः पांच भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम काल १९१७ से १९२० तक का है जो सैनिकशाही से पूर्ण होते हुए भी कमजोर सोवियत राज्य का काल था। इस समय रूस को अनेक शक्तिशाली परन्तु अमैत्रीपूर्ण पूंजीवादी देशों का सामना करना पड़ा। सोवियत विदेश नीति का दूसरा काल १९२१ से १९३९ तक का है। इसमें सैनिक साहसों को छोड़कर सुरक्षात्मक नीति का अनुसरण किया गया। सोवियत विदेश सम्बन्धों का तीसरा काल १९३९ से १९४५ तक का है जबकि रूस ने प्रादेशिक एवं राजनैतिक विस्तार की नीतियां अपनायीं। स्टालिन के जीवन के अन्तिम वर्षों को सोवियत विदेश नीति का चौथा काल कहा जा सकता है। सोवियत विदेश नीति का पांचवां काल १९५३ से प्रारम्भ होता है जो कि अब तक चल रहा है। सोवियत रूस की विदेश नीति जो स्टालिन के समय में थी वह उसके बाद इतने क्रांतिकारी रूप में परिवर्तित होगई कि दोनों के बीच न केवल असमानतायें हैं वरन् अनेक विरोधी तथ्य भी लागये हैं। खुश्चेव के प्रधानमंत्रित्व में सोवियत रूस ने अनेक बार अपनाई गई नीतियों का बहिष्कार कर दिया। उसकी जड़ को पूरी तरह से खोद डाला गया। नीतियों के इस मूलभूत परिवर्तन का साम्यवादी चीन द्वारा घोर विरोध किया गया और यह माना गया है कि यह कार्य मार्क्स और लेनिन के मूल सिद्धांतों का उल्लंघन है और इस प्रकार संशोधनवाद का प्रवेश है। किन्तु रूसी नेताओं का मत था कि वे पहले परिस्थितियों के कारण कुछ विशेष उपायों एवं दृष्टिकोणों से चल रहे थे किन्तु अब वे सच्चे मार्ग के अनुसरणकर्ता बन गये हैं।

कारण वह मुफ्त में सम्मान प्राप्त करना चाहता है; यदि पश्चिमी देश इन प्रस्तावों को मान रहे होते तो रूस सम्भवतः इनको करने की भूल ही न करता। पिछले कुछ वर्षों से रूस इस दिशा में गम्भीरता पूर्वक कार्य कर रहा है।

हाल ही में सोवियत रूस के सुरक्षा मन्त्री श्री मेलिनोवस्की द्वारा सोवियत सेना और नौ सेना की चौथी वर्ष गांठ के अवसर पर की गई घोषणा के अनुसार रूस अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ायेगा। इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि अमरीकी साम्राज्यवादियों और उनके नाटो मित्रों द्वारा आक्रामक कार्यवाहियां बराबर बढ़ाई जा रही हैं जिससे शांति के लिए खतरा पैदा हो गया है। उन्होंने इस प्रसंग में वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप और पश्चिमी जर्मनी के शासक गुटों की सैन्यवादी नीतियों तथा अमरीका से सहायता प्राप्त करने के उनके स्वप्नों का उल्लेख किया है। सोवियत रूस की यह नीति उसकी अब तक की सैन्य नीतियों एवं घोषणाओं से भिन्न है और पिछले वर्षों में वह अपने सैन्य बल को कम करता रहा है तथा उसने शस्त्र नियन्त्रण, निःशस्त्रीकरण, आणविक शस्त्रों की रोक के लिए बराबर प्रयत्न किये हैं। इस प्रकार वह संसार पर यह प्रभाव डाल सका है कि उसकी नीति शांतिवादी है, वह शांति का हामी है तथा शस्त्रास्त्रों के नियन्त्रण का समर्थक है। उसने बराबर यह दावा किया है कि यद्यपि अमरीका अपनी सैन्य शक्ति व सैन्य व्यय बराबर बढ़ाने में मदद कर रहा है किन्तु फिर भी सोवियत रूस अपने सैन्य व्यय में कमी कर रहा है क्योंकि वह विश्व शांति, सहअस्तित्व एवं शांतिपूर्ण आर्थिक विकास का हामी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं घटना-चक्र ने कई बार ऐसी करवटें लीं जिससे शांति को खतरा पैदा हुआ किन्तु सोवियत विदेश नीति अपरिवर्तित रही किन्तु इस घोषणा ने विश्व को चकित करके चिन्ता में डाल दिया। कुछ विचारकों का मत है कि अमरीका की सैन्यवादी नीतियों ने ही रूस को भी अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने को विवश कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि शस्त्रीकरण की होड़ विश्व शांति के लिए सबसे अधिक खतरनाक चीज है किन्तु जब एक गुट शस्त्रीकरण कर रहा हो तो दूसरे को चुप बैठा रहने की सलाह नहीं दी जा सकती। विश्वशांति कायम रखने का उत्तरदायित्व इन दोनों महाशक्तियों के ऊपर है। ऐसी स्थिति में यह कहा जाता है कि अमरीकी द्वारा वियतनाम के मामले में सैन्य हस्तक्षेप करना और पश्चिमी जर्मनी को योरोप के लिए खतरनाक बनाना उचित नहीं था। यह ठीक है कि अमरीका भी तृतीय विश्व युद्ध नहीं चाहता किन्तु वह जिस प्रकार से अपना सैन्य प्रभाव बढ़ा रहा है, सैनिक गुटबन्दियां कर रहा है और सैन्य हस्तक्षेप कर रहा है, उससे कभी भी ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है कि कोई भी स्थानीय या क्षेत्रीय युद्ध बड़े युद्ध का रूप धारण कर ले। रूस सम्भवतः उसी स्थिति का सामना करने का प्रबन्ध कर लेना चाहता है। इन विचारकों का सुझाव है कि ऐसी परिस्थिति में उचित यही होगा कि निःशस्त्रीकरण के लिए फिर से नये प्रयत्न हों और जर्मनी व वियतनाम के मामलों को तय करने के लिए कोई शांतिपूर्ण रास्ता खोजा जाय। विश्व का भविष्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि निःशस्त्रीकरण योजनाओं को

कभी वास्तविक रूप देकर उन्हें सच्चे हृदय से क्रियान्वित किया जाता है अथवा उनको केवल प्रचार एवं विदेश नीति का साधन ही बनाये रखा जाता है।

सोवियत विदेश नीति की विभाजक रेखा
(The demarcation line of Soviet Foreign Policy)

सन् १९१७ की अक्टूबर क्रांति से आज तक की सोवियत विदेश नीति को मुख्यतः पांच भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम काल १९१७ से १९२० तक का है जो सैनिकशाही से पूर्ण होते हुए भी कमजोर सोवियत राज्य का समय था। उस समय रूस को अनेक शक्तिशाली परन्तु अमैत्रीपूर्ण पूंजीवादी देशो का सामना करना पड़ा। सोवियत विदेश नीति का दूसरा काल १९२१ से १९३९ तक का है। इसमें सैनिक साहसों को छोड़कर सुरक्षात्मक नीति का अनुसरण किया गया। सोवियत विदेश सम्बन्धों का तीसरा काल १९३९ से १९४५ तक का है जबकि रूस ने प्रादेशिक एवं राजनैतिक विस्तार की नीतियां अपनायीं। स्टालिन के जीवन के अन्तिम वर्षों को सोवियत विदेश नीति का चौथा काल कहा जा सकता है। सोवियत विदेश नीति का पांचवां काल १९५३ से प्रारम्भ होता है जो कि अब तक चल रहा है। सोवियत रूस की विदेश नीति जो स्टालिन के समय में थी वह उसके बाद इतने क्रांतिकारी रूप में परिवर्तित होगई कि दोनों के बीच न केवल असमानतायें हैं वरन् अनेक विरोधी तथ्य भी आगये हैं। खुश्चेव के प्रधानमंत्रित्व में सोवियत रूस ने स्तालिन द्वारा अपनाई गई नीतियों का बहिष्कार कर दिया। उसकी कब्र को पूरी तरह से खोद डाला गया। नीतियों के इस मूलभूत परिवर्तन का साम्यवादी चीन द्वारा घोर विरोध किया गया और यह माना गया है कि यह कार्य मार्क्स और लेनिन के मूल सिद्धांतों का उल्लंघन है और इस प्रकार संशोधनवाद का प्रतीक है। किन्तु रूसी नेताओं का मत था कि वे पहले परिस्थितियों के कारण कुछ विशेष उपायों एवं दृष्टिकोणों से चल रहे थे किन्तु अब वे सच्चे अर्थों में लेनिनवादी बन गये हैं।

स्टालिनवादी विदेश नीति
(Stalin's Foreign Policy)

पूर्वी योरोप में स्टालिन की सैनिक एव राजनैतिक साम्राज्यवादी नीतियां तथा देश एवं विदेश में मार्क्स-लेनिन के सिद्धांतों के अक्षरशः पालन पर जोर देना, तथा कभी समझौता न होने योग्य मनमुटावों का रहना शीत युद्ध को संस्थागत रूप देने का कारण बन गया। युद्ध के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में प्रजातंत्रात्मक चेकस्लोवाकिया सोवियत संघ तथा उसके युद्ध पूर्व के मित्रों के बीच एक जोड़ने वाली कड़ी बना हुआ था तथा यह आशा की जाती थी कि दोनों गुटों के बीच समझौता हो जायगा तथा सहयोग बढ़ेगा। किन्तु इस बीच की कड़ी के समाप्त होते ही आशायें समाप्त होगई तथा दोनों गुटों का विरोध स्पष्ट रूप से सामने आगया। स्टालिन के रूस का प्रमुख लक्ष्य योरोप में अपना प्रभुत्व स्थापित करना था।

जून १९४८ में दो महत्वपूर्ण घटनायें घटीं-एक थी बर्लिन का घेरा (Berlin Blockade) तथा दूसरी थी मार्शल टीटो द्वारा कोमिन्फार्म छोड़ देना। इन दोनों घटनाओं को स्टालिन की युद्धोपरान्त नीति की दो बड़ी भूल कहा जाता है। रूस की साम्यवादी पार्टी ने मार्शल टीटो की दल-विरोधी एवं रूस विरोधी नीतियों को मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद के विरुद्ध बताया और कहा कि यह राष्ट्रवाद से प्रभावित एवं पूंजीवाद की ओर झुका हुआ कृत्य है जिसका विश्व के मजदूर आन्दोलन पर गहरा एवं विपरीत प्रभाव पड़ेगा। स्टालिन ने टीटो को अपना समकक्ष मानने से इन्कार कर दिया तथा उसके साथ की गई व्यापारिक एवं राजनैतिक बातचीत के प्रति असंतोष प्रकट किया। रवीन्स्टीन (Alvin Z. Rubinstein) के शब्दों में 'टीटोवाद' सोवियत प्रभाव की प्रतिक्रिया से कुछ अधिक था। इसमें राष्ट्रवाद तथा साम्यवाद को एक ऐसी विचारधारा व आन्दोलन में मिला दिया गया जिसके विभिन्न रूपों में स्वतन्त्रता की बू थी, जो कि मास्को को स्वीकार नहीं थी।[1]

४ अप्रैल, १९४९ को उत्तरी अटलाण्टिक सन्धि संगठन पर हस्ताक्षर किये गये। सोवियत रूस द्वारा इसकी तीव्र आलोचना की गई। कहा गया कि रूस ने पूर्वी योरोप के देशों के साथ जो सन्धियां की हैं उनका लक्ष्य आत्म-रक्षा है किन्तु नाटो को आत्म-रक्षा के हित से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। यह तो स्पष्टतः उन देशों के विपरीत की गई थी जो ब्रिटिश अमरीकी गुट की आज्ञा का पालन नहीं करते तथा उसके विश्वव्यापी साम्राज्य के मार्ग में बाधा डालते हैं। यह सन्धि संयुक्त राष्ट्र संघ की आत्मा का हनन करती है। इस प्रकार सोवियत सरकार द्वारा नाटो को आक्रमणकारी पूंजीवाद की एक नवीन अभिव्यक्ति माना गया।

सुदूर पूर्व में स्टालिनवादी रूस के लक्ष्यों को जार्ज एफ० केनन (George F. Kennan) द्वारा वर्णित किया गया है। उनका कहना है कि रूस अब भी एशिया में कम से कम देकर अधिक से अधिक पाना चाहता है। मास्को के लक्ष्य हैं—(i) यदि पूर्णतः नहीं तो अंशतः एशिया की भूमि के कूटनीति एवं प्रादेशिक सम्पत्तियों पर अधिकार कर लेना जो जारों के समय में रूस के अधीन थी, (ii) केन्द्रीय एशिया में सोवियत सीमाओं के निकटवर्ती चीनी प्रान्तों पर अधिकार कर लेना और (iii) उस समय जापान द्वारा अधिकृत उत्तरी चीन के सभी क्षेत्रों पर पर्याप्त नियन्त्रण रखना ताकि विदेशी शक्तियों के पुनः हस्तक्षेप को रोका जा सके। रूस इस क्षेत्र से ब्रिटेन-अमेरिका

---

1. "Titoism' signifies more than a reaction against Soviet domination; it represents a fusion of nationalism and communism into an ideology and a movement having a variety of forms and can nothing a measure of independence not acceptable to Moscow."
—*Alvin Z. Rubinstein*, The Foreign Policy of the Soviet Union, P. 245.

सहित सभी बाहरी शक्तियों का प्रभाव हटाना चाहता था। दिसम्बर, १९४९ में माओ मास्को गये और दो माह तक रूस-चीन सम्बन्धों पर वार्ता होती रही।

१४ फरवरी, १९५० को तीन सन्धियों पर हस्ताक्षर किये गये। उनमें पहली सैनिक सन्धि थी जो स्पष्टत: संयुक्त राज्य अमेरीका के विरुद्ध की गई थी। दूसरी का सम्बन्ध मंचूरिया से था तथा तीसरी सन्धि के अनुसार रूस ने पांच वर्षों में चीन को ३० करोड़ डालर की राशि देना तय किया था। ये समझौते १९५४ में पुन: स्वीकार किये गये। कोरिया का युद्ध छिड़ने के बाद संयुक्त राज्य अमेरीका ने उत्तरी कोरियाई सेनाओं की वापसी में जब रूस का सहयोग मांगा तो उत्तर में रूस ने संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद को एक स्थायी सदस्य के अभाव में कार्य करने में अयोग्य बताया और संयुक्त राज्य अमेरीका के विरुद्ध प्रचार करते हुए उसे गृह युद्ध में हस्तक्षेप करने के लिए दोषी ठहराया। पश्चिमी विचारक कोरिया के युद्ध का पूरा उत्तरदायित्व स्टालिन के कन्धों पर डालते हैं क्योंकि उस समय उत्तरी कोरिया के साम्यवादी दल पर मास्को का नियन्त्रण था। रूस सोचता था कि दक्षिणी कोरिया भी शीघ्र ही साम्यवादी पंजे में आ जायगा किन्तु अमेरीका के युद्ध में कूदने पर उसे आश्चर्य हुआ।

कुछ लोग स्टालिन की विदेश नीति में रूढ़िवाद (Conservatism) की झलक पाते हैं। उनके अनुसार वह पश्चिम पर शक्ति के बल पर हावी नहीं होना चाहता था। उसने पश्चिमी शक्ति एवं सम्मान को नीचा गिराने तथा अपने साम्राज्य को शक्ति एवं स्थायित्व देने के प्रयास किये। अधिराज्यों में व्याप्त असंतोष के प्रति वह सजग था तो भी सोवियत शक्ति के विस्तार के प्रत्येक अवसर का उसने लाभ उठाया। १९५३ का वर्ष पश्चिमी विचारकों द्वारा सौभाग्यशील माना जाता है जबकि स्टालिन अपने नाम को छोड़ कर इस विश्व से सिधार गये। कहा जाता है कि स्टालिन ने रूस जैसे पिछड़े व अविकसित देश को दुनियां की महान औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति बना दिया तथा चंगेजखान और तैमूरलंग जैसा साम्राज्य स्थापित कर दिया। विदेश नीति के लक्ष्य, साधन एवं क्षमतायें निर्धारित करने में स्टालिन अद्वितीय था। केन्द्रीय समिति के कार्य पर दल की १८वीं कांग्रेस की रिपोर्ट में १० मार्च सन् १९३९ को स्टालिन ने सोवियत विदेश नीति की विशेषता में उसके साधन तथा तत्सम्बन्धी दल के कार्यों का उल्लेख किया था।

स्टालिन द्वारा सोवियत विदेश नीति के निम्न लक्ष्य तथा विशेषताओं का वर्णन किया गया—

(i) हम स्वतन्त्रता चाहते हैं तथा सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहते हैं। यह हमारी स्थिति है और इसका हम तब तक पालन करेंगे जब तक दूसरे देश ऐसा करेंगे और जब तक वे सोवियत हित को आंच न पहुंचायेंगे।

(ii) हम सभी पड़ौसी देशों के साथ जो सोवियत संघ के साथ समान सीमायें रखते हैं, शान्तिपूर्ण, घनिष्ट तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाना चाहते हैं। हम इस स्थिति को तब तक बनाये रहेंगे जब तक कि पड़ौसी देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सोवियत संघ की सीमाओं की एकता एवं अखण्डता को चुनौती नहीं दे देते।

(iii) हम उन देशों का समर्थन करेंगे जो कि आक्रमण का शिकार बने हैं अथवा जो अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे है।

(iv) हम आक्रमणकारियों की धमकी से नहीं डरते तथा युद्ध छेड़ने वाले के प्रत्येक मुक्के का जवाब दो मुक्कों से देने को तैयार रहते है।

ऐसी सोवियत संघ की विदेश नीति है।

स्टालिन का कहना था कि सोवियत संघ अपनी विदेश नीति के संचालन के लिए निम्न पर भरोसा करता है—

(i) इसकी बढ़ती हुई आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक शक्ति।
(ii) हमारे सोवियत समाज की नैतिक एवं राजनैतिक एकता।
(iii) हमारे देश के राष्ट्रों की अपनी मित्रता।
(iv) इसकी लाल सेना और लाल जहाजरानी।
(v) इसकी शान्ति की नीति।
(vi) सभी देशों के मजदूर लोगों का नैतिक समर्थन, जो कि शान्ति की सुरक्षा के लिए मुख्यतः सम्बन्धित हैं।
(vii) उन देशों की सद्भावना जो किसी भी कारण से शान्ति का उल्लंघन करने में कोई रुचि नहीं लेते।

विदेश नीति के क्षेत्र में दल के निम्नलिखित कार्य बताये गये—

(i) शान्ति की नीति को जारी रखना तथा सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों को मजबूत बनाना।

(ii) सदैव जागरूक रहना तथा अपने देश को युद्ध-प्रेमियों (War-mongers) के प्रयासों से संघर्ष में पड़ने से रोकना।

(iii) लाल सेना एवं लाल जहाजरानी की शक्ति को सत्ता के उच्च शिखर तक पहुंचा देना।

(iv) सभी देशों के मजदूर लोगों के मित्रता के अन्तर्राष्ट्रीय बन्धनों को दृढ़ करना जो शान्ति में तथा राष्ट्रों की मित्रता में रुचि लेते हैं।

स्टालिन की नीतियों को देख कर रविन्स्टीन के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "उसने पीटर महान की स्वेच्छाचारी परम्पराओं में शासन किया और सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था का पाश्चात्यीकरण कर दिया। विदेश नीति के क्षेत्र में उसने मुख्यतः विस्तारवादी जारों के पद-चिह्नों का अनुसरण किया। उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी परम्परा को निभाना पड़ेगा।"[1]

---

1. "He ruled in the autocratic tradition of Peter the Great and was ternized the economy of the Soviet Union; in the realm

५ मार्च, १९५३ को स्टालिन की मृत्यु के साथ रूसी विदेश नीति का एक युग समाप्त हो गया।

स्टालिन के बाद की सोवियत विदेश नीति
(Post-Stalin Soviet Foreign Policy)

स्टालिन के बाद तीन मुख्य विकासों ने सोवियत संघ की शक्ति को बढ़ा दिया। पहला विकास यह था कि पूर्वी योरोप में सोवियत साम्राज्य में स्थायित्व आ गया। दूसरे, सोवियत संघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढ़ने लगी। तीसरे, रूस के दक्षिणी क्षेत्र में उसका प्रभाव बढ़ने लगा। मध्य-पूर्व, दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव के क्षेत्र बन गये। विश्व का संतुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुक गया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य नहीं बढ़ा किन्तु सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी बढ़ गई जितनी कि यह पहले कभी न थी।

स्टालिन के उत्तराधिकारियों को जिन चुनौतियों का सामना करना था वे थीं—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना, पूर्वी योरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व पर पाश्चात्य स्वीकृति प्राप्त करना तथा जहां सम्भव हो सके वहां बिना सोवियत सुरक्षा को खतरे में डाले देश की शक्ति का विस्तार करना। साम्राज्य की रक्षा करना उसे प्राप्त करने से अधिक कठिन होता है इसलिए उन्होंने इनको स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की, आर्थिक सम्बन्धों को कम शोषणयुक्त बनाया तथा जीवन-स्तर के आधुनिक विकास को प्रोत्साहन दिया। स्टालिन के बाद सोवियत रूस को बर्लिन समस्या का सामना करना पड़ा, साम्यवादी चीन के साथ इसका सैद्धान्तिक विवाद बढ़ा, मार्शल टीटो के साथ मतभेदों में उतार चढ़ाव आया, पोलैण्ड और हंगरी में क्रान्तियां हुयीं तथा एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं संघर्ष हुए और इन सबके कारण सोवियत संघ की विदेश नीति के चक्र की गति काफी तेज हो गई।

प्रधान मन्त्री खुश्चेव के शासन काल में सोवियत विदेश नीति पर से स्टालिन की छाया को हटाने के प्रयास किये जाने लगे। २०वीं पार्टी कांग्रेस की विशेष रिपोर्ट में खुश्चेव ने स्टालिन युग में किये गये अपराधों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार "स्टालिन इस प्रकार से व्यवहार करता था मानो वह सब कुछ जानता है, सब कुछ देखता है, सबके लिए सोचता है, सब कुछ कर सकता है तथा वह कभी भी गलती नहीं कर सकता। वह अपने आपको

---

of Foreign Policy, he followed in the foot steps of the most expansionist of Czars. His successors have sought to maintain his tradition."

—*Alvin Z. Rubinstein*, The Foreign Policy of Soviet Union, P. 253.

ईश्वर मान कर चलता था। उसका व्यवहार अमानवीय एवं हिंसात्मक था।" स्टालिन कभी भी समझा-बुझा कर काम नहीं लेता था किन्तु वह अपनी मान्यताओं को लादता था तथा अपने मतों पर पूर्ण समर्पण की मांग करता था। स्टालिन ने एक बार खुश्चेव से मार्शल टीटो के प्रति रोष प्रकट करते हुए कहा था कि "मैं अपनी छोटी अंगुली उठा दूंगा और टीटो नहीं रहेगा, वह गिर जायेगा।"[1]

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व
(Peaceful Co-existence)

स्टालिन की नीतियों के बाद सोवियत रूस की नीतियां पश्चिमी देशों के प्रति कुछ कम सख्ती का व्यवहार करने लगीं। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व अब रूसी विदेश नीति का आधारभूत सिद्धान्त बन गया। वैसे खुश्चेव का तो यह दावा था कि अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं से पूर्ण देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लेनिन के सिद्धान्त को सोवियत रूस की विदेश नीति प्रारम्भ से ही अपनाती चली आ रही है। यह कहा जाता है कि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त सोवियत नीति की एक चाल है तथा अवसर के प्रति अनुकूलता है किन्तु रूसी नेता इसका विरोध करते हैं तथा कहते हैं कि यह तो मानी हुई बात है कि सोवियत संघ शक्ति में आते ही शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए पूरी दृढ़ता से कार्य करने लगा, यह तो रूसी विदेश नीति का मौलिक सिद्धान्त है। इस नीति का अर्थ यह है कि यदि विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था वाले देशों के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को धमकी दी गई तो इसे देने वाला सोवियत संघ न होगा और न ही शेष साम्यवादी गुट। इसका कारण यह बताया जाता है कि किसी भी साम्यवादी को युद्ध छेड़ने में रुचि हो ही नहीं सकती है क्योंकि वहां किसी प्रकार का वर्गभेद नहीं है जो कि युद्ध के द्वारा अपने आपको समृद्धिशील बनाने का स्वप्न देखे। कहा जाता है कि सोवियत रूस युद्ध नहीं छेड़ सकता क्योंकि उसने वर्ग-भेदों को मिटा दिया है, उसके पास क्षेत्र एवं प्राकृतिक साधन बहुत हैं। कच्चा माल काफी है, माल की खपत के लिए बाजार भी बहुत है।

सिद्धान्त रूप में भी युद्ध सोवियत संघ के लिए तिरस्कृत है क्योंकि इसमें लाखों का खून बहाने के बाद केवल कुछ को उसका लाभ भोगने का अवसर प्राप्त होता है। युद्ध समाजवाद के विपरीत है तथा व्यक्तिवाद एवं पूंजीवाद की निशानी है। इन सभी तत्वों को जानते हुए भी साम्यवादी आक्रमण की कल्पना करने वालों के बारे में सोवियत संघ का यह विचार है कि ये लोग ऐसा करके अपनी विश्व विजय की योजनाओं तथा शान्ति, प्रजातन्त्र एवं समाजवाद की हत्यापूर्ण कार्यवाहियों पर पर्दा डालने के लिए

---

1. "I shall shake my little finger-and there will be no more Tito. He will fall."

—*Stalin.*

ऐसा करते हैं। सोवियत रूस पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह दूसरे देशों में हिंसात्मक क्रांतियों के लिए प्रेरणा प्रदान करता है ताकि वहां से पूञ्जीवाद को खदेड़ा जा सके किन्तु प्रधान मन्त्री खुश्चेव का कहना है कि यद्यपि हम साम्यवादी पूञ्जीवाद का विरोध करते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इमने उन देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया है अथवा हस्तक्षेप करने की योजना बनाई है जहां कि अभी तक पूञ्जीवाद स्थित है। इस सम्बन्ध में रूसी नेता रोमा रोला (Romain Rolland) के इस कथन में विश्वास प्रकट करते हैं कि "स्वतन्त्रता बाहर से थोपी नहीं जा सकती वह तो स्वयं ही पैदा होती है। इसे विदेशों से रेलों के डिब्बों में भर कर नहीं मंगाया जा सकता।"

सोवियत नेता दो व्यवस्थाओं के बीच शान्तिपूर्ण सम्बन्धों में विश्वास करते हैं। किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि वे साम्यवाद के लिए लड़ रहे हैं तथा उनका दावा है कि यह सभी देशों में आ कर रहेगा। इसीलिए कुछ विचारकों द्वारा यह संदेह किया जाता है कि जब सोवियत संघ साम्यवाद के लिए लड़ रहा है तो उसके साथ शान्तिपूर्वक कैसे रहा जा सकता है। परन्तु इस प्रकार की आलोचना का लक्ष्य साम्यवादियों की दृष्टि में केवल बुर्जुआ प्रचार है। वे इस तथ्य को जानते हुए भी भुला देते हैं कि यह लड़ाई बन्दूकों व बमों की नहीं वरन् सिद्धान्तों की है। ऐसा वे इसलिए करते हैं ताकि सोवियत रूस को आक्रामक देश घोषित कर सकें। समाजवाद की विजय का अर्थ तो यह है कि उत्पादन का समाजवादी तरीका पूंजीवादी उत्पादन के तरीके से अधिक लाभदायक है यह सिद्ध हो जाये।[1] जब विश्व के मजदूरों को साम्यवाद के गुणों का परिचय प्राप्त हो जायगा तब निश्चय ही वे समाजवादी समाज की स्थापना कर लेंगे।

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का अर्थ यही है कि पूञ्जीवादी तथा साम्यवादी दोनों व्यवस्थायें साथ-साथ रहें तथा अपने गुणों से प्रभावित करके साम्यवादी व्यवस्था विश्व भर में व्याप्त हो जाय। वे शक्ति एवं युद्ध का सहारा लिए बिना ही यह मानते हैं कि एक देश में समाजवाद की स्थापना उसका अपना आन्तरिक विषय है जिसके बारे में रूस कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का अर्थ दो भिन्न समाज व्यवस्थाओं के साथ-साथ रहने से कुछ अधिक है। आगे बढ़ने के लिए तथा सम्बन्धों को अच्छे बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देशों के बीच विश्वास को मजबूत किया जाय और उनके बीच सहयोग की स्थापना की जाय। अणु-शस्त्रों के विकास ने युद्ध को एक असम्भव साधन बना दिया है। अणु-बम सारी मानव जाति के लिए ही

एक चुनौती बन गये हैं। पूर्वी और पश्चिम के इस विरोध का एक मात्र सुझाव है—शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व। किन्तु इस मान्यता का अर्थ यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि अब साम्यवादी देश पश्चिम के साथ मित्रता कर लेंगे। असल में शान्ति को भी साम्यवादी एक संघर्ष मानते हैं। युद्ध एवं शान्ति में केवल साधनों का अन्तर है दोनों का साध्य तो एक ही है। दूसरे शब्दों में शान्ति का अर्थ केवल सैनिक संघर्ष का अभाव है। इसे मानते समय साम्यवादी लोग विश्व क्रांति के विचार को छोड़ नहीं देते वरन् कुछ समय के लिए टाल देते हैं तो भी समान लक्ष्यों के लिए सैद्धान्तिक झगड़ा चलता ही रहेगा। दरअसल में उसके शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को पूरी तरह से समझने के लिए शेपिलोव (Shepilov) के शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है। वे कहते हैं—"क्रांतिपूर्ण सहअस्तित्व संघर्ष-विहीन जीवन नहीं है। जब तक विभिन्न प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थायें कायम रहेंगी उनके बीच मनमुटाव होना अपरिहार्य है। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व एक राजनैतिक, आर्थिक एवं सैद्धान्तिक संघर्ष है। सहअस्तित्व का अर्थ है कि एक देश दूसरे के साथ लड़ता नहीं है, वह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को हथियारों से सुलझाने का प्रयत्न नहीं करता है किन्तु शान्तिपूर्ण कार्यों तथा आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं द्वारा प्रतियोगिता करता है। हम यदि जीवन के मूलभूत नियमों को अर्थात् वर्ग-संघर्ष के नियमों को भुला देंगे तो हम मार्क्सवादी व लेनिनवादी नहीं रह जायेंगे।"[1]

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति ने सोवियत संघ में किसी प्रकार का घरेलू परिवर्तन नहीं किया है। किन्तु इस सिद्धान्त के आधीन रूसी विदेश नीति में कुछ लचीलापन (Flexibility) अवश्य आ गया है। नेहरू द्वारा प्रतिपादित पंचशील के पांच सिद्धान्तों को विश्व के सभी राज्यों के शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की नींव माना गया।

सोवियत संघ और अमरीकी विदेश नीति
(Soviet Union and American Foreign Policy)

अमरीका सोवियत रूस का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी है और इसी कारण दोनों के हितों का परस्पर टकराना भी स्वाभाविक है। संयुक्त राज्य अमरीका

---

1. "Peaceful co-existence is not a conflictless life. As long as different Social-Political Systems continue to exist. the antagonisms between them are unavoidable. Peaceful co-existence is a struggle political, economic and ideological.. Co-existence means that one does not fight the other, does not attempt to solve international disputes by arms but that one competes through peaceful work and economic and cultural activities. But we would cease to be Marxist-Leninists if we forgot the elementary laws of social life, the laws of class struggle."

—*Shepilov*, Pravda, 13th February, 1957.

ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, नाटो आदि अनेक सैनिक गठबन्धनों द्वारा साम्यवाद के प्रसार को रोकने का हर सम्भव प्रयत्न करता है। इन सभी प्रयत्नों के प्रति सोवियत प्रतिक्रिया बहुत कटु हुई है। नाटो-सन्धि संगठनों को उसने साम्राज्यवाद के गढ़ कहा है जिनका लक्ष्य पूञ्जीवाद के हितों की रक्षा करना है। ट्रूमैन सिद्धान्त (Truman Doctrine) की १३ मार्च, १९४७ को सोवियत पत्र इजवेत्सिया ने बड़ी आलोचना की। इस सिद्धांत के अधीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने १२ मार्च, १९४७ को कांग्रेस से ४० करोड़ डालरों की मांग की ताकि टर्की व यूनान को तुरन्त सहायता दी जा सके। यूनान में जो दिवालियेपन की हालत हुई तथा आर्थिक सङ्कट आया उसका कारण वहां स्थित ब्रिटिश फौजों की अतियां था। अमरीकी राष्ट्रपति ने अपने संदेश में ब्रिटेन की आलोचना में एक शब्द भी न कहा। रूसी मतानुसार इसका कारण यह था कि स्वयं अमरीका भी वहां इन्हीं नीतियों को अपनाना चाहता था। अतः इस कार्यक्रम से किसी अच्छे परिणाम की आशा न थी। दूसरे, यूनान की सहायता संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से की जानी थी किन्तु अमरीका इतनी उतावली में था कि उसने सुरक्षा परिषद द्वारा यूनान को भेजे गये आयोग की प्राप्तियों की भी प्रतीक्षा न की। तीसरे यह कार्य यूनान की सम्प्रभुता के विपरीत था। सहायता के नाम पर अमरीका यूनान की स्वतन्त्रता एवं सम्प्रभुता को अपनी मुट्ठी में करना चाहता था। इसी प्रकार टर्की को सहायता देने का कारण बताते हुए कहा गया कि यह टर्की की प्रादेशिक अखंडता की रक्षार्थ आवश्यक है। किन्तु सोवियत मतानुसार टर्की की अखण्डता को वास्तव में किसी ने भी धमकी न दी थी। यह सहायता भी इस देश को अमरीका की मुट्ठी में लाने को दी जा रही थी। असल में टर्की का अमरीका के लिए सैनिक महत्व बहुत था। ट्रूमैन सिद्धान्त इस बात का प्रतीक माना गया कि अमरीका दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगा है। साम्यवाद का डर दिखा कर वह ठीक उसी प्रकार अपना उल्लू सीधा कर रहा है जैसे कि तानाशाह हिटलर किया करता था।

मार्शल योजना पर भी सोवियत संघ ने इसी प्रकार के विरोधी विचार प्रस्तुत किये। १८ सितम्बर, १९४७ को संघ की महासभा में बोलते हुए एन्ड्री विशिंस्की (Andrei Vyshishky) ने कहा था कि "तथाकथित ट्रूमैन सिद्धान्त तथा मार्शल योजना विशेषतः उस ढंग एवं मार्ग के उदाहरण हैं जिसमें कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों को तोड़ा जाता है और संगठन की अवहेलना की जाती है।"[1] सोवियत रूस द्वारा मार्शल योजना की जो आलोचनायें की गयीं वे निम्न प्रकार थीं—

(१) मार्शल योजना के अधीन सहायता के नाम पर संयुक्त राज्य अमरीका योरोप पर अपना प्रभाव जमाना चाहता है। देशों की व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार दी जाने वाली यह सहायता अमरीका के राजनैतिक

1. "The so-called Truman Doctrine and the Marshall Plan are particularly glaring examples of the manner in which the principles of the United Nations are violated, of the way in

दबाव का एक साधन बन जायगी तथा टर्की एवं यूनान की भांति उनकी स्वतंत्रता एवं प्रभुसत्ता पर बुरा प्रभाव डालेगी।

(२) यह सभी को अधिक से अधिक सिद्ध होता जा रहा है कि मार्शल योजना का क्रियान्वित होने का अर्थ होगा योरोप के देशों को अमरीका के राजनैतिक तथा आर्थिक नियन्त्रण में रख देना तथा अमरीका द्वारा इन देशों के आन्तरिक मामलों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करना।

(३) मार्शल योजना योरोप को दो गुटों में विभाजित कर देगी। ब्रिटेन एवं फ्रान्स के सहयोग से एक गुट बनेगा जो कि पूर्वी योरोप के देशों, मुख्यतः सोवियत संघ का विरोधी होगा।

(४) यह योजना पूर्वी योरोप के देशों को पश्चिमी देशों के गुट में मिलाने की एक चाल है।

(५) यह योजना संयुक्त राष्ट्र संघ के मौलिक सिद्धान्तों के साथ बिल्कुल भी मेल नहीं खाती है।

सोवियत रूस तथा अर्ध-विकसित देश

[The Soviet Union and under-developed Countries]

प्रथम विश्व युद्ध से और मुख्यतः १९४५ से ही राष्ट्रवाद दो तिहाई विश्व की, जिसे कि प्रायः अविकसित क्षेत्र कहा जाता है, अस्थिरता एवं परेशानी का कारण बना हुआ है। सोवियत संघ के नेताओं ने इस क्षेत्र का महत्व बहुत पहले ही जान लिया था और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद साम्यवाद इन क्षेत्रों में राजनैतिक प्रगति करने में सफल हो गया। चीन में साम्यवादियों की विजय इस प्रक्रिया का मुख्य उदाहरण है। लेनिन कहा करते थे कि पेरिस की सड़क कलकत्ता और बम्बई होकर जाती है। अर्ध-विकसित देशों के प्रति सोवियत दृष्टिकोण लेनिन की साम्राज्यवाद की धारणा से प्रकट होता है। उनका कहना था कि पूञ्जीवाद पर दोनों तरफ से आक्रमण किया जाना चाहिये। एक ओर तो पिछड़े देशों के निवासी उपनिवेशवादी शक्तियों को उखाड़ फेंके और दूसरी ओर पूञ्जीवादी देशों के मजदूर लोग पूञ्जीवाद को अन्दर से खोखला कर दें। इस दोहरी मार के कारण पूञ्जीवाद समाप्त हो जायगा।

इन पिछड़े देशों पर साम्यवाद का सैद्धान्तिक प्रभाव भी रहता है क्योंकि यह राष्ट्रीय आत्मनिर्णय पर जोर देता है तथा स्वर्णिम भविष्य का वायदा करता है। एक देश जिस पर कि लम्बे समय तक विदेशी नियन्त्रण रहा है तथा जो गरीबी, आर्थिक पिछड़ाव और पूञ्जीवादी जनता से उत्पन्न समस्याओं से ग्रस्त है वह साम्यवाद की ओर जल्दी ही झुक जायगा क्योंकि यहां उसे आर्थिक विकास एवं राजनैतिक शक्ति के लिये सीधा, सरल एवं

---

which the organisation is ignored."
—*Andrei Vyshinsky*; UN General Assembly, Official Records, Sep. 18, 1947 P. 86.

प्रभावशाली रास्ता मिल जाता है। रूस स्वयं ही एक पिछड़ा हुआ देश था किन्तु साम्यवाद के सहारे बहुत कम समय में ही उसने इतनी प्रगति कर डाली कि विश्व की महान् शक्ति बन गया। साम्राज्यवाद को कमजोर बनाने के लिए लेनिन ने विकसित देशों की सर्वहारा शक्ति एवं उपनिवेश तथा अर्ध-उपनिवेश देशों की क्रान्तिकारी शक्तियों के बीच सन्धि का प्रस्ताव किया था।

लेनिन की दुधारी योजना का लक्ष्य पश्चिम को पूर्व के श्रम एवं साधनों से वंचित रखना तथा अविकसित क्षेत्रों में साम्यवादी दल का प्रभाव बढ़ाना था। सन् १९४५ से पूर्व के अर्ध विकसित देशों में सोवियत अनुभव से कुछ नीति सिद्धान्त निकले—(अ) अर्ध-विकसित सोवियत विचार प्रणाली पर बहुत गहरा एवं महत्वपूर्ण असर डाला है। सोवियत रूस ने पूञ्जीवाद को समाप्त करने तथा सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुधारने में इन क्षेत्रों को महत्वपूर्ण माना। (ब) इन क्षेत्रों के राष्ट्रीय आन्दोलनों को इस कारण उपयोगी माना गया क्योंकि ये पूञ्जीवादी शक्तियों को कमजोर करते थे तो भी इन्हें लोक-भावनाओं के एकाधिकार की छूट न दी गई। साम्यवादी एवं राष्ट्रीय शक्तियों के बीच दीर्घगामी हित को ध्यान में रख कर अस्थायी सन्धि का सुझाव दिया गया। (स) सोवियत संघ विश्व समाजवाद का आधार है अतः विश्व के सर्वहारा आन्दोलन का यही नेतृत्व करेगा। रूस के हितों के विरुद्ध किसी भी स्थिति को सहन नहीं किया जायगा। स्थानीय साम्यवादी दलों को अपनी चाल एवं नीतियां सोवियत आवश्यकताओं के अनुसार बदलने एवं समायोजित करने को सदैव तैयार रहना चाहिये।

सोवियत रूस के मत में जिन देशों पर विदेशी शासन है वे उपनिवेशवादी देश हैं; जहां राजनैतिक स्वतन्त्रता होने पर भी आर्थिक रूप से पश्चिम पर आश्रित हैं वे अर्ध-उपनिवेशवादी देश हैं तथा जो आर्थिक दृष्टि से साम्यवादी देशों पर आश्रित हैं वे आश्रित देश (Dependent Countries) हैं। अर्ध-विकसित देशों के प्रति लेनिन की जो नीति रही उसे स्टालिन द्वारा बहुत समय तक निभाया गया। बुर्जुआ सरकारों तथा आन्दोलनों के प्रति सोवियत दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक बार कहा था—"पूञ्जीवादी शोषण की स्थिति में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों में जो क्रान्तिकारी प्रकृति पैदा होती है वह यह नहीं मानती कि इस आन्दोलन में सभी आवश्यक सर्वहारा तत्वों का अस्तित्व होगा या क्रान्तिकारी गणतन्त्रात्मक योजना होगी या प्रजातन्त्रात्मक नींव होगी।"[1] स्टालिन भी

---

1. "The revolutionary character of national movement in the condition of imperialist oppression does not presume at all the necessary existence of proletarian elements in this movement, of a republican programme or of a democratic foundation."

—*Josef Stalin*, Sochinenila, P. 144.

लेनिन की भांति यह मानता था कि 'राष्ट्रीय तत्व' जहां तक 'स्वतन्त्रता' के लिए संघर्ष का एक तत्व है इसे क्रान्तिकारी तत्व माना जा सकता है। स्टालिन के बाद भी यह स्वीकार किया गया कि इन उपनिवेशों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में समाजवादी देशों से चाहे कैसा भी अन्तर वर्तमान हो, उनके शान्ति एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के प्रयत्नों ने पूञ्जीवाद के संकट को गहरा कर दिया है, पूञ्जीवादी उपनिवेशों को असंगठित बना दिया है तथा सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद, शान्ति एवं प्रजातन्त्र की जड़ें मजबूत की हैं।

अर्ध-विकसित देशों के प्रति वर्तमान नीति
[The present policy towards Underdeveloped countries]

अर्ध-विकसित देशों के प्रति अपनी नीति को बुलगानिन एव खुश्चेव ने सन् १९५५ की भारत, बर्मा एवं अफगानिस्तान की अपनी यात्रा के दौरान दिये गये भाषणों में व्यक्त किया है। इस नीति के प्रमुख लक्ष्य हैं—(i) भूतपूर्व उपनिवेशी अथवा अर्ध-उपनिवेशी देशों के सन्देह एव राष्ट्रीय सम्मान का अच्छी प्रकार ध्यान रखते हुए इनके प्रति पूरी तरह मित्रता एव सौहार्द दिखाना; (ii) इन देशों के पश्चिम के साथ अतीत के कटु सम्बन्धों का फायदा उठाते हुए इन्हें पश्चिम से और भी विमुख बना देना; (iii) न केवल उपनिवेशवाद विरोधी वरन् जातिवाद विरोधी प्रवृत्तियों को भी उभाड़ना; (iv) राजनैतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना; औद्योगीकरण के द्वारा उनकी अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित करने की महत्वाकांक्षा को सहारा देना, (v) हो सके तो सोवियत सहायता एवं पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्धों की ओर उनको झुकाना; (vi) प्रत्येक झगड़े को उकसाना जो कि वे पश्चिम के साथ रख सकते हैं; (vii) विदेशी पूञ्जी या सहायता को उनकी स्वतन्त्रता एवं सम्मान के विरुद्ध बता कर सन्देह की भावना फैलाना; (viii) उनकी आंखों के सामने सोवियत रूस के तीव्र औद्योगीकरण को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

सोवियत संघ के शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन हैं—अफ्रीका, एशिया एवं लेटिन अमरीका। शेपिलोव (Shepilov) ने पूर्व के सम्बन्ध में कहा था कि सोवियत जनता पूर्वी राष्ट्रों के समाप्त होते हुए उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वार्थहीन संघर्ष को प्रेम तथा सहानुभूति से सम्मान प्रदान करती है। उन्होंने एक बार कहा था कि हमारा विश्वास है कि प्रत्येक जनता (People) को उसकी राष्ट्रीय स्वाधीनता, स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्णय को कभी न छीना जाने वाला अधिकार है, असंलग्न देशों के प्रति स्टालिनवादी रुख पूरी तरह बदल दिया गया। भारत, बर्मा, अफगानिस्तान आदि देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का सूत्रपात किया जाने लगा। यह आशा की गई कि इनसे शान्ति का क्षेत्र (Zone of Peace) विस्तृत होगा। यह कहा गया कि समाजवाद के देश,

भारत गणराज्य, इन्डोनेशिया, बर्मा संघ, मिस्र और दूसरे पूर्वी राष्ट्रों ने सक्रिय रूप से शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का रास्ता अपनाया है और इस प्रकार शांति का क्षेत्र व्यापक हो गया है।

पार्टी कांग्रेस के २०वें अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए खुश्चेव ने सोवियत रूस की विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों का वर्णन किया; उनमें एक यह भी था कि उन देशों का समर्थन करना जिन्होंने किसी गुट में शामिल होने से मना कर दिया है। कुल्स्की (Kulski) महोदय के मत में "असंलग्न देशों के प्रति सोवियत ध्यान मुख्यत: केन्द्रित है। भारत, इन्डोनेशिया और संयुक्त अरब गणराज्य इस ध्यान के मुख्य आधार हैं किन्तु प्रत्येक के साथ सम्बन्धों के कारण समान नहीं हैं।"[1] भारत द्वारा बगदाद सन्धि एवं सीएटो का जो विरोध किया गया वह भी सोवियत रूस की रुचि के अनुकूल था। मिस्र को रूस द्वारा निकट पूर्व में पूञ्जीवाद के विरोध की मूल कुञ्जी माना जाता है। सोवियत संघ का एक भी उपनिवेशवादी देश मित्र नहीं है क्योंकि प्राय: वे सभी नाटो सन्धि के सदस्य हैं। यही कारण है कि यह उपनिवेशवादी देशों के विरुद्ध बिना किसी खतरे के ही एशिया तथा अफ्रीका के देशों का समर्थन कर सकता है। नवम्बर, १९५५ में खुश्चेव ने पुर्तगाल के विरुद्ध गोवा पर भारत के दावे का समर्थन किया। अर्धविकसित देशों में साम्यवादी क्रान्ति कराने का हर सम्भव प्रयास किया गया। क्रान्ति के समय राष्ट्र-वादी एवं साम्राज्य विरोधी अन्य शक्तियों के साथ भी साम्यवादी तत्व सन्धि कर लेते हैं किन्तु क्रान्ति के बाद धीरे-धीरे इन तत्वों को नीचा दबाया जाता है। औद्योगीकरण के नाम पर उपनिवेशों की जनता को साम्यवाद की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाता है। इन देशों को सोवियत संघ द्वारा आर्थिक ऋण दिया जाता है, तकनीकी सहायता दी जाती है तथा उनके साथ घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध रखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त अफ्रीकी एशियाई एकता सम्मेलनों में भी सोवियत रूस द्वारा सक्रिय रूप से योगदान किया जाता है।

इस बात में सन्देह नहीं कि सोवियत संघ ने कुछ ऐसे नारे चुन लिए हैं जिनके द्वारा वे अफ्रीका तथा एशिया के देशों की सद्भावना स्वयं ग्रहण कर सकते हैं। ये नारे वैसे तो बहुत पहले ही चुन लिए गये थे किन्तु कैरो सम्मेलन में इनका प्रयोग पूरी तरह किया गया था। उदाहरण के लिए जातीय भेदभाव की भावना का तिरस्कार एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए पन्चशील की मान्यता, उपनिवेशवाद का विरोध तथा 'तैवान' चीन को, 'गोवा' भारत को, 'दक्षिणी इरियान' इन्डोनेशिया को देने की बात कही

---

1. "Soviet attention is mainly concentrated on the uncommitted nations. On India, Indonesia and the United Arab Republic in particular and the reasons are not the same in each case."

—*Waldyslaw W. Kulski*, Peaceful Co-existence. P. 234

गई। साइप्रस (Cyprus) में आत्मनिर्णय के लिए जोर दिया गया तथा अल्जीरिया एवं अफ्रीका के सभी उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान करने को कहा गया। इसके अतिरिक्त सभी सैनिक एवं कूटनीतिक संगठनों का विरोध किया गया, चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने की मांग की गई, कोरिया एवं वियतनाम के एकीकरण की बात कही गई। अणु परीक्षणों को बिना शर्त तथा एकदम रोकने पर जोर दिया गया। कैरो सम्मेलन में जो प्रस्ताव पास किये गये थे, वे सभी ४२ देशों के प्रतिनिधियों के एकमत से पास किये गये। इन प्रस्तावों को क्रियान्वित करने के लिए अफ्रीकी-एशियाई एकता का एक स्थायी संगठन बनाया गया; इसका मुख्य कार्यालय कैरो में रखा गया। इस संगठन ने अफ्रीका एशं एशिया के देशों मे एकता की स्थापना के हेतु अनेक कदम उठाये।

सोवियत विदेश नीति भविष्य के संदर्भ में
[Soviet Foreign policy in the Future context]

कुछ विद्वानों का विचार है कि सोवियत विदेश नीति के बारे में न तो कोई भविष्यवाणी ही की जा सकती है और न कोई अनुमान ही लगाया जा सकता है। सोवियत विदेश नीति के कुछ सैनिक हित है जो सम्भवतः किसी समय से बन्धे हुए नहीं हैं। सोवियत चालबाजी एवं इसके हथियार भी बदलते रहते हैं। इस प्रकार यहां की विदेश नीति मे एक प्रकार का लचीलापन रहता है और इसके व्यवहार पर कोई एकमात्र कठोर व्याख्या नहीं दी जा सकती। जान रेशेतर (John Reshetar) के शब्दों मे "जबकि हम उस सामान्य रूपरेखा को जानते हैं जिसमें कि सोवियत नेता व्यवहार करते हैं, साथ ही उनके सामान्य दृष्टिकोण एवं मूल्य को भी जानते हैं तो भी हम निश्चित भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि एक विशेष परिस्थिति में वे क्या करेंगे। हम केवल यह कह सकते है कि वे अपने लाभों को अधिक से अधिक बनाना चाहेंगे तथा उसके लिए वे कम से कम जोखिम (Risk) उठाना पसन्द करेंगे।"[1] एलेक्स इन्केलेस (Alex Inkeles) का मत है कि सोवियत विदेश नीति में यदि कोई परिवर्तन आया तो वह तीन मुख्य स्रोतों से आ सकता है। पहली संभावना तो यह है कि सोवियत संघ में उत्तराधिकारी के संकट की समस्या कभी भी नहीं सुलझायी जा सकती। जब भी कभी शीर्ष पर शक्ति के लिए खुले रूप से संघर्ष होता है तो बाद में यह स्वाभाविक है कि नये शासक द्वारा पुरानी व्यवस्था को समाप्त कर दिया

---

1. "While we know the general framework within which the Soviet leaders operate as well as their general attitudes and values, we can not predict with very much accuracy what they may do in a given situation except to say that they will attempt to maximise their gains with a minimum of the risk"

—*John S. Reshetar*, Jr., in the Foreign Policy of the Soviet Union by Rubinstein, P. 411.

जाय । इस संघर्ष के परिणाम से आशा की जाती है कि यह रूस को कुछ प्रजातन्त्र की दिशा में बढ़ाये ।

दूसरी संभावना यह है कि सोवियत अधिराज्यों का साम्राज्य उखड़ जायेगा । हंगरी में क्रान्ति हो गई, यूगोस्लाविया निकल रहा है; इस दृष्टि से यह आशा की जाती है कि सोवियत संघ प्रजातन्त्र की दिशा में जाने की अपेक्षा अधिकाधिक सम्पूर्णतावाद की ओर अग्रसर होगा ।

तीसरी संभावना यह है कि सोवियत रूस अब औद्योगिक दृष्टि से परिपक्व हो गया है, अब वहां का सामाजिक ढांचा तानाशाही में नहीं रह सकेगा, सामाजिक जीवन में परिवर्तन होंगे जो सोवियत समाज के प्रजातन्त्रीकरण एवं सोवियत विदेश नीति में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करेंगे। यह कहा जाता है कि महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हो जाने पर भी रूस में तानाशाही बनी हुई है; इसका कारण यह है कि वहां के नेता वर्तमान परिस्थितियों से पुराने तरीकों का सामन्जस्य कर लेते हैं । तो भी एक स्थिति ऐसी आ जायगी जबकि इस प्रकार का सामन्जस्य पूरी तरह से असम्भव बन जायेगा । सोवियत संघ में एक ऐसा वर्ग भी है जो कि पश्चिमी प्रजातन्त्र का समर्थक है किन्तु यह बहुत अल्पसंख्या में है । इन तीनों ही तत्वों एवं सम्भावनाओं पर ही सोवियत संघ की विदेश नीति का भावी रूप अवलम्बित है ।

SELECTED READINGS

1. *Aubrey, Henry G*, Coexistence : Economic Challenge and Response. Washington, D C. : National Planning Assn., 1961.
2. *Barghoorn Frederick, E*, The Soviet Cultural Offensive, Princeton, N J. ; Princeton University Press, 1960
3. *Bell, Daniel*, "Ten Theories in Search of Reality," World Politics, X (Apr. 1958). 327-65.
4. *Berliner, Joseph*, Soviet Economic Aid, New York : Frederick A Praeger, Inc., 1958.
5. *Brumberg, Abraham, ed.*, Communism after Stalin. New York : Frederick A. Praeger, Inc., 1961.
6. *Brzezinski, Zbigniew*, The Soviet Bloc : Unity and Conflict. Cambridge : Harvard University Press, 1960.
7. *Campbell Robert*, Soviet Economic Power. Boston : Houghton Mifflin Company, 1960.
8. *Dallin, David J.*. Soviet Foreign Policy after Stalin. Philadlephia : J. B. Lippincott Co., 1961.
9. *Dallin, Alexander*, compiler, Soviet Conduct in World Affairs : A Selection of Readings. New York : Columbia University Press, 1960
10. *Dallin, Alexander*, The Soviet Union at the United Nations : An Analysis of Diplomatic Strategy and Tactics. New York : Frederick A. Praeger, Inc., 1961.

11. *Dinerstein, H. S.*, War and the Soviet Union. New York : Frederick A. Praeger, Inc, 1959.
12. *Fischer, Louis,* Russia, America and the World. New York : Harper and Brothers, 1961.
13. *Fitzsimmons, Thomas and others,* U.S.S.R. : Its People, Its Society, Its Culture, New Haven : Human Relations Area Files Press, 1960.
14. *Gliney, Frank,* The Khrushchev Pattern. New York : Duell, Sloan & Pearce, Inc., 1961.
15. *Goldwin, Lerner and others, eds.*, Readings in Russian Foreign Policy. New York : Oxford University Press, Inc., 1959.
16. *Khruschev, Nikita S.*, For Victory in Peaceful Competition with Capitalism. New York : E. P. Dutton & Co, Inc, 1960.
17. *Kovner, Milton,* The Challenge of Coexistence, Washington, D. C. : Public Affairs Press, 1961.
18. *Kulski, W. W.*, Peaceful Co-existence. Chicago : Henry Regnery Co., 1959.
19. *McCloskey, Herbert C. and John E. Turner,* The Soviet Dictatorship. New York : McGraw-Hill Book Co., Inc., 1960.
20. *Pistrak, Lazar,* The Grand Tactician, Khruschev's Rise to Power. New York : Frederick A. Praeger, Inc., 1961.
21. *Rauch, George van,* A History of Soviet Russia. New York : Frederick A. Praeger, Inc., 1959.
22. *Reshetar, John S.*, Jr. Problems of Analyzing and Predicting Soviet Behavior. Garden City, New York : Doubleday & Company, 1955.
23. "Resolving the Russian-American Deadlock," Annals of the Academy of Political and Social Science, CCCXXIV (July 1959), entire issue.
24. *Robert, Henry L.*, Russia and America : Dangers and Prospects. New York : Council on Foreign Relations, Inc., 1956.
25. *Rubinstein, Alvin Z.*, ed., The Foreign Policy of the Soviet Union, (text and readings). New York : Random House, 1960.
26. *Salisbury, H. E.*, To Moscow and Beyond : A Reporter's Narrative. New York : Harper and Brothers, 1960.
27. *Schwartz, Harry,* The Red Phoenix : Russia since World War II. New York : Frederick A. Praeger, Inc., 1961.
28. Marcuse, Herbert, Soviet Marxism : A Critical Analysis. New York : Columbia University Press, 1958.

अध्याय—३

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति

(FOREIGN POLICY OF UNITED STATES OF AMERICA)

सयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। एक महाशक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका को विश्व के प्राय: सभी देशों से घनिष्ट सम्पर्क बनाये रखना होता है। संयुक्त राज्य अमरीका लगभग ४०० अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सम्बन्धित है और आनुपातिक रूप से वह प्रति दिन लगभग १५ अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों में प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे देशों की विदेश नीतियां संयुक्त राज्य अमरीका की नीति और कार्यों से पर्याप्त प्रभावित होती हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विश्व के राज्यों की जो आर्थिक पर-निर्भरता बढ़ गई है उसके कारण संयुक्त राज्य अमरीका की नीति का क्षेत्र और भी बढ़ गया है। इस क्षेत्र की व्यापकता में विचारधारागत संघर्ष एवं सुरक्षा की आवश्यकताओं ने योगदान किया है।

संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति के अनेक महत्वपूर्ण निर्णय व्यक्तियों द्वारा लिए जाते हैं जिनको कि समितियों और स्टाफ यन्त्र की आवश्यकता होती है। सन् १९६० के बाद से विदेश नीति के निर्धारण में औपचारिक प्रक्रियाओं एवं संगठित नौकरशाही पर जोर कम दिया जाता है तथा राष्ट्रपति, राज्य सचिव और सुरक्षा सचिव के व्यक्तिगत निर्णयों को अधिक महत्व दिया जाता है। नीति की जटिलताओं तथा उसकी क्रियान्विति की आवश्यकताओं के कारण एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत होती है जो कि तेजी से बदलती हुई दुनिया को जान सके।

नीति निर्माण की प्रक्रिया
(The Policy-making Process)

नीतियों एवं कार्यक्रमों को मूलरूप से व्यक्तियों पर आधारित माना जाता है किन्तु फिर भी अनेक अमरीकी, नीति निर्माण की प्रक्रिया को सरकार के संगठन एवं प्रक्रियाओं के रूप में देखते हैं। अमरीकी विदेश नीति कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की विभिन्न शाखाओं द्वारा तैयार की जाती है और इसलिए वह नीति की प्रक्रिया को समझने का एक विश्लेषणात्मक

की कार्यपालिका शाखा में राष्ट्रपति का नेतृत्व और उत्तरदायित्व पर्याप्त स्पष्ट हैं। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का यह उत्तरदायित्व है कि वह विदेश नीति को बनाए। इस नीति को क्रियान्वित करने के लिए कार्यक्रमों की पहल करे तथा कानून और उपलब्ध साधनों की परिधि में रह कर नीति को क्रियान्वित करे। एलेक्जेन्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) के कथनानुसार राष्ट्रपति को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वे सारी शक्तियां प्राप्त होती हैं जो कि संविधान ने स्पष्ट रूप से किसी अन्य को नहीं सौंपी हैं। राष्ट्रपति विदेशी सरकारों के साथ बातचीत करने का एकाधिकार रखता है। वह अन्य सरकारों से सम्बन्ध स्थापित करता है और तोड़ सकता है। उनसे संधियां कर सकता है, समझौता वार्ता कर सकता है, किन्तु राष्ट्रपति द्वारा की गई संधियां सीनेट के दो तिहाई बहुमत द्वारा स्वीकार होनी चाहिए। राष्ट्रपति कार्यपालिका सम्बन्धी समझौते कर सकता है जो कि संधियों से कम औपचारिक होते हैं। जान फास्टर डलेस के कथनानुसार नाटो संधि के परिणामस्वरूप दस हजार कार्यपालिका समझौते किये गए।

केवल राष्ट्रपति को ही यह अधिकार है कि वह देश के कच्चे माल, सैनिक सेवाओं, विदेश सेवा, सी. आई. ए. (C. I. A.) आदि का प्रयोग कर सके। सशस्त्र सेनाओं का मुख्य सेनापति होने के नाते राष्ट्रपति सेनाओं को आदेश जारी कर सकता है और अपनी नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए उनकी सहायता ले सकता है। राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से तथा अपने कार्यालय के रूप में विदेशों में अपने देश का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेश नीति पर जनमत की रचना का नेतृत्व करता है। इसके अतिरिक्त अपनी नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए वह कांग्रेस के सम्मुख विधायी एवं वित्तीय प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। प्रत्येक राष्ट्रपति को यह अधिकार होता है कि वह अतीत से प्रवाहित हो रही विदेश नीति की धारा को जारी रखे, रोक दे या बदल दे और उसके अनुसार जैसा उचित समझे वैसा निर्णय ले। प्रत्येक राष्ट्रपति प्रायः अपनी ओर से विदेश नीति में कुछ नवीनताएं जोड़ता है और इसीलिए ट्रूमैन को यूनान और टर्की के कारण, आईजनहावर को निकट पूर्व के कारण, मि. कैनेडी को लेटिन अमरीका के विकास कार्यक्रमों के कारण और राष्ट्रपति जानसन को वियतनाम संघर्ष के कारण जाना जाता है।

राष्ट्रपति की सहायता के लिए कई एक अभिकरण होते हैं, वैसे कांग्रेस और जनता का दृष्टिकोण एवं कार्य भी विदेश नीति के निर्माण में राष्ट्रपति को कभी सहयोग और कभी बाधा प्रदान करने का कार्य करता है। विल्सन के समय जो कांग्रेस राष्ट्रपति की नीतियों के प्रति असहयोग पूर्ण थी वह जानसन के काल में असाधारण रूप से सहयोगी बन गई। अमरीकी जनता भी राष्ट्रपति की नीतियों का समर्थन करने में बदलती रहती है।

राष्ट्रपति के अनेक परामर्शदाता होते हैं। विदेश नीति के मामलों से सम्बन्धित इन परामर्शदाताओं को चार भागों में बांटा जा सकता है। इसमें

प्रथम स्तर में राज्य सचिव तथा उसके निकट के वरिष्ठ सहायक, दूसरे में ह्वाईट हाउस का स्टाफ और राष्ट्रपति के कार्यालय की कुछ प्रमिकरणों के अध्यक्ष, तीसरे में सुरक्षा सचिव और उसके वरिष्ठ सहायक तथा सरकारी कार्यालयों के बाहर के ऐसे विशेषज्ञ व्यक्ति जिनसे कि राष्ट्रपति समय-समय पर सलाह मांग सके और विचार-विमर्श कर सके। प्रत्येक राष्ट्रपति अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सेना को सहायता चाहता है, इसलिए विदेश नीति की अनेक समस्याओं पर सुरक्षा सचिव तथा स्टाफ के प्रमुखों की सलाह अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकती है। राष्ट्रपति विदेश नीति के सम्बन्ध में सामने किसी भी कोण से परामर्श ले सकता है।

राष्ट्रपति ने विभिन्न परामर्शदाताओं को परामर्श देने के पूरे मामले के लिए यह काम नहीं है। विदेश नीति के परिणामों के लिए वह अन्त उत्तरदायी होता है इसलिए अधिक जिम्मेदार वह अकेला ही होता है। राष्ट्रपति कैनेडी ने एक बार कहा था कि "जो लोग परामर्श देते हैं वे कार्यान्वयन करते हैं और जो अन्तिम रूप से निर्णय लेते हैं उनको अकेला होना है। परामर्श देने वाले अनेक, अलग-अलग प्रकार का परामर्श देते हैं। यदि राष्ट्रपति ने सलाह करने विषय को उत्तरदायित्व भी उसका अंग बन जाता तो क्योंकि परामर्शदाता तो सदा परामर्श देते रहते हैं।" अब राष्ट्रपति निर्णय लेने की प्रक्रिया को अधिक व्यवस्थित करने का प्रयास करता है तो उसकी सहायता मन्त्रिमण्डल राज्य सचिव द्वारा की जाती है जो कि पहले की अपेक्षा अधिक महत्व का हो गया है।

राष्ट्रपति के ह्वाईट हाउस के स्टाफ के प्रमुख व उसके व्यक्तिगत सहायकों का समूह होता है जो कि अपना अधिकांश समय विदेशी मामलों पर देता है। इस स्टाफ के आकार एवं इसकी संरचना का निर्णय प्रत्येक राष्ट्रपति स्वयं करता है। सरकारी अधिकारियों की औपचारिक तथा अनौपचारिक बैठकें समय-समय पर ह्वाईट हाउस में होती रहती हैं। इन बैठकों में विदेश नीति की समस्याओं के प्रमुख पहलुओं पर विचार किया जाता है और राष्ट्रपति को निर्णय तक पहुंचने में सहायता दी जाती है।

राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित विषयों में राष्ट्रपति को परामर्श देने वाला प्रमुख निकाय राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद (National Security Council) है। इस परिषद में राष्ट्रपति सभापति होता है। इसके अतिरिक्त उपराष्ट्रपति, राज्य सचिव, सुरक्षा सचिव तथा संकटकालीन नियोजन कार्यालय का संचालक होते हैं। इस परिषद का प्रयोग राष्ट्रपति आईजन हावर द्वारा बहुत किया जाता था किन्तु लि० कैनेडी और लि० जानसन द्वारा इसका कम प्रयोग किया गया है। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद (N S C.) विदेश नीति पर एक मात्र वैध परामर्शदाता निकाय है। यदि इस परिषद का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है तो इसका अर्थ होगा कि राष्ट्रीय सुरक्षा पर अधिक जोर दिया जा रहा है। यह परिषद राष्ट्रपति का व्यक्तिगत हथियार

है और वह जितना चाहे उसे प्रयुक्त कर सकता है। समस्त परामर्शदाताओं का राष्ट्रपति के लिए विदेश नीति के निर्धारण में केवल इतना महत्व है कि उसके सम्मुख अनेक विकल्प रहते हैं और निर्णय लेने के लिए आवश्यक समस्त सूचनाएं रहती हैं।

वार्षिक बजट की तैयारी नीति निर्धारण का एक मुख्य पहलू है। बजट के ब्यूरो को राष्ट्रपति की भुजायें कहा जाता है। सैद्धान्तिक रूप से ब्यूरो के पास कोई शक्ति नहीं होती किन्तु व्यावहारिक रूप से इसके पास अत्यन्त व्यापक शक्तियां होती हैं क्योंकि राष्ट्रपति स्वयं सरकारी कार्यक्रमों के विस्तृत मूल्यांकनों को नहीं कर सकता।

विदेश नीति के क्षेत्र में अमरीकी राष्ट्रपति मुख्य रूप से चार प्रकार के कार्य करता है। पहला कार्य संधि करना, दूसरा कार्य सेना के मुख्य सेनापति के रूप में, तीसरा कार्य सिद्धांतों का चित्रण करना और चौथा कार्य सरकारों को मान्यता देना है।

राज्य विभाग का योगदान
(The Role of the Department of State)

राष्ट्रपति को विदेश नीति के मामलों में सहायता देने वाला मुख्य रूप से राज्य सचिव होता है, वह विदेश नीति के परामर्शदाता के रूप में भी कार्य करता है और विदेश नीति के प्रबन्धक के रूप में भी। राष्ट्रपति आईजन हावर का कहना था कि "मैं व्यक्तिगत रूप से यह बताना चाहूंगा कि राज्य सचिव को विदेश नीति की रचना और नियन्त्रण में मुझे सहायता और परामर्श देने के लिए उत्तरदायी कैबिनेट अधिकारी समझूंगा। मैं राज्य सचिव को विदेश नीति पर कार्यपालिका शाखा के अन्तर्गत अपनी सत्ता का माध्यम बनाऊंगा।"[1] राज्य सचिव राष्ट्रपति को केवल नीति निर्माण की दृष्टि से परामर्श मात्र ही नहीं देता, वह एक सार्वजनिक नेता एवं कूटनीतिज्ञ होता है। यह कांग्रेस में विदेशी मामलों के सम्बन्ध में कार्यपालिका शाखा का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य सचिव का दृष्टिकोण राष्ट्रपति के अनुकूल होना चाहिए। वह सप्ताह में कई बार राष्ट्रपति से मिलता है और जब कभी वह कूटनीतिक मिशन पर विदेश गया होता है तो नियमित रूप से राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजता है। राज्य सचिव द्वारा राष्ट्रपति के कार्यों की अनुपूर्ति की जाती है। विदेशी मामलों से सम्बन्धित कांग्रेसी समितियों के सामने राज्य सचिव एक वांछनीय गवाह होता है।

---

1. "I personally wish to emphasize that I shall regard the Secretary of the State as the Cabinet Officer responsible for advising and assisting me in the formulation and control of the foreign policy. It will be my practice to employ the Secretary of the State as my channel of authority within the executive branch on foreign policy."

—*Presisent Eisenhower:*

है और वह जितना चाहे उसे प्रयुक्त कर सकता है। समस्त परामर्शदाताओं का राष्ट्रपति के लिए विदेश नीति के निर्धारण में केवल इतना महत्व है कि उसके सम्मुख अनेक विकल्प रहते हैं और निर्णय लेने के लिए आवश्यक समस्त सूचनाएं रहती हैं।

वार्षिक बजट की तैयारी नीति निर्धारण का एक मुख्य पहलू है। बजट के ब्यूरो को राष्ट्रपति की भुजायें कहा जाता है। सैद्धान्तिक रूप से ब्यूरो के पास कोई शक्ति नहीं होती किन्तु व्यावहारिक रूप से इसके पास अत्यन्त व्यापक शक्तियां होती हैं क्योंकि राष्ट्रपति स्वयं सरकारी कार्यक्रमों के विस्तृत मूल्यांकनों को नहीं कर सकता।

विदेश नीति के क्षेत्र में अमरीकी राष्ट्रपति मुख्य रूप से चार प्रकार के कार्य करता है। पहला कार्य संधि करना, दूसरा कार्य सेना के मुख्य सेनापति के रूप में, तीसरा कार्य सिद्धांतों का चित्रण करना और चौथा कार्य सरकारों को मान्यता देना है।

राज्य विभाग का योगदान
(The Role of the Department of State)

राष्ट्रपति को विदेश नीति के मामलों में सहायता देने वाला मुख्य रूप से राज्य सचिव होता है, वह विदेश नीति के परामर्शदाता के रूप में भी कार्य करता है और विदेश नीति के प्रबन्धक के रूप में भी। राष्ट्रपति आईजन हावर का कहना था कि "मैं व्यक्तिगत रूप से यह बताना चाहूंगा कि राज्य सचिव को विदेश नीति की रचना और नियन्त्रण में मुझे सहायता और परामर्श देने के लिए उत्तरदायी कैबिनेट अधिकारी समझूंगा। मैं राज्य सचिव को विदेश नीति पर कार्यपालिका शाखा के अन्तर्गत अपनी सत्ता का माध्यम बनाऊंगा।"[1] राज्य सचिव राष्ट्रपति को केवल नीति निर्माण की दृष्टि से परामर्श मात्र ही नहीं देता, वह एक सार्वजनिक नेता एवं कूटनीतिज्ञ होता है। यह कांग्रेस में विदेशी मामलों के सम्बन्ध में कार्यपालिका शाखा का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य सचिव का दृष्टिकोण राष्ट्रपति के अनुकूल होना चाहिए। वह सप्ताह में कई बार राष्ट्रपति से मिलता है और जब कभी वह कूटनीतिक मिशन पर विदेश गया होता है तो नियमित रूप से राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजता है। राज्य सचिव द्वारा राष्ट्रपति के कार्यों की अनुपूर्ति की जाती है। विदेशी मामलों से सम्बन्धित कांग्रेसी समितियों के सामने राज्य सचिव एक वांछनीय गवाह होता है।

---

1. "I personally wish to emphasize that I shall regard the Secretary of the State as the Cabinet Officer responsible for advising and assisting me in the formulation and control of the foreign policy. It will be my practice to employ the Secretary of the State as my channel of authority within the executive branch on foreign policy."

—*Presisent Eisenhower.*

राज्य सचिव का एक मुख्य कार्य राज्य विभाग का निर्देशन करना है। वाशिंगटन में स्थित राज्य विभाग विदेशी दूतावासों के ध्यान का केन्द्र होता है। विभाग द्वारा सचिव को सहायता प्रदान की जाती है तथा राष्ट्रपति के लिए आवश्यक सहयोग देने की स्थिति में पहुंचाया जाता है। विदेशों में इसके लगभग ३०० कार्यालय होते हैं जिनके माध्यम से यह नीतियों को क्रियान्वित करता है। यह विभाग विदेशों में कार्य करने वाले विभागों को भी नीति सम्बन्धी निर्देशन प्रदान करता है। प्रतिदिन के कार्यों में अधिकांश कार्य बिना सचिव को बीच में लिए ही सम्पन्न करने होते हैं। वैसे समस्त सन्देशों पर सचिव के हस्ताक्षर होते हैं किन्तु वह केवल कुछ मुख्य को ही देख पाता है क्योंकि कार्य अधिक होने के कारण और कोई रास्ता भी नहीं है।

नीति सम्बन्धी प्रक्रिया किए गए स्थिति के मूल्यांकन से प्राप्त होती है। इस मूल्यांकन के लिए विश्व के वातावरण का अध्ययन किया जाता है, घरेलू स्थिति का अध्ययन किया जाता है और प्राप्त साधनों की जानकारी की जाती है; यहां तक कि राष्ट्रपति को भी इसी विश्लेषणात्मक प्रक्रिया से गुजरना होता है। सुदूर भविष्य के नीति नियोजन द्वारा राज्य सचिव कई एक निर्णय लेता है।

नीति की रचना एवं क्रियान्वयन का कार्य राष्ट्रपति के कार्यालय और राज्य विभाग में ही सीमित नहीं रहता वरन् इस कार्य में दूसरे अभिकरण भी भाग लेते हैं।

अन्य अभिकरणों का योगदान
(The Role of other Agencies)

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि देश की आन्तरिक नीतियों एवं विदेशी नीति के बीच गहरा सम्बन्ध होता है। स्थायित्व, आर्थिक मन्दी, आर्थिक विकास, सार्वजनिक सूचना, आदि अनेक अन्तर्देशीय मामले विदेश सम्बन्धों पर एक गहरा सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक देश राष्ट्रीय सुरक्षा पर पर्याप्त ध्यान देता है और इसके लिए वह नीति के राजनैतिक, आर्थिक और सैनिक तत्वों का पर्याप्त ध्यान रखता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से यह स्पष्ट होगया है कि शुद्ध रूप में कोई समस्या केवल सैनिक समस्या नहीं होती। विदेश नीति का क्रियान्वयन कूटनीतिक प्रतिनिधित्व से लेकर विदेश सहायता कार्यक्रम तक अनेक कार्य करता है। सरकार के अनेक अभिकरण व्हाईट हाउस के नीति निर्देशन एवं राज्य विभाग के परामर्श के आधीन कार्य करते हैं।

इस समय लगभग ५० ऐसे अभिकरण, आयोग तथा विभाग हैं जो कि विदेशी मामलों में रुचि रखते हैं। सरकार के जटिल कार्य नीति के संचालन तथा कार्य के निर्देशन में अनेक समस्याएं उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य विभाग के निरन्तर नीति सम्बन्धी निर्देशन और क्रियान्वित कार्यों के बीच अतिराव हो सकता है।

नीति की प्रक्रिया में राष्ट्रपति का विज्ञान परामर्शदाता कार्यालय, अणु शक्ति आयोग और नासा (NASA) भी भाग लेते हैं। विज्ञान तथा व्यावहारिक तकनीकी नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर अपरिहार्य रूप से प्रभाव डालते हैं तथा उनका यह प्रभाव सरकार की परम्परागत संगठनात्मक पंक्तियों को पार कर जाता है। डाक्टर जेम्स किलीयन (James Killian) के कथनानुसार "विदेश सेवा अधिकारियों को विज्ञान और इंजीनियरिंग में अधिक शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता है। विश्वविद्यालयों को अधिक वैज्ञानिक तैयार करने के लिए पर्याप्त प्रावधान करने चाहिए ताकि वे विदेशी मामलों में नीति निर्माण के कार्य को सम्भाल सकें। विज्ञान और इंजीनियरिंग का विदेशी मामलों में सुरक्षा की दृष्टि से, तकनीकी सहायता कार्यक्रमों में, शस्त्र नियन्त्रण में तथा ऐसे ही अन्य कार्यों में पर्याप्त महत्व रहता है। चन्द्रमा पर व्यक्ति को पहुंचाने की मांग, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की अभिवृद्धि, दूरस्थ अन्य ग्रहों के चित्र लेना, आदि बातें राष्ट्रीय सम्मान का प्रतीक बन गई हैं और इनके आधार पर सुरक्षा प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। वैज्ञानिक सूचना एवं आंकड़ों के आदान-प्रदान द्वारा देशों के पारस्परिक सम्बन्ध पर्याप्त घनिष्ट होते हैं। वैज्ञानिकों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विदेशी सम्बन्धों का एक निश्चित तत्व होता है और यह कुछ प्रकार की समझौता-वार्ताओं में महत्वपूर्ण योगदान करता है।"

नीति की प्रक्रिया में विज्ञान और तकनीकी पर इतना जोर डालने के कारण कुछ संगठनात्मक समस्याएं पैदा होती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका ने इन समस्याओं के सुलझाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। सुरक्षा विभाग में अनेक अधिकारी ऐसे हैं जिनको कि विज्ञान में स्नातक की डिग्री प्राप्त हैं। राज्य सचिव का एक वैज्ञानिक परामर्शदाता होता है। अब कुछ दूतावासों में वैज्ञानिक भी रखे जाने लगे हैं। नीति प्रक्रिया में वैज्ञानिक विशेषज्ञों से कितना परामर्श लिया जाएगा, यह बात विचार किए जाने वाले विषय और सम्बन्धित व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। समय के प्रभावों एवं प्रशासन की वास्तविकताओं के कारण यह सरल हो गया है कि योग्य व्यक्तियों का वैज्ञानिक परामर्श साधारण रूप से प्राप्त किया जा सके। जब एक बार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विज्ञान और तकनीकी निर्णय लेने की प्रक्रिया में कुछ महत्व रखते हैं और योगदान कर सकते हैं तो इसके बाद इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

सुरक्षा विभाग का योगदान
(The Role of the Department of Defence)

विदेश नीति के निर्धारण पर सुरक्षा सम्बन्धी मामलों और सुरक्षा विभाग का कार्य द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का एक महत्वपूर्ण विकास है। आज के युग में किसी भी देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उसके सैनिक साधनों की प्रकृति एवं सत्ता पर निर्भर करती है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो जाता है कि प्रमुख सैनिक निर्णय लेते समय उनके राजनैतिक और आर्थिक पक्षों पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाए। वर्तमान समय में कोई भी विदेशी

अणु शक्ति समाज के एक बहुत बड़े भाग को विनष्ट करने की सामर्थ्य रखती है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय सुरक्षा पर्याप्त महत्वपूर्ण बन जाती है। विदेशों से रखे जाने वाले सम्बन्धों में राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों की रक्षा पर्याप्त महत्वपूर्ण बन जाती है। सुरक्षा की आवश्यकताओं के साथ विदेश नीति को जोड़ना पर्याप्त महत्वपूर्ण बन जाता है। समय की यह आवश्यकता है कि सैनिक और राज्य विभाग के नीति निर्माताओं को एकीकृत रूप से कार्य करना चाहिए।

सुरक्षा सचिव एवं राज्य सचिव के बीच तथा दोनों विभागों के प्रत्येक स्तरों पर सहयोग की मात्रा पर्याप्त रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के मामलों और राज्य विभाग के कुछ संभागों के लिए सुरक्षा का एक सहायक सचिव रखा जाता है। इन दोनों विभागों के हित एक दूसरे में उलझे रहते हैं इसलिए अनेक अधिकारी प्रायः दोनों विभागों से सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरण के लिए जनरल मार्शल, राबर्ट लावेट तथा पाल निट्जे, आदि व्यक्तित्वों का दोनों विभागों से सम्बन्ध रहा।

नीति निर्माण में कांग्रेस का योगदान

[The Role of Congress in Policy Making]

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने एक बार कुछ आगन्तुकों के सम्मुख यह कहा था कि "मैं अमरीकी विदेश नीति को बनाता हूं।" राष्ट्रपति का यह कथन कानून की दृष्टि से सही हो सकता है किन्तु तथ्य यह है कि कानून की दृष्टि से वह जो कुछ भी कर सकता है उसे राजनैतिक दृष्टि से वह करने में प्रायः असमर्थ रहता है। कार्यपालिका शाखा के अध्यक्ष तथा सेनापति के रूप में राष्ट्रपति को नीति निर्माण की अनेक शक्तियां प्राप्त होती हैं। किंतु उसके द्वारा बनाई गई नीति के लिए व्यवस्थापन की आवश्यकता होती है और इसलिए उसे कांग्रेस की ओर देखना होता है। राष्ट्रपति विल्सन को पेरिस के शान्ति समझौते सम्बन्धित अपनी नीति पर जब कांग्रेस की सहमति प्राप्त न हो सकी तो उसे कैसा अनुभव हुआ यह सर्वविदित है। राष्ट्रपति जानसन के कांग्रेस के साथ पर्याप्त सहयोगपूर्ण सम्बन्ध हैं किन्तु उनको अपनी वियतनाम की नीतियों पर कांग्रेस की स्वीकृति प्राप्त करने में पर्याप्त कठिनाई होती है।

विदेशी मामलों में कांग्रेस का अधिकार मुख्य रूप से संधियों एवं नियुक्तियों के बारे में सीनेट के परामर्श और स्वीकृति के कार्य द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। निम्न सदन की विनियोग सम्बन्धी सत्ता के अन्तर्गत राज्य विभाग के संचालन का खर्चा, सैनिक और आर्थिक सहायता कार्यक्रम पर किया जाने वाला व्यय, आदि बातें आती हैं। जब कांग्रेस इन शक्तियों का प्रयोग करती है तो वह महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी निर्णयों को भी प्रभावित करने में महत्वपूर्ण कार्य करती है। कई बार सीनेट के सदस्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उल्लेखनीय योगदान किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र

संघ का घोषणा पत्र तैयार करने के लिए जो अमरीकी प्रतिनिधि मण्डल गया उसमें टैक्सास का सीनेटर टाम कोनैली (Tom Connally) तथा मिशीगन का सीनेटर आर्थर वाण्डेनबर्ग (Arthur Vandeberg) थे। सन् १९६३ में अणु परीक्षण प्रतिरोध संधि पर एक पेनल द्वारा समझौता वार्ता की गई जिसमें कि कुछ सीनेटर भी सम्मिलित थे। सन् १९६२ में कांग्रेस ने दो सप्ताह के अन्दर-अन्दर इस निर्णय के प्रस्ताव पास किए कि बर्लिन और क्यूबा में संयुक्त राज्य अमरीका के अधिकारों की रक्षा के लिए हर तरीका अपनाया जाए। जिस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन का राजा वार्ता करने का, प्रोत्साहित करने का और चेतावनी देने का अधिकार रखता है उसी प्रकार विदेशी मामलों में राष्ट्रपति के सम्बन्ध में कांग्रेस को ये अधिकार प्राप्त होते हैं। विदेश नीति के सम्बन्ध में सामान्य विचार जानने के लिए पर्याप्त सौदेबाजी करनी होती हैं। प्रोफेसर क्लिनटन रोजीटर (Clinton Rossiter) के कथनानुसार "दुनियां में केवल हमारी व्यवस्थापिका ऐसी है जिसके निर्णयों पर कार्यपालिका को न तो राजनैतिक तथ्य के रूप में और न ही सांवैधानिक विचारधारा के रूप में दबाव डालने का अन्तिम अधिकार होता है।"[1]

कांग्रेस द्वारा व्यवस्थापन किया जाता है। यह विनियोगों का निर्धारण करती है और कभी-कभी जनमत के नेतृत्व में सहायता करती है। यह व्यवस्थापन द्वारा सामान्य दलों की रचना करती है, यह प्रमुख समस्याओं पर विचार करती है और कार्यों के विकल्प सुझा सकती है। यह अतीत की नीतियों और कार्यक्रमों को सुनने के बाद उनका मूल्यांकन करती है। यह कार्यपालिका शाखा एवं जनता के साथ अनौपचारिक रूप से राजनैतिक सम्पर्क बनाए रखती है।

जिस समय संविधान बनाया गया था उस समय विदेशी मामले उतने नहीं थे जितने कि आज हैं। और इसलिए यह स्वाभाविक है कि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का सम्बन्ध पर्याप्त बदल चुका है। आज यह सम्भव नहीं है कि कार्यपालिका कांग्रेस के सम्मुख प्रत्येक बात को विस्तार के साथ रखे। आज विदेशी सरकारों के साथ किए जाने वाले अधिकांश समझौता सन्धियां न हो कर कार्यपालिका समझौते होते हैं। इनको प्रभावी बनने के लिए सीनेट की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। दूसरी ओर कांग्रेस के व्यक्तिगत सदस्य; उदाहरण के लिए सीनेटर मैंनसफील्ड (Mansfield) आदि, राष्ट्रपति के साथ कंधे से कंधा मिला कर विदेश नीति के निर्णय लेने में कार्य करते हैं। वे विदेशी नेताओं को मुख्य कार्यपालिका का व्यक्तिगत सन्देश भेज सकते हैं। इस प्रकार राष्ट्रपति को विदेशी नेताओं से बातचीत करने का एक अन्य साधन मिल जाता है और कांग्रेस

---

1. "Ours is just about the only legislature in the world over whole decision the executive has no final power of persuation, either in Political fact or Constitutional theory."
—*Clinton Rossiter*, The American Presidency, 1960, P. 54.

को यह अनुभव होता है कि वह विदेशी मामलों में अधिकाधिक भाग ले रही है।

कांग्रेस की समितियां नीति-निर्माण के कार्य में व्यवस्थापिका के योगदान का प्रमुख साधन होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर विचार करने वाली २० स्थायी समितियां (Standing Committees) हैं। इनमें से हाउस तथा सीनेट की विदेश सम्बन्धी समितियां, सशस्त्र सेनाओं की समितियां तथा विनियोग समितियां व्यवस्थापन एवं विनियोग में और राष्ट्रपति को परामर्श देने में उल्लेखनीय कार्य करती हैं। कांग्रेस द्वारा परामर्शदाता के रूप में तथा एक प्रतिबन्धक के रूप में जो कार्य किया जाता है, इसके अतिरिक्त वह जनमत का नेतृत्व करती है जिससे नीति निर्माण में पर्याप्त योगदान का अवसर प्राप्त होता है। कांग्रेस तथा उसकी समितियां इस प्रकार संगठित नहीं की गई कि वे शीघ्र निर्णय ले सकें, जबकि विदेशी मामलों के सम्बन्ध में समय का पर्याप्त महत्व होता है। ऐसी स्थिति में प्रतिरोध और सन्तुलन की व्यवस्था की गई है।

कांग्रेस के अनेक सदस्यो का पर्याप्त अनुभव होता है, यहां तक कि वे कार्यपालिका शाखा के उन अन्य अधिकारियों से भी योग्य होते हैं जो कि अपनी रुचि के क्षेत्रों में यात्रा कर चुके होते हैं। जार्ज, मैन्सफील्ड, रसैल, जेक्सन आदि सीनेटर नीति निर्माण के कार्य में पर्याप्त प्रभावशील रहे हैं। ये राष्ट्रपति से विचार विमर्श करने में, सुरक्षा सचिव तथा राज्य सचिव को सुझाव प्रस्तुत करने में तथा जनमत को बदलने में पर्याप्त सक्रिय रहे हैं। सीनेट तथा निम्न सदन के अधिकांश सदस्यों का योगदान यह रहा है कि इनके द्वारा कांग्रेस में कार्यपालिका की नीतियों एवं कार्यक्रमों का समर्थन किया गया है।

चुनाव के समय विदेश नीति से सम्बन्धित मसलों को नहीं उठाया जाता है। ऐसी स्थिति में अधिकांश कांग्रेस के सदस्य विदेश नीति के मसलों पर मनचाहा वोट देने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। यदि कांग्रेस के सदस्य विदेश नीति से सम्बन्धित मामलों में अधिक हस्तक्षेप करें तो खतरा यह रहता है कि तीव्र गति से बदलती हुई इस दुनियां में निर्णय लेने में देरी होगी तथा बाधा आयेगी और इस सब के परिणाम स्वरूप पर्याप्त नुकसान रहेगा।

अमरीका का राष्ट्रपति, सुरक्षा सचिव एवं राज्य सचिव विदेश नीति से सम्बन्धित मामलों में प्रमुख सीनेटरों की राय जानते रहते हैं। अनुमान लगाया गया है कि मन्त्रीमण्डल के सदस्यों के समय का भाग कांग्रेस से विचार विमर्श करने एवं उसकी समितियों के सम्मुख प्रस्तुत होने में व्यतीत होता है। कहते हैं कि राष्ट्रपति को कांग्रेस के नेताओं के साथ बैठ कर जितनी बार सुबह का स्वल्पाहार लेना होता है इसका कोई अभिलेखा ही नहीं है।

विदेश नीति से सम्बन्धित विषयों पर दलीय अनुशासन इतना अधिक नहीं होता। राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीय हित की खातिर विरोधी दल के अनेक महत्वपूर्ण सदस्य भी राष्ट्रपति की नीतियों का समर्थन करते हैं। रिपब्लिकन सीनेटर डर्कसेन (Dirksen) तथा लेवेरट साल्टेन स्टाल (Leverett Salton Stall) ने डेमोक्रेटिक राष्ट्रपति केनेडी तथा जॉनसन की विदेश नीतियों का समर्थन किया। इस प्रकार का समर्थन प्राप्त होने पर विदेश नीति का दूसरे देशों में पर्याप्त प्रभाव होता है।

संविधान की दृष्टि से विदेशी मामलों के क्षेत्र में अमरीकी कांग्रेस को जो शक्तियां प्राप्त हैं वे अनेक प्रकार की हैं। प्रथम, यह अन्य देशों के साथ संयुक्त राज्य अमरीका के व्यापार को विनियमित करती है; दूसरे यह विस्थापितों तथा कृत्रिम नागरिकों के सम्बन्ध में एक से नियमों की स्थापना करती है, तीसरे, यह भूमि और समुद्र पर सशस्त्र सेना रखती है, चौथे यह विदेशों में स्थित अमरीकी व्यवहार के लिए विनियोग तैयार करती है; यह सन्धियों पर स्वीकृति प्रदान करती है (यह कार्य केवल सीनेट द्वारा ही किया जाता है) तथा छटे, यह युद्ध की घोषणा करती है।

कांग्रेस में दल के आधार पर जो विभाजन रहता है उसको कम करने के लिए पर्याप्त प्रयास किये जाते हैं ताकि वह विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णयों को गलत रूप से प्रभावित न कर सके। राष्ट्रपति स्वयं जान बूझ कर विरोधी दल के मुख्य सदस्यों को सुरक्षा एवं विदेश नीति के पदों पर नियुक्त करता है ताकि दल विरोध को कम किया जा सके। राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने रिपब्लिकन दल के फ्रेन्कनोक्स (Frank Knox) तथा हेनरी स्टिम्सन को सन् १९४१ में जल सेना तथा युद्ध का सचिव बनाया था। राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने विरोधी दल के केवल कुछ ही सदस्य नियुक्त किये किन्तु राष्ट्रपति केनेडी तथा जान्सन ने इस अभ्यास को पुनः आरम्भ किया। कांग्रेस द्वारा विदेश नीति से सम्बन्धित मसलों पर अधिक विरोध प्रदर्शित नहीं किया जाता क्योंकि वह यह जानती है कि राष्ट्रपति की नीतियों के पीछे जनता का व्यापक समर्थन होता है। यदि कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति की विदेश नीति पर आक्रमण किया गया तो जनता इसका विरोध करेगी।

नीति निर्माण में जनता का योगदान
[Role of Public in Policy Making]

अमरीका की जनता भी वहां की विदेश नीति की रचना में पर्याप्त महत्वपूर्ण योगदान करती है। वैसे प्रायः जनता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सरकार के लक्ष्यों एवं अभिप्रायों से अनभिज्ञ रहती है तथा कभी-कभी उसे यह अनुभव होता है कि उसको जो कुछ भी बताया जा रहा है यह या तो सही बात नहीं है और यदि है भी तो वही सब कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में यह बड़ा कठिन हो जाता है कि सरकारी कार्यक्रमों के लिए जनता की स्वीकृति प्राप्त की जाये।

प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्र के प्रति कुछ विशेष प्रकार का दृष्टिकोण रखता है। यह दृष्टिकोण जाति के आधार पर निर्धारित नहीं होता है वरन् इसका निर्धारण ऐतिहासिक विकास परम्पराओं, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों, राजनैतिक अनुभवों, शिक्षा एवं अन्य ऐसे ही तत्वों द्वारा किया जाता है। जब भी कभी एक देश के जनमत का अध्ययन किया जाये तो उस पर प्रभाव डालने वाले तत्वों की जानकारी प्राप्त की जाये तथा व्यापक सामान्यीकरण न किये जायें। जनमत के उन तत्वों को भी अलग रखा जाये जो कि एक विशेष देश की विशेषतायें हैं तथा उन तत्वों का अलग से अध्ययन किया जाये जो कि प्रायः सभी देशों में प्राप्त होते हैं।

प्रोफेसर गेब्रील आलमण्ड (Gabriel Almond) के कथनानुसार "एक प्रजातन्त्रात्मक नीतिनिर्माण की प्रक्रिया में जनमत का कार्य व्यापक रूप से स्थापित मूल्यों एवं आकांक्षाओं के रूप में कुछ नीति सम्बन्धी मापदण्ड तय करना है।"[1] नीति-निर्माण का कार्य उन लोगों पर छोड़ दिया जाता है जो कि सकारात्मक एवं सूचनापूर्ण रुचि रखते हैं। इन मूल्यों एवं आकांक्षाओं को संविधान द्वारा परिभाषित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ये विदेशी मामलों के प्रति हमारे दृष्टिकोण, हमारे आदर्शों तथा शान्ति एवं प्रजातन्त्र के विचारकों में प्राप्त होते हैं। विदेश व्यवहार में व्यक्तिगत रुचि एवं अनुभव का पर्याप्त प्रभाव रहता है। सामान्य जनता द्वारा नीति-निर्माण का कार्य पूरी तरह से सरकारी नीति-निर्माताओं के हाथ में नहीं छोड़ दिया जाता। सरकार के नीति-निर्माता भी गैर-सरकारी लोगों की योग्यता का लाभ उठाते हैं। लगभग १५ मिलियन अमरीकी समुद्र पार की सशस्त्र सेनाओं में कार्य कर रहे हैं तथा लगभग एक मिलियन लोग प्रति वर्ष योरोप की यात्रा करते हैं।

व्यक्तिगत उद्यम में संलग्न लोग भी विदेश नीति के सम्बन्ध में रुचि रखते हैं। राज्य विभाग तथा अन्य अभिकरण गैर-सरकारी व्यक्तियों एवं संस्थाओं से परामर्श तथा सहायता प्राप्त करते रहते हैं। दूसरी ओर जनता भी प्रेस के माध्यम से सरकार की विदेश नीति की जानकारी रखती है।

संयुक्त राज्य अमरीका के लोग अपने देश के प्रति पर्याप्त सम्मान रखते हैं तथा स्वामी-भक्तिपूर्ण देशभक्ति से प्रशासित हैं। दूसरी दृष्टि से देखने पर इसे आक्रमणात्मक राष्ट्रवादी कहा जा सकता है। "गलत है या सही है पर मेरा देश है" इस भावना के कारण अमरीकी जब भी कभी विदेशों में जाता है तो अपने देश की उपलब्धियों को गर्व के साथ अभिव्यक्त करता है।

---

1. "..the function of the public in a democratic policy making process is to set certain policy criteria in the form of widely held values and expectations."

—*Garbiel Almond.*

अमरीकी लोगों की कुछ अपनी विशेषतायें हैं जो कि इस देश की विशेषता कही जा सकती है। यह विश्व राजनीति पर रहने वाले लोकमत में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती हैं। अमरीकी लोग आशावादी हैं तथा शक्तिपूर्ण भावना रखते हैं। जब कभी यहां के लोगों के सामने समस्यायें आती हैं तो उनसे कतराने की अपेक्षा वे यह जानने का प्रयास करते हैं कि इन कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया जाये। इनका हमेशा यह विश्वास रहता है कि प्रत्येक समस्या को सुलझाया जा सकता है। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि यह एक सम्पन्न महाद्वीप है, यहां साहसिक कार्यों का भविष्य अच्छा है तथा प्रगति की नई दिशायें हैं।

अमरीकी लोग नैतिक लक्ष्यों पर अधिक जोर देते हैं। उनकी नैतिकता केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं है वरन् यह राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी है; क्योंकि अमरीकी लोग अपने जीवन के तरीके को मूल्यवान मानते हैं अतः वे अपने स्वीकृत सिद्धान्तों के विपरीत जीवन के तरीकों को अनैतिक मानते हैं। विश्व के दूसरे लोगों को वे अपने जैसा जीवन दर्शन देना चाहते हैं। नैतिक मापदण्ड के आधार पर विचार करने के कारण अनेक अमरीकी यह नहीं सोच पाते कि प्रत्येक परिस्थिति पूरी तरह काली या सफेद नहीं होती वरन् उसमें कई प्रकार की छाया झलकती रहती है।

अमरीका में व्यक्तिवादी विचारधारा का पर्याप्त समय तक जोर रहा है। वे स्वतन्त्रता की भावना पर इतना अधिक जोर देते हैं, यही कारण है कि वे हिटलर की जर्मनी तथा समाजवादी रूस की कठोर और सम्पूर्णतावादी व्यवस्था को समझ सकने में असमर्थ रहते हैं। जिस व्यवस्था में अपने आपको योग्य मानने वाले केवल कुछ लोग नेतृत्व करते हैं तथा शक्ति के आधार पर शेष पिछड़े लोगों को बदलने का प्रयास करते हैं वह अमरीका के लोगों की समझ में नहीं आ पाती। वैसे यहां का व्यक्तिवाद कुछ भिन्न प्रकार का है। इसमें भेदभाव की भावना कम है। प्रायः प्रत्येक नागरिक अपने आपको दूसरों से कम नहीं मानता।

यहां के लोगों का स्वभाव कुछ मजाकिया प्रकृति का होता है। इसके कारण यहां के लोग उन विरोधी दृष्टिकोणों के झटके को सहन कर जाते हैं जो कि अन्यथा दूसरे लोगों के प्रति कटुता के भाव फैलाता है। अमरीका में प्रत्येक चीज का मजाक बनाया जाना सम्भव है। इस स्वभाव से युवक अमरीकी किसी भी परिस्थिति में शीघ्र ही अपना 'स्वभाव' छोड़ कर 'पर-भाव' में नहीं आते। व्यवसायियों की सी सहनशीलता का उनमें विकास हो जाता है।

संयुक्त राज्य अमरीका की जनता को विदेश व्यवहार के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचना एवं अनेक व्याख्यायें निरन्तर रूप से प्राप्त होती रहती हैं। समाचार पत्र, पत्रिकायें, रेडियो, टेलीविजन तथा राष्ट्रीय नेताओं के अनेक भाषणों द्वारा विदेश नीति से सम्बन्धित मसलों पर प्रकाश डाला जाता है।

अनेक गैर-सरकारी संगठनों में महत्वपूर्ण विषयों पर वादविवाद किया जाता है। इस सम्बन्ध में कई बार यह प्रश्न किया जाता है कि अधिक सूचना, शिक्षा एवं जनरुचि के कारण क्या अमरीकी जनता विशेष प्रश्नों पर निर्णय लेने में अधिक योग्य बन गई है। यह भी सम्भव है कि जनता उस सारी सूचना को भली प्रकार न पचा सके जो कि उस पर उड़ेली गई है। बिना आलोचना किये ही स्वीकार कर लेने पर भ्रम पैदा हो सकता है तथा सरल समाधानों के प्रति विश्वास जम सकता है। दूसरी ओर यह भी सच है कि प्रजातन्त्र में सरकारी नीतियों पर जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए उसे सूचित करना अनिवार्य है।

जब राष्ट्रपति यह अनुभव करे कि उसकी नीतियों को पर्याप्त जन-समर्थन प्राप्त नहीं हो रहा है तो ऐसी स्थिति में जनता एक रोक के रूप में कार्य कर सकती है। जनता द्वारा विदेश नीति के प्रति असंतोष व्यक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जनता अपने दबावों के माध्यम से नीति के विशेष पहलुओं को प्रभावित करने में भी समर्थ हो सकती है।

जनता के हित समूहों में सम्पादकीय के लिखने वाले, सामान्य हित पूर्ण संगठन, तथा मुख्य नागरिकों की सभायें होती हैं। प्रेस कुछ चीजों को छाप कर तथा कुछ को न छाप कर मन चाहे रूप से जनमत को प्रभावित करती रहती है। यह जनता के दृष्टिकोण को ढालने में महत्वपूर्ण कार्य करती है। राष्ट्रपति कैनेडी का कहना था कि "प्रभावशील प्रेस न होने के नुकसान बड़े घातक हैं। यद्यपि सरकार प्रेस के विरोधी व्यवहार को कभी पसन्द नहीं करती, वह चाहती है कि प्रेस इनको न लिखे, सरकार उनको अस्वीकार करती है किन्तु फिर भी इस बात में कोई संदेह नहीं है कि एक अत्यन्त सक्रिय प्रेस के बिना हम स्वतन्त्र समाज में नहीं रह सकते।"

वाशिंगटन स्थित नीति निर्माता जनमत को हमेशा ध्यान में रखते हैं तथा उसके होने वाले परिवर्तनों को भी समय-समय पर जांचते रहते हैं। संगठित हित समूहों के दृष्टिकोण एवं भावनायें आसानी से ज्ञात होती रहती हैं। नीति निर्माताओं द्वारा जब कोई व्ययकारी कार्यक्रम अपनाया जाता है तो यह देख लिया जाता है कि उसके पक्ष में जनता है या नहीं है। सूचित एवं जागरूक जनमत की स्थापना के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाता है। अनुकूल जनमत की रचना नीति-निर्माओं का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

एक प्रजातन्त्रात्मक देश होने के नाते अमरीका की विदेशनीति लोकमत के झुकावों से बहुत कुछ प्रभावित रहती है। यहां के लोग अपने देश को स्वतन्त्रता की देवी मानते हैं तथा संसार में स्वतन्त्रता का प्रकाश करना अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं। अमरीकी लोग प्रायः उतावले होते हैं, सभी प्रश्नों का सीधा उत्तर मांगते हैं तथा सभी समस्याओं को शीघ्रता से सुलझाना चाहते हैं। फलतः यहां की विदेशनीति के कर्णधारों को कभी-कभी बड़े उलझे हुए समझौते करने को राजी होना पड़ता है। यहां के लोग भावुक होते हैं। वे किसी से भी प्रेम करते हैं तो पूरी तरह, और घृणा करते हैं तो

भी पूरी तरह। उनकी इस प्रकृति का विदेश नीति पर भारी प्रभाव है। अमरीका पर विश्व-व्यापी उत्तरदायित्व धीरे-धीरे नहीं वरन् द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों ने एकदम से डाल दिये हैं। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अमरीका के पास कोई अतीत का अनुभव न था क्योंकि मुनरो के समय से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पार्थक्य की नीति अपनाने के कारण उसने विश्व राजनीति में सक्रिय रूप से भाग न लिया था।

सीनेटर वान्डेनबर्ग (Vandenberg) ने १० जनवरी, १९४५ को सीनेट में अपने भाषण द्वारा पार्थक्यवादिता (Isolationalism) की नीति का दृढ़ता के साथ मुकाबला किया। द्वितीय विश्व युद्ध ने अमरीका को यह स्पष्ट कर दिया कि यदि विश्व की बड़ी शक्तियां लड़ने के लिए तैयार हैं तो संयुक्त राज्य को भी उस संघर्ष में चाहे या अनचाहे पड़ना ही पड़ेगा। नये युग की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों से परिचित होने के बाद अमरीकी नीति की चार प्रमुख भूलों का तिरस्कार किया गया—ये थीं कल्पनावाद (Utopianism), वैधानिकता (Legalism), भावुकता (Sentimentalism) और पार्थक्यवाद (Isolationalism)।

अमरीकी विदेशनीति को प्रभावित करने वाले तत्व उसकी ऐतिहासिक परम्परायें तथा उसकी भौगोलिक स्थिति है। यह कहा जा सकता है कि लम्बे समुद्रों से घिरा तथा योरोप आदि महाद्वीपों से दूर स्थित होने के कारण ही यह राज्य अपनी पार्थक्यवादी नीति का पालन करने में समर्थ हो सका था। इसके अतिरिक्त यहां की घरेलू नीति की भांति विदेशनीति भी समाज के स्वरूप एवं लोगों के चरित्र से प्रभावित होती है। एक विशेष परिस्थिति में अमरीकी लोग किस प्रकार का व्यवहार करेंगे, यह बात बहुत कुछ उन तत्वों पर निर्भर करती है जो कि वहां के समाज के वर्तमान एवं भावी रूप का निर्धारण करते हैं।[1] अमरीका बहुत सी जातियों और लोगों का एक संयुक्त देश है जिनकी परम्परायें एवं वंशानुगत चरित्र असमान हैं। अपने आदर्शवादी, कल्पनावादी एवं क्रान्तिकारी स्वभाव के कारण यहां के लोग विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों का यथार्थवादी रूप में अध्ययन नहीं कर पाये; साथ ही इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की ओर वैधानिक-नैतिक (Legalistic Moralistic) दृष्टि से देखा है। जार्ज एफ० केनन (George F. Kennan) के मतानुसार 'पिछली नीतियों का सबसे अधिक गम्भीर दोष यह दृष्टिकोण ही रहा है।"

---

1. In foreign affairs as well as in domestic affairs "some clue as to how the American people will behave and should behave must be sought in the total complex of conditions and factors which make American Society what it is or what it is becoming."

—*Robert K. Carr and others.* American democracy in theory and practice : The Nation Govt., P. 951.

अमरीका की विदेशनीति पर गृह नीतियों एवं दबावों का जो प्रभाव पड़ता है, कई बार तो उसकी अवहेलना करना असम्भव बन जाता है। गृहनीति एवं विदेशनीति दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालती है। कुछ अवसर ऐसे आते हैं जबकि विदेशनीति में किये जाने वाले परिवर्तनों का इस कारण विरोध किया जाता है क्योंकि ऐसा करने से गृहनीति में जिन परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ेगी लोगों के हितों को आघात पहुंचाते हैं। इस प्रकार व्यापारिक संस्थायें, धार्मिक एवं अन्य प्रकार के संघ तथा अन्य दूसरे सामाजिक संगठन विदेशनीति को अपने हितों के अनुरूप प्रभावित करते रहते हैं। एक संघात्मक प्रजातन्त्र होने के कारण विविध सांवैधानिक बन्धन अमरीकी विदेशनीति के प्रवाह को एक दिशा प्रदान करते हैं। विदेशनीति का संचालन उस समय बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है जबकि राष्ट्रपति के दल का कांग्रेस में बहुमत नहीं होता।

अमरीकी विदेशनीति के सिद्धान्त एवं लक्ष्य (The principles and objectives of United States' Foreign Policy)

संयुक्त राज्य अमरीका की विदेशनीति के लक्ष्यों क स्रोत यहां के समाज के मूल्य, हित तथा मान्यतायें हैं। अमरीकी लोगों का अपना एक जीवन का तरीका है जिसमें गुण तथा दोष दोनों का अस्तित्व है फिर भी वे उसे बनाये रखने में तथा स्थायित्व एवं प्रसार प्रदान करने में प्रयत्नशील रहते हैं। यहां की राजनैतिक प्रक्रिया एवं विदेशनीति में इस प्रयत्न की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है और इनके आधार पर विदेशनीति के लक्ष्य एवं साधनों का निर्धारण किया जाता है। यहां विदेश नीति के सामान्य रूप से दो प्रधान लक्ष्य माने जाते हैं—पहला है 'राष्ट्रीय सुरक्षा' तथा दूसरा है 'आर्थिक सद्जीवन' (Economic well-being)। इन दोनों लक्ष्यों के मार्ग में अनेक गौण लक्ष्य भी आ जाते हैं जिनके बारे में यह निर्णय नहीं किया जा सकता है कि वे विदेशनीति के साध्य हैं अथवा साधन। कुछ लोग साम्यवाद की घेरेबन्दी (Containment of Communism) को अमरीकी विदेशनीति का प्रमुख प्रेरक मानते हैं जबकि दूसरों का मत है कि यह तो एक साधन है जिसका लक्ष्य राष्ट्रीय सुरक्षा है। इसी प्रकार अर्धविकसित देशों के लोगों को 'सहायता प्रदान करना' मानवता की दृष्टि से एक लक्ष्य भी हो सकती है तथा साम्यवाद के प्रसार को रोकने वाला एक साधन भी। कुछ लोगों को इसमें भी सन्देह है कि विश्वशांति अमरीकी विदेशनीति का लक्ष्य है। वे इसे अन्य लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक साधन मानते हैं। श्लाइसर (Schleicher) महोदय का कहना है कि "किसी भी कीमत पर शान्ति की प्राप्ति अमरीकी विदेश नीति का लक्ष्य नहीं है।"[1] कुछ विचारकों का तो यह कहना है कि

---

1. "Peace at any price is certainly not an objective of American Foreign Policy."

—*Schleicher*, International Relations, P. 438.

अमरीकी विदेश नीति जैसी कोई चीज है ही नहीं। यह मत तथ्यों के विपरीत है और इसमें कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है कि कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्त एवं मान्यतायें हैं जिन्होंने अमरीका के पूरे अथवा अधिकांश इतिहास में तथा यहां की विदेश नीति में महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। वान आल्स्टीन (Van Alstyne) के मतानुसार इनमें सबसे प्रमुख हैं—सुरक्षा, विस्तार एवं तटस्थता। नाथेनील पीफर (Nathaniel Peffer) का मत है कि "अमरीकी सम्बन्धों के निश्चित बिन्दु हैं—पार्थक्यवाद (Isolat ism), मुनरो सिद्धान्त, समुद्रों की स्वतन्त्रता, तथा खुला द्वार (Open door)।" बीमिस (Bemis) का विचार है कि निम्न सिद्धांत अमरीकी विदेश नीति की नींव हैं—

(१) सम्प्रभु स्वतन्त्रता (Sovereign independence);
(२) द्वीपीय प्रसार (Continental expansion);
(३) योरोप की राजनीति के साधारण सन्धि-विच्छेदों की उपेक्षा करना (avoidance of the ordinary vicissitudes and ordinary combinations and collisions of Euro pean politics);
(४) गैर उपनिवेशवादी सिद्धान्त (the non-colonization principle);
(५) अहस्तान्तरण का सिद्धान्त (the notransfer principle);
(६) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतन्त्रता (freedom of international trade);
(७) लोगों का आत्म-निर्णय (self-determination of peoples)
(८) युद्धकाल में तटस्थ राष्ट्रो को समुद्र की स्वतन्त्रता तथा अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौसंचालन की स्वतन्त्रता (f eedom of seas for neutral ships in time of war, and freedom of navigation of international rivers);
(९) स्पष्टता का औचित्य एवं कारावास का अनौचित्य (the right of expatriation and the wrong imprisonment)
(१०) अहस्तक्षेप (non-intervention); एवं
(११) साम्राज्यवाद विरोधी भावना (a feeling of anti-imperialism)।[1]

उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त अमरीकी विदेश नीति के कुछ सामान्य सिद्धान्त भी बताये जाते हैं; उदाहरण के लिए मानव मात्र का कल्याण, प्रजातन्त्र का विकास एवं स्वतन्त्रता की रक्षा आदि। राष्ट्रपति विल्सन ने अन्नापोलिस में स्नातक-वर्ग के समक्ष भाषण करते हुए कहा था कि "अमरीका का विचार मानवता की सेवा करना है और हर बार जब तुम सितारों एवं संकेतों की अवहेलना करते हो तो तुम्हें समझना चाहिए कि स्वयं ही एक

1. "Samuel Flagg Bemis, "The shifting strategy of American defence and diplomacy", The Virginia Quarterly Review, XXIV (Summer, 1948), P p. 321-335.

संदेश है कि तुम उस कर्त्तव्य के अधीन हो जिसे अन्य नौ सेना वालों ने कभी-कभी भुला दिया—यह विजय का नहीं सेवा का कर्त्तव्य है।" कुछ विचारकों का कहना है कि राष्ट्रीय सुरक्षा एवं साम्यवाद की घेराबन्दी पर संकुचित दृष्टि से विचार करना गलत होगा। आवश्यकता के समय साम्यवाद की घेरेबन्दी का रूप निषेधात्मक होगा। अनेक अर्ध-विकसित देशों द्वारा यह शिकायत की जाती है कि अमेरिका आर्थिक सहायता देने की नीति का प्रयोग शीत युद्ध में कर रहा है। गरीबी, बीमारी एवं अशिक्षा का विनाश तो उसका प्रासंगिक परिणाम है और प्रमुख लक्ष्य घेराबन्दी (Containment) है।

हाल के भारत-पाक संघर्ष के समय भारत के प्रसंग में अमरीकी सहायता की नीति की तीव्र आलोचनायें की गईं और शास्त्री सरकार तथा भारत का जनमत प्रत्येक कीमत पर अमरीकी सहायता का विरोध करने को तत्पर हो गया क्योंकि वह भारत की सम्प्रभुता पर प्रभाव डालना चाहता था। अमरीकी विदेश नीति के लक्ष्यों का अध्ययन करते समय कभी-कभी उसकी यथा-स्थिति को बनाये रखने (Maintenance of Status-quo) की नीति पर बहुत जोर दिया जाता है। यह कहा जाता है कि अमेरिका परिवर्तन नहीं चाहता। यहां के लोग समृद्ध हैं तथा परिवर्तनशील विश्व के परिवर्तनों के प्रति उदासीन अथवा विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं। इस विचार का विरोध करते हुए अमरीकी विद्वान यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि अमरिका उन हिंसात्मक एवं क्रान्तिकारी परिवर्तनों का विरोध करता है जो कि अव्यवस्था फैलाते हैं किन्तु शान्तिपूर्ण परिवर्तनों का यह पक्षपाती है। भारत में अमरीकी राजदूत श्री चेस्टर बोल्स का मत है कि "योरोप में 'यथा-स्थिति' (Status-quo) के उद्विग्न संरक्षक देश अमरीका को निश्चित परिवर्तन की शक्ति मान उससे भयभीत थे। आस्ट्रिया के परराष्ट्र मंत्री मेटरनिक ने शिकायत की थी कि क्रान्ति जहां कहीं भी प्रकट हो, उसको बढ़ावा देकर; जो असफल हो गई हो, उस पर खेद प्रकट करके; और जो बढ़ती जान पड़े, उसे सहायता पहुंचाकर अमरीकावासी क्रान्ति के उपासकों को नई शक्ति प्रदान कर रहे हैं और प्रत्येक षडयन्त्रकारी के साहस को अनुप्राणित कर रहे हैं।" चेस्टर बोल्स लिखते हैं कि—"अन्य क्रांतियों पर न केवल अमरीकी क्रान्ति का प्रभाव पड़ा, प्रत्युत् उन्हें अमरीकी क्रान्तिकारी भी प्राप्त हुए।"[1]

सन् १९४५ से पूर्व अमरीकी विदेश नीति
(U. S. Foreign Policy before 1945)

मुनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) को इस काल की अमरीकी विदेश नीति की प्रमुख विशेषता समझा जाता है। विदेश नीति के इस समय के कर्णधारों का यह विश्वास था कि संयुक्त राज्य को योरोप के शक्ति संघर्ष से अपने आपको अलग ही रखना चाहिए तो भी योरोप के सन्तुलन को

1. चेस्टर बोल्स, शांति के नूतन क्षितिज, अनु. प्रो० इन्दु प्रकाश पांडेय; १९५८, पृष्ठ २८५.

चुनौती देने वाली प्रत्येक शक्ति के प्रति वे सजग थे। एक तटस्थ राष्ट्र के रूप में अपने अधिकारों पर जोर देना ही इस काल की अमरीकी कूटनीति की प्रधान विशेषता थी। बाद में अपने व्यापारिक एवं आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए अमरीका ने विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया तथा अपनी सीमाओं से बाहर मुख्य रूप से सुदूर पूर्व तथा लेटिन अमरीका के साथ सम्बन्धों के पाश में बंधने लगा। एडमिरल महन (Admiral Mahan) ने बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में अमरीकन विदेश नीति के बारे में लिखा है की "इस काल में यह एशिया के साथ सम्बन्ध बढ़ाने लगी, केरीवियन में अपने प्रभाव का विस्तार करने लगी किन्तु योरोप के मामलों में यह अब भी भाग नहीं ले रही थी। प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने पर परिस्थितियों ने मजबूर करके संयुक्त राज्य को भी इसमें भाग लेने के लिए तैयार कर लिया। किन्तु युद्ध के बाद राष्ट्रपति विलसन ने मानव-कल्याण एव राष्ट्रों के परस्पर सहयोग के लिए जो रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया उसे अमरीकी कांग्रेस द्वारा मुख्य रूप से इस कारण अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि अमरीका की विश्व राजनीति में बढ़ती हुई सक्रियता उनको पसन्द न थी।"

अमरीकी विदेश नीति युद्ध के बाद पुनः अपनी अतीत की परम्पराओं का पालन करने लगी। चेस्टर वोल्स के शब्दों में "प्रथम विश्व युद्ध के बाद सन्तुलित दशा प्राप्त करने की खोज में हमने पृथकत्व की महंगी राष्ट्रीय नीति अपनाई।"[1] वोल्स का विचार है कि इस नीति के कारण ही योरोप की सीमाओं के पार हिटलर की दहाड़ का आतङ्क छाया और इसी के कारण पर्ल हार्बर पर जापान की मृत्यु जैसी बम वर्षा हुई। इन सभी घटनाओं से हमें यह सबक लेना चाहिये कि इस घनिष्ट रूप से परस्पर सम्बद्ध संसार में रहने वाली कोई भी बड़ी शक्ति इससे पृथक नहीं रह सकती। अतः पृथकतावाद को इसे हमेशा के लिए त्याग देना चाहिए। राष्ट्रपति विलसन का कहना था कि "अमरीका के समक्ष महान् उद्देश्य है, जो केवल अमरीकी महाद्वीप तक ही सीमित नहीं है।" वे स्वयं अमरीका को विश्व शान्ति, मानव विकास एवं राष्ट्रों के पारस्परिक मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना में सक्रिय एवं महत्वपूर्ण भागीदार देखना चाहते थे।

सन् १९२० के बाद अमरीका की विदेश नीति वास्तविकता से अधिकाधिक दूर होती चली गई। बीमिस (Bemis) ने इस काल को अमरीकी विदेश नीति का मूर्खों का स्वर्ग (Fool's Paradise) कहा है। यह नीति पांच मान्यताओं द्वारा संचालित हो रही थी, वे थीं पार्थक्यवाद, साम्राज्यवाद का विरोध, निःशस्त्रीकरण, तटस्थता एवं शांतिवाद। युद्ध के बाद जिस पार्थक्यवाद की नीति का अनुसरण किया गया वह प्रारम्भिक समय की नीति से भिन्न थी। मार्गेन्थो ने इस वाद के पार्थक्यवाद को 'विदेश नीति का अभाव' बताया है।[2] सन् १९३० में द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने

---

1. चेस्टर वोल्स, शान्ति के नूतन क्षितिज, पृष्ठ–15
2. "...it was the very negation of foreign policy."
—*Morgenthau, Hans J.*

पर संयुक्त राज्य अमरीका को पुनः अपने इस दृष्टिकोण को छोड़ना पड़ा तथा विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद अपने अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर फिर इस नीति का अनुसरण न किया।

सन् १९४५ के बाद अमरीकी विदेश नीति
(U. S. Foreign Policy after 1945)

माइकेल डनेलन (Michael Donelan) के अनुसार "युद्धोपरान्त अमरीकी विदेश नीति की आत्मा सुरक्षात्मक ही बनी रही इसके कारणवश अनेक लाभ तथा हानियां हुई। किन्तु यह सुरक्षात्मक नीति सैनिक रण-कौशल (Military Strategy) से कहीं अधिक विस्तृत थी तथा केवल अमरीका की सुरक्षा की अपेक्षा इसका क्षेत्र चौड़ा था। युद्धोपरान्त अमरीकी विदेश नीति मानव कल्याण की भावना से संचालित की गई थी, यह अमरीका की सुरक्षा के लिए एक नये प्रकार की अवसरवादिता नहीं थी।"[1] द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद की अमरीकी विदेश नीति मुख्य रूप से साम्यवादी देशों के साथ उसके विरोध, समझौते, प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष की कहानी है। इस काल में कभी वे पुनः अपनी पार्थक्यवादी नीति पर आ गये और कभी अपने विचार के आदर्श समाज की रचना में सशस्त्र युद्ध में भी कूद पड़े। आखिर उन्होंने बीच का रास्ता अपनाया जो कि असंतोषजनक परिस्थितियों में रहना था। यह आशा की गई कि समय के साथ-साथ या तो ये समस्याएं सुलझ जायेंगी अथवा स्वतः ही मिट जायेंगी और इस प्रकार सम्पूर्ण युद्ध के खतरे को टाला जा सकेगा। युद्धोपरान्त वर्षों में अमरीकी विदेश नीति ने विश्व के आकार को कल्पनातीत एवं तीव्र गति से विस्तृत कर लिया। पश्चिमी योरोप की साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक शक्तियां शताब्दियों से विश्व में अपनी क्रियाओं को बढ़ाती जा रही थीं किन्तु संयुक्त राज्य ने दो दशाब्दियों में ही अपने शान्तिकालीन उत्तरदायित्वों को योरोप, मध्यपूर्व, दक्षिणी एशिया तथा अफ्रीका में बढ़ा लिया है। माइकेल डनेलन (Michael Donelan) के शब्दों में "युद्धोपरांत अमरीकी विदेश नीति का विषय गोलार्ध सम्बन्धी मान्यताओं का समग्र विश्व के रूप में विस्तार कर लेना था।"[2]

अमरीकी विदेश-नीति के उतार-चढ़ाव
(The Tides of U. S. Foreign Policy)

विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद से अमेरीका की विदेश नीति अब तक कई परिवर्तनों के साथ विश्व के सामने आई है। इन परिवर्तनों का कारण

---

1. *Michael Donelan*, The ideas of American Foreign policy, 1963, P p. 10–11
2. "The course of American postwar foreign policy relied heavily on the extension of hemispheric conceptions to the world at large."

— *Michael Donelan op. cit.; P. 12*

एवं औचित्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न परिवर्तनों, राष्ट्रीय दबावों, नेतृत्व एवं लोकमत के विशेष दृष्टिकोणों को माना जा सकता है। चार्ल्स श्लाइसर ने युद्धोपरान्त अमरीकी विदेश नीति को तीन परस्पर सम्बन्धित एवं उत्तरोत्तर कालों में विभाजित किया है—

(i) सहयोग तथा आनुकूल्य की नीति (Co-operation and accomodation—1945 to Aug. 1946)

(ii) सोवियत संघ के साथ धैर्य एवं कठोरता की नीति (Patience and firmness with the Soviet Union-Aug. 1946 to March 1947)

(iii) शीत युद्ध एवं साम्यवाद को सीमित करने की नीति (Cold war Containment—1947 to onward)

विदेश नीति के अन्तिम काल को अन्य उप-कालों में विभाजित किया जा सकता है जैसे सैनिक समझौते एवं सीमित सैनिक शक्ति (अप्रैल १९४९ से जून १९५० तक), नवीन दृष्टि एवं ऊंचाई (Newlook and Summitry, 1953-61), नवीन सीमा प्रदेश एवं अमरीकी विदेश नीति—१९६१ आदि।

पामर तथा परकिन्स के मतानुसार युद्धोपरान्त अमरीकन विदेश नीति को कालानुसार मुख्यतः चार भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम युग वी०जे० दिवस से प्रारम्भ हो कर लगभग डेढ़ साल तक चलता है। इस युग को वे हेनीमून काल (Honeymoon Period) कहते हैं जब कि अमरीका भ्रमों की शृङ्खला में निवास कर रहा था और उसे बड़ी शक्तियों के सहयोग की आशा थी। द्वितीय काल नवीन यात्रा (New departure) का है जबकि विभाजित विश्व की यथार्थता से वे परिचित होने लगे और नीतियों के निर्माण में नेतृत्व अपनाने लगे। तीसरा काल साम्यवादी आक्रमणों का है जो जून १९५० के अन्तिम दिनों से प्रारम्भ होता है। इस काल में कोरिया में युद्ध हुआ। आर्थिक पुनर्निर्माण को सैनिक तैयारियों से गौण बना दिया गया। पश्चिमी योरोप तथा सुदूर पूर्व में अमरीका की नीतियों पर पुनः विचार करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी तथा इसकी आलोचना की गई। चौथा काल उस समय से प्रारम्भ होता है जबकि वाइट हाउस (White House) में डेमोक्रेटिक प्रभुत्व तथा सोवियत रूस से स्टालिन की तानाशाही समाप्त हो गई। नवीन सोवियत नेताओं ने अधिक लोचशील एवं समझौतेपूर्ण नीतियां अपनाने की इच्छा प्रकट की। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटाव दूर होने की आशायें बढ़ने लगीं तथा युद्धों का युग समाप्त होने के आसार दिखाई देने लगे।

युद्ध के समाप्त होते ही महाशक्तियों के बीच मत-भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे थे। जनवरी १९५० में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था कि "हम ज्यों-ज्यों अपने शत्रुओं को हराने के नजदीक आते जाते हैं त्यों-त्यों हम विजेताओं के बीच के अन्तरों के प्रति जागरूक होते जाते हैं।" विदेश नीति

के हनीमून काल में अमरीकी राजनीतिज्ञ बहुत आदर्शवादी एवं आदर्शपूर्ण रुख अपना रहे थे। समनर वेलेस (Sumner Welles) के मतानुसार जिसमें वे विश्वास करते थे तथा जो वास्तव में सम्भव था के बीच उनको भ्रम हो गया और इसलिए उन्होंने अपनी अनेक नीतियों को गलत धारणाओं पर आधारित किया। संयुक्त राष्ट्र संघ आशानुकूल कार्य नहीं कर पा रहा था, शान्ति सन्धियां संतोषजनक रूप से नहीं हुई थीं, महाशक्तियों के बीच जो प्रतिद्वन्द्विता पैदा हो गई थी उसके कारण आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्य में बड़ी बाधा उत्पन्न हो रही थी, 'शान्ति' संकट में पड़ गई थी, विश्व का पूरा राजनैतिक एवं सामाजिक ढांचा ही बड़ा अस्त-व्यस्त सा हो गया था। इन सभी आशाओं से भिन्न एवं हतोत्साहित करने वाली परिस्थितियों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिका की विदेश नीति पर प्रभाव डाला।

युद्ध के बाद के दिनों में अमरीका को मुख्य रूप से शान्ति स्थापित करने, आर्थिक पुनर्निर्माण एवं विस्थापन करने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सहयोग करने से सम्बन्धित कार्य करने पड़े। दूसरे शब्दों में इन दिनों वह युद्ध से उत्पन्न महत्वपूर्ण समस्याओं का सामना करता रहा तथा शान्तिपूर्ण विश्व व्यवस्था की नींव डालने में उसने भारी सहयोग किया। सन् १९४६ में उसने मित्र राष्ट्रों के साथ इटली, हंगरी, बल्गेरिया, रूमानियां, फिनलैण्ड आदि के बारे में शान्ति सन्धियां की। जर्मनी, जापान एवं आस्ट्रियन राज्यों के साथ अभी सन्धि नहीं हो पाई थी। इस प्रथम काल की अमरीकी विदेश नीति का आधार राजनीतिज्ञों का यह विश्वास एवं आशा थी कि महाशक्तियों के बीच सहयोग शान्तिकाल में भी बना रहेगा। इसने अणु-शक्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का प्रस्ताव रखा, राष्ट्रवादी एवं साम्यवादी चीन में कामचलाऊ मिली-जुली सरकार बनाने के प्रयास किये, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का प्रस्ताव रखा, याल्टा तथा पोट्सडाम समझौते किये तथा यह सोचा गया कि विश्व से सैनिक शक्ति का बहिष्कार कर देना चाहिए क्योंकि यह अनावश्यक होने के साथ-साथ विनाशी रूप से भयंकर थी। इस काल में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति ने कई क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की किन्तु उसने विश्व राजनीति के दो महत्वपूर्ण विकासों को दृष्टि से ओझल रखा, वे थे—सोवियत संघ की आक्रमणकारी चालें और एशिया महाद्वीप में क्रान्ति।

विश्व के प्रत्येक भाग की सम्भवतः प्रत्येक समस्या के ऊपर सोवियत संघ एवं पश्चिमी शक्तियों के बीच भारी मत-भेद था। संयुक्त राष्ट्र संघ में, पूर्वी योरोप में, जर्मनी में तथा विदेश मन्त्रियों की प्रत्येक परिषद में दोनों के बीच मूल रूप से असहमति थी। इस असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण से अमरीका के आशावादी नेताओं को धक्का लगा। एशिया महाद्वीप में जो क्रान्ति हो रही थी उसका साम्यवादी देशों ने लाभ उठाया तथा पश्चिम विरोधी, उपनिवेश विरोधी और साम्राज्य विरोधी भावनाओं का प्रचार कर यहां के देशों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। उसने विश्व की नजरों में अमरीका को प्रतिक्रिया-वादी तथा पूंजीवादी बना दिया।

साम्यवादी देशों के रुख को देख कर संयुक्त राज्य अमरीका को अपनी प्रारम्भिक नीतियों में परिवर्तन करना पड़ा। उसने सहयोग की नीति का परित्याग किया क्योंकि पूर्वी योरोप में बढ़ते हुए रूस के प्रभाव से वह चिन्तित हो गया था। याल्टा सम्मेलन में इस क्षेत्र में स्वतन्त्र सरकार स्थापित होने पर समझौता किया गया था किन्तु सोवियत संघ उसका बराबर उल्लंघन कर रहा था। सन् १९४६ एवं १९४७ के प्रारम्भ में जर्मनी का आधिपत्य, कोरिया का एकीकरण, टर्की पर सोवियत मांग तथा यूनान के गृहयुद्ध का तीव्र मत-भेद होने के कारण दोनों गुटों के सम्बन्ध कटु हो गये। अब अमरीका की ओर से सोवियत संघ को दी जाने वाली सुविधायें समाप्त कर दी गयीं तथा प्रत्येक विशेष मामले पर दृढ़ता का रुख अपनाया गया। इस बदले हुए रुख का लक्ष्य जैसे के साथ तैसा होना नहीं था अर्थात् उन चालों को अपनाना न था जिन्हें सोवियत संघ द्वारा व्यवहृत किया जा रहा था वरन् उन पर रोक लगाना तथा अपने विश्वासों के अनुकूल विश्व का निर्माण करना था। एवरल हैरीमैन तथा विदेश विभाग के रूसी विशेषज्ञ जार्ज एफ० केनन (George F, Kennan) ने सोवियत रूस के साथ मैत्री एवं सहयोग की नीति पर सदेह प्रकट किया। अब यह स्पष्ट होने लगा था कि साम्यवादी देश समझौते की बात को दुर्बलता का निशान समझता है और केवल शक्ति की ही परवाह करता है इसलिए उसके साथ कठोर नीति का बर्ताव किया जाना चाहिए। दिसम्बर १९४६ में जब अमरीकी विदेश मन्त्री बर्न्ज (Burnes) मास्को के विदेश मन्त्री सम्मेलन से निराश हो कर लौटे तो सभी को यह पक्का विश्वास हो गया कि रूस के साथ सहयोग करने की नीति सफल नहीं हो सकती।

उक्त अनुभवों से प्रेरणा प्राप्त करके १९४६ के अन्तिम दिनों में संयुक्त राज्य अमरीका सोवियत चुनौती के प्रति जागरूक हो गया तथा उसने कठोर नीति को अपनाना प्रारम्भ किया। इस नवीन नीति का प्रारम्भ १२ मार्च १९४७ से माना जाता है जब कि राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपना ट्रूमैन सिद्धान्त का भाषण दिया। राष्ट्रपति ने यूनान एव टर्की को सहायता देने की आवश्यकता, महत्व एवं परिणामों पर प्रकाश डाला और कहा कि "मेरा विश्वास है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति उन देशों को सहायता करने की होनी चाहिए जो कि सशस्त्र अल्पसंख्यकों की गड़बड़ियों अथवा बाहर के दबावों का विरोध कर रहे हैं।" इसके बाद अमेरीकी नीति का प्रमुख लक्ष्य सोवियत शक्ति को सीमित करना (Containment of Soviet Power) बन गया। जार्ज एफ० केनन ने इस पद को अधिक लोकप्रिय व्याख्यायें प्रदान कीं। इससे पूर्व जनवरी, १९४७ में ट्रूमैन ने यह कहा था कि हमारे तथा सोवियत संघ के बीच चाहे कितनी भी कठिनाईयां क्यों न हों किन्तु इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि दोनों राष्ट्रों के मूल हित इस बात में निहित हैं कि शान्ति बनाये रखी जाये ताकि विश्व के सभी देश उत्पादन एवं पुनर्निर्माण के अपने मूल कार्यों की ओर लौट सकें। इस प्रकार अमरीकी विदेश नीति के स्वरूप के बारे में दो भिन्न प्रकार के विचार प्रस्तुत किये गये। प्रथम विचार के प्रतिष्ठाता उपराष्ट्रपति हेनरी वालास (Henry Wallace)

थे जिनका यह विश्वास था कि सोवियत संघ भयभीत है और पश्चिमी आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन चाहता है। दूसरे विचार के प्रधान समर्थक जार्ज एफ० केनन थे जो साम्यवाद को सीमित करने के लिए विस्तृत योजनायें बनाने के पक्ष में थे क्योंकि सोवियत संघ भी योजनाबद्ध रूप से आगे बढ़ रहा था।

केनन का विचार था कि "सोवियत संघ के चालबाजी पूर्ण व्यवहार चाहे कैसे भी हों किन्तु मूल रूप से कटुता रहेगी यह तो स्वतः सिद्ध है। गुप्तता, स्पष्टता का अभाव, दोहरापन, बहुत अधिक संदेहशीलता तथा उद्देश्यों का मूल अमैत्रीपन आदि सोवियत नीति की विशेषतायें हैं। ये भी अपने स्वयं सिद्ध स्रोतों की भांति सोवियत शक्ति की आन्तरिक प्रकृति के मूल हैं तथा जब तक सोवियत संघ की शक्ति की आंतरिक प्रकृति न बदल जाये ये हमारे साथ रहेंगे।" इस प्रकार साम्यवाद की सही प्रकृति का ज्ञान हो जाने के बाद अमरीकी विदेश नीति में एक मोड़ आया। इसके साथ लोगों को यह आशका होने लगी कि ट्रूमैन सिद्धान्त के रूप में अमरीकी सरकार 'साम्यवाद' के विरुद्ध 'प्रजातन्त्र' के पक्ष में सैद्धान्तिक संघर्ष छेड़ना चाहती है। किन्तु बाद में अधिकारियों की सामयिक घोषणाओं द्वारा इस आशंका को मिटा दिया गया। साम्यवादी गुट की ओर से विश्व के देशों में 'साम्यवादी धर्म' का जोर-शोर के साथ प्रचार किया जा रहा था किन्तु फिर भी अमरीका ने विश्व में प्रजातन्त्र या अन्य सिद्धान्त के प्रचार के लिए कोई मिशनरी नियुक्त नहीं की।

फिर भी, जैसा कि माइकेल डनेलन (Michael Donelan) का कहना है, "यदि प्रजातन्त्र का प्रसार नहीं तो कम से कम स्वतन्त्रता का समर्थन तो युद्धोपरान्त अमरीकी विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य रहा है।"[1] स्वतन्त्रता का पक्ष लेते समय अमरीका ने साम्यवादी अथवा गैर-साम्यवादी देशों के बीच अधिक भेद न करते हुए दोनों की स्वतन्त्रता विरोधी नीतियों का विरोध एवं स्वतन्त्रता समर्थक दृष्टिकोणों की प्रशंसा की है। उसने उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का भी उतना ही विरोध किया है जितना कि साम्यवादी राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं का। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अपनी स्वतन्त्रता समर्थक नीति के कारण संयुक्त राज्य अमरीका ने सबसे बड़ा शत्रु सोवियत रूस को माना। अमरीकी नेताओं ने प्रायः उन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनमें उनका विश्वास था किन्तु सोवियत संघ को एक ऐसी शक्ति घोषित कर दिया जिसका लक्ष्य इन आदर्शों को मिटाना था। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोणों एवं राष्ट्रीय नीतियों के बीच अन्तर दिखाया गया। साम्यवादी होते हुए भी यूगोस्लाविया आदि देशों को उसने अनौपचारिक समर्थन प्रदान किया।

---

1. If not the spread of democracy, at least the support of 'Freedom' has been a major aim of American Policy since the war."

—*Michael Donelan*, op. cit., P. 62

यह कहा जाता है कि रिपब्लिकन दल के कुछ नेता व्यक्तिगत रूप से साम्यवाद से घृणा करते थे तथा उनकी दृष्टि में साम्यवाद तथा रूस एवं चीन के बीच कोई अन्तर न था। फिर भी, इन सीमाओं के होने पर भी, कुछ विद्वानों के मत में यह सत्य है कि अमरीकन नीति का लक्ष्य किसी सिद्धान्त का विरोध करना नहीं था वरन् विरोधी शक्तियों (Hostile Powers) के विस्तार का विरोध करना था। जनवरी, १९५० में अपने एक भाषण में एचेसन (Acheson) महोदय ने कहा था कि "मैं प्रायः प्रति दिन यह सुनता हूं कि किसी ने कहा है कि अमरीका का वास्तविक लक्ष्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना है। यह कथन घोड़े से पूर्व गाड़ी को रखना है। यद्यपि हम साम्यवाद के प्रसार को रोकने में रुचि लेते हैं, किन्तु ऐसा करने के बहुत गहन कारण हैं न केवल यह कि सोवियत रूस तथा अमरीका के बीच झगड़े हैं।"[1]

ट्रूमैन सिद्धान्त
[Truman Doctrine]

१२ मार्च, १९४७ को कांग्रेस के दोनों सदनों की बैठक में बोलते हुए अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह अनुरोध किया कि साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए टर्की तथा यूनान को आर्थिक सहायता दी जाय और अमरीका की यह नीति होनी चाहिए कि वह स्वतन्त्र देशों की बाह्य हस्तक्षेप के विरुद्ध रक्षा करने में हर सम्भव प्रयास किया करे। उन्होंने कहा कि "मेरा विश्वास है कि हमारी सहायता आर्थिक एवं वित्तीय योगदान द्वारा होनी चाहिये जो कि आर्थिक स्थायित्व और व्यवस्थित राजनैतिक प्रक्रिया के लिए आवश्यक है।" यूनान व टर्की की सहायता के लिए राष्ट्रपति ने चालीस करोड़ डालर की मांग की जो पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद कांग्रेस द्वारा स्वीकार कर ली गई। ट्रूमैन सिद्धान्त को अमरीकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण मोड़ कहा जाता है क्योंकि इसके द्वारा विश्व की शांति को भंग करने वाला कोई भी आक्रमण अमरीका की सुरक्षा से सम्बद्ध कर दिया गया और कहा गया कि इसका प्रतिरोध करने का वह पूरा प्रयत्न करेगा। इस प्रकार अमरीकी विदेश नीति पार्थक्यवाद एवं अमरीकी गोलार्ध की सीमाओं से निकल कर विश्व राजनीति की सक्रिय भागीदार बन गई। माइकल डनेलन के मतानुसार "ट्रूमैन सिद्धान्त निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो सिद्धान्त था। इससे पुराने सिद्धान्त को नवीन परिस्थितियों के साथ आवश्यक रूप से

---

1. "I hear almost every day someone say that the real interest of the United States is to stop the spread of communism. Nothing seems to me to put the cart before the horse more completely than that. Of course we are interested in stopping the spread of communism. But we are interested for a far deeper reason than any conflict between the Soviet Union and the U. S."

—Dean Acheson.

समायोजित कर दिया तथा पश्चिमी गोलार्ध की सीमा [illegible] स्वतन्त्र विश्व की सीमाओं तक विस्तार कर दिया।"[1]

यह नीति मुख्य रूप से सोवियत संघ के विरुद्ध संचालित की जानी थी क्योंकि सर्वाधिकारी एवं स्वतन्त्रता का अपहरण करने वालों का यह मुखिया था। इस प्रकार रूजवेल्ट की रूस के साथ सहयोग की नीति के स्थान पर अब शीतयुद्ध की नीति का श्री गणेश हो गया। विश्व स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित मान लिया गया। एक ओर स्वतन्त्रता प्रेमी एवं रक्षक राष्ट्र थे तथा दूसरी ओर उसका अपहरण करने वाले एवं उसे कुचलने वाले देश थे। दोनों के हित पर्याप्त विरोधी थे। कुछ विचारकों के कथनानुसार इनके बाद यह स्पष्ट हो गया कि 'अमरीका' ब्रिटिश साम्राज्य का स्थान लेना चाहता है। किन्तु इस साम्राज्य का रूप तथा साधन भिन्न हैं। इनके अनुसार आर्थिक सहायता के बहाने विभिन्न देशों के साथ ऐसे समझौते किये जाते हैं जिससे ये देश अमरीकी अर्थ-व्यवस्था के आधीन हो जाते हैं। अमरीका द्वारा यहां के कच्चे माल, सैनिक अड्डों तथा सामरिक महत्व के अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया जाता है। आलोचकों का कहना है कि ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रमुख लक्ष्य प्रजातन्त्र अथवा स्वतन्त्रता को टर्की एवं यूनान में बनाये रखना न था क्योंकि वहां तो इनका पहले से ही अभाव था। इसका प्रमुख लक्ष्य यूनान और टर्की में महत्वपूर्ण सैनिक अड्डे स्थापित करना था ताकि सोवियत संघ के प्रसार को रोका जा सके तथा मध्यपूर्व के विशाल तेल भण्डार को सुरक्षित बनाये रखा जा सके। राष्ट्रपति ट्रूमैन यह भलीभांति जानते थे कि ईरान के तेल पर रूसियों का अधिकार होते हीविश्व का सन्तुलन बिगड़ जाता और इससे पश्चिमी अर्थ-व्यवस्था को भारी क्षति उठानी पड़ती है।

मार्शल योजना
[Marshal Plan]

मास्को के विदेश मन्त्री सम्मेलन के बाद मार्शल जब अमरीका लौटे तो उन्हें पश्चिमी योरोप की आर्थिक आवश्यकताओं का पूरा ज्ञान हो गया था। ५ जून, १९४७ को हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दिये गये भाषण में उन्होंने रूस सहित योरोप के देशों को आमन्त्रित किया ताकि वे पहल करके एक समझौते पर आसकें कि उनकी क्या-क्या आवश्यकतायें हैं, उनको वे कैसे पूरा करेंगे तथा अमरीका से वे क्या सहायता लेना चाहते हैं।

1, "...the Truman Doctrine was indeed a Monroe Doctrine for the entire free world. The Truman Doctrine made the necessary adjustment of the old Doctrine to new conditions, the necessary extension of the borders of the Western Hemisphere to the borders of the free world."

—*Michael Donelan*, op. cit., P. 95.

उनका विचार था कि अमरीकी सरकार के लिए यह न तो अच्छा होगा और न प्रभावशाली ही कि वह योरोप के उसके पैरों पर खड़े होने की योजना का स्वयं निर्माण करे। यह तो योरोपवासियों का कार्य है, उन्हीं को इसमें पहल करनी चाहिए, हमारा कार्य तो सहायता प्रदान करना है। पेरिस में पर्याप्त विचार-विमर्श करने के बाद योरोप के अठारह देशों ने अमरीका के निमन्त्रण को स्वीकार किया। फलतः मार्शल योजना अथवा योरोपीय पुनर्निर्माण योजना (European Recovery Plan) को जन्म दिया गया तथा इसके लिए बारह बिलियन डालर स्वीकार किये गये। योरोप के देशों को यह सहायता प्रदान करते समय अमरीका ने उनसे यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि वे अपनी सरकारों से साम्यवादी तत्वों को उखाड़ देंगे। पश्चिमी योरोप के देशों ने इस योजना का स्वागत किया। किन्तु सोवियत रूस द्वारा इसकी तीव्र आलोचना की गई तथा इसे अमरीकी साम्राज्यवाद का प्रतीक बताया गया। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप पूर्वी योरोप से मास्को-विरोधी साम्यवादियों का सफाया किया जाना प्रारम्भ हो गया।

चार सूत्री योजना

[The four point Programme]

२० जनवरी, १९६० को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीका की विदेश नीति के सुप्रसिद्ध चार सूत्री सिद्धान्तों की घोषणा की। इस घोषणा के काफी समय बाद प्रशासन द्वारा एक नीति का रेखांकन किया गया। श्लाइसर (Schleicher) महाशय के मतानुसार इस नवीन योजना का स्थायी प्रभाव होने वाला था। यह अर्धविकसित देशों को तकनीकी सहायता देने का लक्ष्य रखता था। ये चार सूत्र क्रमशः इस प्रकार थे :—

(१) संयुक्त राष्ट्र संघ का पूरा समर्थन।
(२) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्यक्रमों को जारी रखना।
(३) स्वतन्त्रता प्रेमी राष्ट्रों को आक्रमण का विरोध करने के लिए सशक्त बनाना।
(४) अल्पविकसित देशो को प्राविधिक सहायता देना।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास का कानून अर्थात् १९५० का आर्थिक सहायता कानून चार सूत्री योजना को क्रियान्वित करने की ओर पहला कदम था। रिचार्ड स्टेबिन्स (Richard P. Stebbins) के शब्दों में 'यह कानून अमरीकी विश्व नीति का एक महत्वपूर्ण मील का एक पत्थर था।"[1] इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रमुख विदेश नीति बन गई। विदेशों को सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्ध-विकसित देशों की आवश्यकतायें बहुत अधिक थीं तथा इसके द्वारा अमरीका

---

1. "The act was "a significant milestone in the evolution of American world policy."
—*Richard P. Stebbins*, The U. S. in World Affairs, 1950, P, 96.

के राष्ट्रीय हित की साधना होती थी। आलोचकों द्वारा चार सूत्री योजना को शीत युद्ध का ही एक अस्त्र माना गया और कहा गया कि यह अर्ध-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने तथा उनसे आवश्यक रणनीति का सामान प्राप्त करने का एक तरीका है न कि अर्ध-विकसित देशों को आर्थिक सहायता प्रदान कर अपने पांवों पर खड़े होने तथा अन्य स्वतन्त्र देशों के साथ अपना समान सम्बन्ध बनाने की सुविधा देने का प्रयास।

इस प्रकार समय की आवश्यकता, राष्ट्रीय हित की मांग एवं राजनैतिक कुशलता से प्रभावित संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति में आर्थिक सहायता देने की योजनाओं का बाहुल्य रहा। इस बीच सन् १९४८ में साम्यवादियों द्वारा चैकस्लोवाकिया में जबर्दस्ती सत्ता हस्तगत कर ली गई, बर्लिन में रूस ने घेरा डाल दिया तथा बाद में चीन में साम्यवादी सरकार स्थापित हो गई। अमरीकी विदेश नीति पर इन तीनों महत्वपूर्ण घटनाओं का भारी प्रभाव पड़ा और अब वह साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए केवल आर्थिक साधनों पर ही अवलम्बित न रह कर सैनिक साधनों की ओर भी आकर्षित हुई। सुदूर पूर्व में उसका रूप पूरी तरह से परिवर्तित हो गया।

सैनिक शक्ति की ओर झुकाव
[The emphasis upon Military Strength]

साम्यवाद का खतरा ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा था, अमरीकी प्रतिक्रिया भी उसी के अनुरूप हो रही थी। मई, १९४७ में सीनेट द्वारा वेन्डेनवर्ग प्रस्ताव (Vandenberg Resolution) स्वीकार किया गया। राज्य विभाग ने इसे अमरीकी विदेश नीति का नया कदम कहा क्योंकि इसके द्वारा प्रथम बार संयुक्त राज्य अमरीका शान्तिकाल में पश्चिमी गोलार्ध के बाहर के देशों के साथ सामूहिक सुरक्षा योजना में सम्बद्ध हुआ था ताकि शान्ति की रक्षा कर सके और अपनी सुरक्षा को मजबूत बना सके। इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर ही संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अनेक महत्वपूर्ण सैनिक सन्धियों एवं संगठनों की स्थापना की गई जिनमें उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

१. सैनिक सहयोग (Military Assistance)
२. पारस्परिक सुरक्षा सन्धियां (Mutual Security Treaties)
३. रियो सन्धि (Rio Treaty)
४. उत्तरी अटलाण्टिक सन्धि संगठन (North–Atlantic Treaty Organisation)
५. मनीला सन्धि (Manila Treaty)
६. दक्षिण पूर्वी एशिया सन्धि-संगठन (South-East Asia Treaty Organisation)
७. बगदाद सन्धि (Bagdad Pact) आदि।

उक्त सैनिक सन्धियों एवं संगठनों के अतिरिक्त अमरीका ने जापान आदि देशों से सैनिक सन्धियां कीं और साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए भारत आदि असंरलन राष्ट्रों को भी सैनिक सहायता प्रदान की।

जून, १९५० में कोरिया का युद्ध छिड़ने के बाद अमरीकी विदेश नीति में सैनिक शक्ति का महत्व द्विगुणित हो गया। श्लाइसर महोदय के शब्दों में "अमरीकी सैनिक शक्ति के लिए विनियोग तिगुने से भी अधिक हो गया, योरोप को दिये जाने वाले सहयोग में सैनिक शक्ति पर जोर दिया जाने लगा, तथा मार्शल योजना की मदें 'सुरक्षा समर्थन की मदें' बन गई।"[1] सोवियत रूस के अणु शक्ति का विकास कर लेने के बाद स्थिति और भी गम्भीर होती चली गई।

सैनिक शक्ति के उपयोग एवं सीमाओं पर चेस्टर बोल्स के विचार [Chester Bowels on use and limitations of military power]

शान्ति के नूतन क्षितिज नामक अपनी पुस्तक के चौतीसवें प्रकरण में भारत स्थित अमरीकी राजदूत श्री चेस्टर बोल्स ने सैनिक शक्ति के प्रयोग एवं उसकी सीमाओं का वर्णन किया है। उसका मत है कि युद्ध के बाद अमरीकी सेनाओं को दो कार्य सौंपे गये हैं—(i) साम्यवादियों को किसी भी ऐसे आक्रमण से रोके रखना जो कि तत्काल ही विश्व व्यापी संघर्ष पैदा कर सकता है; उदाहरण के लिए पश्चिमी योरोप पर आक्रमण अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका पर आणविक आक्रमण। (ii) कोरिया की भांति स्थानीय कार्यों को सम्भालना जहाँ साम्यवादी शक्तियां परम्परागत शस्त्रों से लैस है। बोल्स के विचार से अमरीकी सेनाओं ने इन दोनों कार्यों को ठीक तरह निभाया है। रूस तथा अमरीका दोनों ही देशों में अणु

सुरक्षा को भी खतरे में डालने का वचन दे दिया है किन्तु वह एशिया के देशों को ऐसा वचन न तो दे सका है और न दे सकता है; क्योंकि साम्यवादी देश यह जानते हैं कि अमरीकी किसी छोटे एशियाई देश के समर्थन में विश्व युद्ध का खतरा मोल नहीं लेंगे, अतः वे वहां आक्रमण करके उसके झूठे वायदों का पाखण्ड विश्व के सम्मुख प्रकट कर उसके सम्मान एवं शक्ति को गहरा धक्का पहुंचा देंगे। एशिया तथा मध्यपूर्व में साम्यवादी आक्रमण होने पर अमरीका के पास दो ही मार्ग रह जायेंगे—या तो यह अणु युद्ध प्रारम्भ करे अथवा अपना मुंह छिपा कर पीठ दिखा दे—ये दोनों ही स्थितियां विनाशकारी व अपमानजनक हैं। इधर योरोप में प्राथमिक निरोध के रूप में विशाल आणविक प्रतिकार की आवश्यकता है जिसे अमरीका दे नहीं पायेगा। दूसरे, यदि रूस ने अमरीका के विरुद्ध अणुयुद्ध छेड़ा तो वह योरोप के देशों को तटस्थ होने को कहेगा तथा ये राष्ट्र क्योंकि (i) योरोप को युद्ध क्षेत्र न बनाने के लिए कृत संकल्प हैं, (ii) दो विश्वयुद्धों की क्षति को अभी पूरा नहीं कर पाये हैं तथा (iii) वे अपने आपको रूस व अमरीका की भांति खण्डहर होने देना पसन्द न करेंगे इसलिए अमरीका की सैनिक शक्ति पूर्ण युद्ध की दशा में भी बहुत सीमित हो जाती है। इस सीमा का परिणाम होगा अमरीकी मित्रता का न्यूनतम होना तथा साम्यवादी शक्तियों का प्रसार। स्थानीय आक्रमणों का स्थानीय शक्तियों द्वारा प्रतिरोध करके कोरिया में साम्यवाद के विस्तार को सफलतापूर्वक रोक दिया गया था किन्तु हिन्द चीन में यह नीति सफल न हो सकी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अमरीकी सैनिक नीति के मुख्यतः तीन निष्कर्ष निकलते हैं—

(i) आक्रमण कई प्रकार के होते हैं अतः उनका प्रतिरोध भी कई प्रकार से किया जाना चाहिए। सामरिक महत्व की वायुसेना की भांति अत्यधिक गतिशील परम्परागत सेनायें भी बहुत आवश्यक हैं।

(ii) अणु शस्त्रों के विकास में एक ऐसा समय आ जायगा जबकि 'श्रेष्ठ' नहीं किन्तु 'पर्याप्त' अणु शस्त्रों को सुरक्षा के लिए उपयुक्त माना जायगा। परम्परागत सेना के प्रयोग एवं प्रशिक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

(iii) अमरीका को सोवियत रूस अथवा साम्यवादी चीन के भावी आक्रमणों को रोकने के लिए एक रेखा खींच देनी चाहिए। किन्तु ऐसा करने से पहले काफी सोच-विचार लेना आवश्यक है। बिना साथियों के तथा बिना पर्याप्त सोच-विचार के किये गये अस्पष्ट और मनमाने वायदे, जिनके पालन करने का कोई गम्भीर इरादा नहीं है वैसे ही खतरनाक हैं जैसे कि वायदों का बिल्कुल न करना। इस प्रकार की रेखा खींचने पर बाहरी ढंग के आक्रमण को रोका जा सकता है किन्तु इस नीति का पालन करते हुए ऐसा न हो कि विश्व अमरीका को सैन्यवादी अथवा आक्रमणकारी समझ बैठे। वोल्स के मतानुसार अमरीकी सैनिक नीति की प्रमुख आवश्यकतायें इस प्रकार हैं—

(i) सैनिकवादी हुए बिना सैनिक शक्ति में प्रबल होना।

(ii) निरोधक अथवा आमन्त्रित युद्ध की पूर्ण समाप्ति को अस्वीकार करना।

(iii) विभिन्न सैनिक आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए व्यवस्था करना।

(iv) बिना उद्दण्डता दिखाये सामरिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में अपने मित्रों के साथ कार्य करना सीखना।

(v) धमकी दिये बिना राजनैतिक दृष्टि से व्यावहारिक रेखा की प्रतिरक्षा के लिए अपने दृढ़ निश्चय को स्पष्ट करना।

वर्तमान विश्व राजनीति के प्रांगण में सैनिक शक्ति का उपयोग प्रायः पूर्ण युद्ध के रूप में ही किया जा सकता है। वैसे प्रत्येक घटना पर निर्णायक प्रभाव डालने में यह असमर्थ रहती है। वोल्स के शब्दों में "कोई भी सैनिक प्रतिरक्षा प्रणाली चाहे वह कितनी भी विशाल और कुशल क्यों न हो अकेले ही शान्ति और सुव्यवस्थित प्रगति का आश्वासन नहीं दे सकती, जिसे विश्व समुदाय को, यदि युद्ध और वर्ग के दोहरे खतरों से उसे बचना है, तो अवश्य प्राप्त करना चाहिए।"[1] एडमिरल माहन का कहना है कि "सैन्य शक्ति का उद्देश्य नैतिक विचारों को जड़ पकड़ने के लिए समय प्रदान करना है।" मिस्टर वोल्स की शिकायत है कि "हमने भौतिक और सैन्य शक्ति की प्रभावशीलता का मूल्यांकन अधिक किया है और जनता तथा विचारों की शक्ति का मूल्यांकन कम किया है।" उनका सुझाव है कि 'साम्यवाद के विरुद्ध हमारी सैनिक प्रतिरक्षा की अधिक महत्वपूर्ण अग्रिम पंक्तियों के पीछे और इस चिन्ता से मुक्त कि मास्को क्या करता है और क्या नहीं, हमें एक विश्व व्यापी कार्यक्रम तैयार करना चाहिए, जो युग-प्राचीन वर्ग और युद्ध की समस्याओं का समाधान कर सके।"

आर्थिक सहायता के उपयोग एवं सीमाओं पर वोल्स के विचार
(Chester Bowles on the use and limitations of Economic Aid)

यदि हम विश्व से युद्ध को दूर करना चाहते हैं तो आर्थिक प्रगति की विश्व-व्यापी मांग पर यथोचित ध्यान देना पड़ेगा। वर्तमान विश्व में किसी देश की सरकार, चाहे वह कितनी ही ईमानदार अथवा स्वतन्त्रता की पोषक हो, तब तक कायम नहीं रह सकती जब तक कि वह जनता को यह विश्वास न दिला दे कि वह उन्हें राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सुदृढ़ और चमत्कारपूर्ण आर्थिक विकास भी प्रस्तुत कर सकती है। अर्ध-विकसित देशों में चहुंमुखी विकास की मांगें रेखागणित की प्रगति से आगे बढ़ रही हैं जबकि इन मांगों को पूरा करने की प्रगति अंकगणित के अनुसार रही है। आर्थिक विकास को तीव्रगति से चलाने के मार्ग में इन देशों के सामने अनेक कठिनाइयां हैं जैसे यहां पूंजी सम्बन्धी साधनों का अभाव है। इन देशों की सरकारें उच्चतर वेतनों के लिए संगठित मांगों से दबी हुई हैं (भारत भर में मंहगाई भत्ते बढ़ाने की मांगें उग्र रूप में देखी जा सकती हैं)। ये ऋण या अनुदान के रूप में भारी पैमाने पर बाहरी पूंजी प्राप्त नहीं कर सकते। इनके पास शोषण के लिए उपनिवेश नहीं हैं। करों की मात्रा बढ़ा कर जनता के कन्धों पर भार बढ़ाने की भी एक सीमा है जो कि पर्याप्त नहीं है।

---

1. Chester Bowles, op. cit. P. 369.

आर्थिक सहायता के कारण

मिस्टर वोल्स का कहना है कि इन अर्धविकसित देशों के विकास के लिए अमरीका द्वारा आर्थिक सहायता दिया जाना अनेक कारणों से आवश्यक है, जैसे—

(१) इन देशों के लोगों में प्रगति की भावना द्वारा उस शक्ति एवं विश्वास का विकास करना जिसके द्वारा ये साम्यवाद के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो सकें।

(२) औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित देशों की 'प्रगति की भूखी' जनता शीघ्र ही वंचक नेताओं के प्रलोभनों का शिकार बन जाती है।

(३) संसार बड़ी उत्सुकतापूर्वक यह देख रहा है कि लोकतन्त्रात्मक भारत एवं एकतन्त्रात्मक चीन के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा में कौन कम समय में अधिक से अधिक आर्थिक विकास कर लेगा।

(४) इस बदलते हुए विश्व में अमरीका समृद्धिशाली बन कर तब तक नहीं रह सकता जब तक कि विश्व के अन्य देशों से भारी गरीबी एव दरिद्रता न मिट जाय।

(५) शीतयुद्ध के शिथिल हो जाने पर आर्थिक विकास के साम्यवादी एवं प्रजातन्त्रात्मक ढंग के बीच प्रतिस्पर्धा और भी अधिक गहरी हो गई है।

(६) विश्व के समस्त औद्योगिक उत्पादन का आधा अंश अमरीका के पास है, अतः केवल वही इस स्थिति में है कि असाम्यवादी अर्धविकसित राष्ट्रों को सहायता प्रदान कर सके।

उक्त कारणों से आर्थिक सहायता योजनाओं का क्रियान्वयन आवश्यक बन जाता है। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस सहायता के आधार पर किसी स्वतन्त्र राष्ट्र की निष्ठा को नहीं खरीदा जा सकता। यह भी आवश्यक नहीं कि एशिया, अफ्रीका अथवा दक्षिणी अमरीका का कोई राष्ट्र अमरीकी आर्थिक सहयोग के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करे। इसके अतिरिक्त जिन राष्ट्रों में साम्यवाद का प्रभाव नहीं है वहाँ भी अमरीका को आर्थिक विकास में सहयोग देना चाहिये ताकि साम्यवाद के भावी हस्तक्षेप को दूर रखा जा सके। लोगों की मूल आवश्यकताओं को पूरा कर देना ही उनको साम्यवाद विरोधी बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि एशियाई क्रांतियों का नेतृत्व प्रायः भूखे किसानों ने नहीं वरन् हताश मध्यम वर्गीय बुद्धि जीवियों ने किया है। इन देशों का आध्यात्मिक विकास भी उतना ही जरूरी है जितना कि औद्योगिक विकास। उस राष्ट्र को कोई नहीं बचा सकता जो स्वयं अपनी रक्षा के लिए कृत संकल्प नहीं है और इस प्रक्रिया में ठोस उत्सर्ग करने के लिए तैयार नहीं है।

अर्धविकसित देशों को आर्थिक सहायता देने के मार्ग में अनेक कठिनाइयां भी आती हैं जैसे अमरीका का विदेशी सहायता बजट बहुत भारी हो गया है। दूसरे, ज्यों-ज्यों अर्धविकसित देश विकास के मार्ग पर बढ़ते

जायेंगे, उनमें आत्म-विश्वास का प्रसार होता जायगा तथा उनकी प्रतिक्रिया भी अमरीका की आशा के विरुद्ध होती चली जायेगी। इन देशों की प्रगति का स्वागत करने के लिए अमरीका को काफी परिपक्व होना पड़ेगा। उसे यह समझना पड़ेगा कि यह वही अहमन्यता है जो उनकी बढ़ती हुई उस स्वदेशी शक्ति से उत्पन्न होती है जो उन्हें साम्यवाद के या किसी भी अन्य बाहरी शक्ति के लिए दुर्गम बना देती है। अमरीका अन्य राष्ट्रों को अपना उत्पादन बेचना जितना आसान बना लेगा उतना ही कम उसे ऋणों एवं अनुदानों की उन्हें आवश्यकता पड़ेगी। इसके अतिरिक्त उनका जीवन-स्तर जितना ऊंचा उठेगा उतनी ही अधिक चीजें वे अमरीकी उत्पादकों से खरीदने योग्य होंगे। मिस्टर बोल्स का सुझाव है कि अमरीकी सरकार को उन अमरीकी फर्मों को सभी व्यावहारिक प्रोत्साहन प्रदान करने चाहिए जो समुद्र पार पूंजी लगाने के लिए तैयार हैं। विशेषकर एशिया, दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका में, जहां कि पूंजी की बहुत आवश्यकता है, यह नीति अपनाई जानी चाहिए।

अमरीका और साम्राज्यवाद
(U.S.A. and Imperialism]

प्रारम्भ से ही अमरीकी राजनीति साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध स्वतन्त्रता एव समानता का पक्ष ग्रहण करती रही है। अमरीका के राज्यों ने विदेशी शासकों के विरुद्ध क्रांति में अनगिनत बलिदान देकर अपने आपको स्वतन्त्र बनाया था। फिर भी चेस्टर बोल्स का यह कथन सत्य है कि शक्तिशाली राष्ट्रों के लिए साम्राज्यवाद का प्रलोभन एक मौलिक पाप है। क्यूबा में स्पेनिश शासन के विरुद्ध जब विद्रोह हुआ तो अमरीका ने अपने अतीत की परम्पराओं से प्रभावित होकर पड़ोसी की सहायता की। किन्तु युद्ध का एक अनपेक्षित परिणाम यह हुआ कि फिलिपाइन्स, गुआम और पोर्टोरीको में स्पेन के शासन के स्थान पर अमरीकी साम्राज्यवादी शासन स्थापित हो गया। सन् १८४६ में अमरीका ने मैक्सिको से विशाल दक्षिण-पश्चिमी भाग को हथिया लिया। राष्ट्रपति मकिनले को कहना था कि "सच तो यह है कि मैं फिलिपाइन्स नहीं चाहता था और जब वह देवताओं से हमें उपहार-स्वरूप प्राप्त हुआ तो मैं समझ नहीं पाया कि उसके साथ क्या किया जाय।" राष्ट्रपति इस प्रश्न पर पर्याप्त विचार-विमर्श करने के बाद इस निष्कर्ष पर आये कि उनके सामने फिलिपाइन्स को ले लेने के सिवा और कोई चारा ही न था।

राष्ट्रपति के इस निर्णय का अनेक राजनीतिज्ञों एवं विचारकों ने कड़ा विरोध करते हुए इसे अमेरीकी उपनिवेश-विरोधी परम्पराओं के विपरीत बताया। जनवरी १८९९ में सीनेट में सीनेटर होर ने विस्तार की नीति के विरोध का नेतृत्व करते हुए यह अभियोग लगाया कि द्वीप के प्रदेशों को जबर्दस्ती मिलाना स्पष्टतः हमारी स्वतंत्रता की घोषणा के विपरीत है। अब्राहम लिंकन कहा करते थे कि "कोई भी मनुष्य कभी किसी दूसरे का स्वामी बनने के लिए नहीं बनाया गया। कोई भी राष्ट्र कभी दूसरे राष्ट्र का

स्वामी बनने के लिए पैदा नहीं हुआ।" ब्यान का कहना है कि "हम फिलिपाइन्स में स्वशासन के सिद्धान्त का विरोध यहां अपने सिद्धान्त को कमजोर बनाये बिना नहीं कर सकते।" अमरीकी साम्राज्य इन विरोधी तर्कों एवं विचारों के बाद भी पनपता रहा क्योंकि बहुत से लोगों का यह विश्वास था कि हम किसी भी ऐसी भूमि से वापिस नहीं आ सकते जहां भाग्य ने हमारा झंडा फहरा दिया है। मैक्सिको एवं मध्य अमरीका में जल सेना का प्रायः परराष्ट्र नीति के साधन के रूप में ही प्रयोग किया गया। सन् १९११ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने पनामा नहर पर अपना प्रभाव बढ़ा लिया।

अमरीका में साम्राज्यवाद की लहर परिस्थितियों के झोंकों से पैदा हो गई थी किन्तु फिर भी इन लहरों का विरोध करने वाले अपने देशवासियों को अमरीकी क्रान्तिकारी परम्परा की याद दिला देते थे ताकि वे परम्परा विरोधी कार्यों को त्याग सकें। वोल्स का कहना है कि साम्राज्यवादी नीति अमरीकी परम्परा के विरुद्ध थी और एक ही पीढ़ी में अमरीका के साम्राज्यवादी प्रयोग समाप्त प्रायः हो चुके थे। २ अप्रैल, १९१७ को कांग्रेस में युद्ध की घोषणा से सम्बन्धित भाषण देते समय कहा था "हमारी अपनी कोई स्वार्थपूर्ण आवश्यकतायें नहीं हैं। हम न तो विजय चाहते हैं और न प्रभुत्व। हम अपने लिए कोई छूट नहीं चाहते और हम जो बलिदान स्वेच्छा से करेंगे उसके लिए कोई मुआवजा भी नहीं चाहते। हम केवल मानव मात्र के अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं।" द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ में व्यक्त किये गये विचारों एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उत्पन्न समस्याओं पर रुख ग्रहण करते समय अमरीकी अधिकारियों का जो रवैया रहा है उसे देखने पर ऐसा लगता है कि अमरीका ने साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रायः विरोध किया है तथा वह स्वतन्त्रता, समानता एवं प्रजातन्त्र का पूरा समर्थक है। साम्यवादी देशों में, मुख्यतः रूस एवं चीन द्वारा, अमरीका को साम्राज्यवाद का गढ़ बताया जाता है। तथा उसकी आर्थिक सहायता एवं सैनिक संगठनों की योजनाओं को विस्तारवादी नीति का प्रतीक माना जाता है। इस मान्यता का मूल आधार शीतयुद्ध एवं उसकी उग्रता है। हो सकता है इसमें थोड़ी सत्यता हो किन्तु यह बहुत कुछ अतिशयोक्ति है। सच तो यह है कि उपनिवेशवाद पर अमरीकी नीति स्पष्ट नहीं है। प्रायः यह कहा जाता है कि अमरीका रूस के आधिपत्य से राष्ट्रों को मुक्त कराने का प्रयास करता है; इस प्रयास में युद्ध का खतरा रहता है। किन्तु इससे दुगुने लोग नाटो शक्तियों के औपनिवेशिक आधिपत्य से मुक्त होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यहां युद्ध का खतरा भी नहीं है तथा अमरीका का प्रभाव भी निर्णायक होगा। फिर अमरीका द्वारा इस मुक्ति आन्दोलन को संचालित क्यों नहीं किया जाता।

मई, १९५५ में सीनेट की परराष्ट्र-सम्बन्ध समिति के समक्ष अपने बयान में चेस्टर बोल्स ने कहा था कि "एशिया और अफ्रीका में हमारी सद्भावनाओं को तब तक स्वीकार नहीं किया जायेगा जब तक हम उपनिवेशवाद के सम्बन्ध से अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर देते।" इस कथन

के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने कहा था कि उपनिवेशवाद के विरुद्ध यदि अमरीका स्वतन्त्र स्थिति ग्रहण करता है तो उसकी सारी सैनिक सुरक्षा-प्रणाली टूट कर खण्ड-खण्ड हो जायगी।

आइजनहावर के समय अमरीकी विदेश नीति
[U.S. Foreign Policy During Eisenhower Administration]

अनेक आधारभूत कारणों से अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच उग्र विरोध का भाव वर्तमान था। इन कारणों में प्रमुख हैं—पूञ्जीवाद को पूरी तरह मिटाने का रूस का संकल्प, रूस में तानाशाही व्यवस्था, स्वतन्त्रता का अपहरण एवं राजनैतिक आतंक, सोवियत संघ द्वारा अमरीकी ऋण चुकाने से मना कर देना, कामिण्टर्न की गतिविधियां एवं कार्य, रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने में देरी, रूसी सरकार द्वारा अमरीकी उधार पट्टे की सहायता का विवरण जनता से छिपाये रखना आदि-आदि। इन कारणों की छत्र-छाया में शीत युद्ध के बीज आरोपित हुए जो युद्धोत्तरकालीन रूस तथा अमरीका के बीच की नई नीतियों एवं घटनाओं की उचित भूमि पर पलते एवं प्रस्फुटित होते रहे। सन् १९५३ में अमरीका के आम चुनावों में रिपब्लिकन पार्टी को विजय प्राप्त हुई तथा २० जनवरी, १९५३ को २४ वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति ह्वाइट हाउस में प्रविष्ट हुआ। कई कारणों से इस नवीन सरकार, नवीन राष्ट्राध्यक्ष एवं नवीन राज्य सचिव के प्रति लोग संदेह भरी दृष्टि से यह आशंका कर रहे थे कि सम्भवतः ये अपने पहले वालों से अधिक सैनिकवादी एवं युद्धप्रिय रहेंगे। किन्तु जैसा कि पामर तथा परकिन्स का कहना है, "उसने कोई विशेष विदेश नीति की रूपरेखा नहीं रखी वरन् 'कुछ निश्चित सिद्धान्त' रखे जो उसके प्रशासन का संरक्षण करेंगे।"[1] विदेश नीति के ये सिद्धान्त मुख्य रूप से इस प्रकार थे—युद्ध का बहिष्कार, अमरीकी शक्ति का विकास, दूसरे देशों के साथ सहयोग की इच्छा, तुष्टीकरण का अभाव, अमरीकी शक्ति का दुरुपयोग नहीं, दूसरे देशों की सुरक्षा के लिए समर्थन, विश्व के उत्पादन तथा लाभ पूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन देना, संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति भक्ति भावना, पश्चिमी गोलार्ध के देशों के साथ सहयोग, योरोपीय एकता को बढ़ावा देना, सभी लोगों एवं जातियों की समानता, तथा संयुक्त राज्य को शान्ति के लिए एक प्रभावशाली शक्ति बना देना।

राष्ट्रपति आइजन हॉवर के शासन काल में घटना-चक्र कुछ ऐसा घूमा कि जिससे शीत युद्ध में कुछ समय के लिए शिथिलता आ गई तथा अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटाव को मिटाने के लिए आशायें लगाई जाने लगीं। सन् १९५३ की ३ मार्च को स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत नेतृत्व जिन

1. "He outlined no specific foreign policies, but he asserted "certain fixed principles" that would guide his Administration."

Bolton and Parkinson, op. cit. P. 710

लोगों के हाथों में आया उन्होंने कुछ लचीली तथा समझौतेपूर्ण नीतियां अपनानी चाहीं। १६ अप्रैल को राष्ट्रपति आइजन हॉवर की शांति की दलीलों को सुन कर उसे सैनिकवाद का समर्थक मानने वालों का भ्रम मिट गया। ११ मई को चर्चिल द्वारा फ्रांस, ब्रिटेन, रूस एवं अमरीका का एक शिखर सम्मेलन बुलाया गया। २७ जुलाई को तीन साल से भी अधिक समय की लड़ाई के बाद कोरिया में युद्ध विराम समझौता हो गया। अगस्त में सोवियत रूस ने यह घोषणा की कि उसने हाइड्रोजन बम का विघटन कर लिया है। दिसम्बर में संयुक्त राष्ट्र की महासभा में राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने अणु-शक्ति पर नियन्त्रण रखने एवं उसका शान्ति के लिए प्रयोग करने का प्रस्ताव रखा।

सन् १९५४ में बहुत अधिक सम्मेलन हुए, यहां तक कि जॉन फास्टर डलेस को यात्री राज्य सचिव की संज्ञा दी जाने लगी। क्रमशः बर्लिन, जेनेवा एवं मनीला में सम्मेलन किये गये। ९ मार्च सन् १९५७ को राष्ट्रपति ने कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा पास एक कानून पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार कांग्रेस ने राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया कि वह मध्यपूर्व के किसी भी राष्ट्र में अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार साम्यवादी आक्रमणों को रोकने के लिए फौजें भेज सकता है तथा सैनिक कार्यवाही कर सकता है। कानून के प्रथम भाग के अनुसार राष्ट्रपति मध्यपूर्व के सामान्य क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वाधीनता बनाये रखने वाले किसी भी देश को उसके आर्थिक विकास के लिए सहायता दे सकता है। दूसरे भाग के अनुसार वह मांग करने पर सैनिक सहायता प्रदान कर सकता था। कानून के पांचवें भाग में यह व्यवस्था थी कि प्रतिवर्ष जनवरी और जुलाई में राष्ट्रपति अपने कार्यों की रिपोर्ट कांग्रेस को पेश करे। कांग्रेस द्वारा इस सैनिक सहायता कार्य के लिए २० लाख डालर की स्वीकृति दे दी गई। राष्ट्रपति आइजन हॉवर के इस सिद्धान्त की विभिन्न देशों में अलग-अलग प्रतिक्रियायें हुई। साम्यवादी देशों ने कटु आलोचना करते हुए इसे अमरीकी साम्राज्यवाद का प्रतीक बताया। असंलग्न राष्ट्रों ने भी इसे अच्छा न समझा। किन्तु पश्चिम के पक्ष के या समर्थक अनेक राष्ट्रों ने इसे स्वीकार किया और लेबनान तथा जोर्डन में इसका प्रयोग भी किया गया।

विदेश नीति के नवीन सीमा प्रदेश
(The New Frontiers of Foreign Policy)

८ नवम्बर, १९६० से अमरीकी विदेश नीति की बागडोर राष्ट्रपति कैनेडी के हाथों में आ गई। अमरीकी विदेश नीति से सम्बन्ध रखने वाले लोग १९६० को असफल वर्ष मानते हैं जिसमें बर्लिन का उभरा हुआ झगड़ा, मई के शिखर सम्मेलन की विफलता, जून में जापान में सुरक्षा सन्धि के विरुद्ध किये गये उपद्रव तथा राष्ट्रपति के दौरे को रद्द कर देना, क्यूबा में अमरीकी सम्पत्ति का छिन जाना, अगस्त में कांगो तथा लाओस के झगड़े तथा एटलाण्टिक सन्धि में ढीलापन आ जाना आदि समस्यायें एक साथ उभर आयीं थीं। १५ जुलाई, १९६१ को राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि "हम

आज एक नये सीमा प्रदेश की धार पर खड़े हैं—यह १९६० का सीमा प्रदेश है।" उन्होंने तत्कालीन समस्याओं और खतरों पर ज़ोर डालते हुए यह कहा कि ये काफी समय तक बने रहेंगे। ऐसा नहीं है कि निकट भविष्य में ही पूर्ण एवं अन्तिम सफलता की प्राप्ति हो जाय। उनका मत था कि ये समस्यायें न प्रथम सौ दिनों में, न प्रथम हजार दिनों में, न इस प्रशासन के जीवन काल में और न इस ग्रह पर हमारे जीवन काल में ही पूरी तरह समाप्त हो जायेगी; लेकिन हमें प्रारम्भ तो करना ही चाहिए। कैनेडी शासन के आधीन नीति-निर्माताओं ने विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया था। जीवन के दो भिन्न तरीकों के बीच अब भी संघर्ष चल रहा था। एक ओर तो स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र था तथा दूसरी ओर थी साम्यवादी तानाशाही। जैसा कि चेस्टर बोल्स का मत है शीत युद्ध के तीन सीमा प्रदेश (Frontiers) हैं— सैनिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक और इन पर दो प्रमुख दृष्टिकोण पाये जाते हैं—(i) अधिक से अधिक कठोरता (Maximum rigidity) और (ii) अधिक से अधिक सज्जनतापूर्ण व्यवहार। राष्ट्रपति कैनेडी का यह विश्वास नहीं था कि समझौते एवं बातचीतों द्वारा पूर्व और पश्चिम के भेदों को मिटाया जा सकता है तो भी वे साम्यवाद के विरुद्ध अन्तिम विजय के बारे में आश्वस्त न थे। उनका कहना था कि सबसे बड़ी चुनौती तो विश्व के उस भाग द्वारा दी जा रही है जो कि शीत युद्ध के परे है। नवीन प्रशासन का यह दृष्टिकोण अमरीकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण मोड़ था।

कैनेडी प्रशासन ने विदेश नीति में एक दूसरा महत्वपूर्ण विकास यह किया कि साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को, यहां तक कि लोह दीवार के पीछे के प्रदेशों को भी राजनैतिक एवं आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र बना लिया; इससे पूर्व दोनों गुटों की सैनिक किलेबन्दी के कारण यह क्षेत्र केवल असाम्यवादी देशों तक ही सीमित था।

कैनेडी प्रशासन ने यह माना कि विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी तथा अन्य तानाशाहियां भी शत्रु हैं। विश्व की सारी परेशानियों का कारण केवल साम्यवाद ही नहीं है यह सोच कर आर्थिक एवं सांस्कृतिक सीमा प्रदेशों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। अमरीका की विदेश नीति ने सैनिक सीमाओं को तो बनाये रखने किन्तु दूसरे प्रकार की सीमाओं को पार करने पर जोर दिया। सितम्बर, १९५९ में केम्प डेविड (Camp David) में आइजन हावर तथा खुश्चेव के बीच होने वाली बैठक को कैनेडी प्रशासन ने मान लिया और कहा कि अब महाशक्तियों को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उनके हित स्पष्ट हैं तथा वे अधिक दिन तक अपने आपसी सम्बन्धों को ढीला नहीं रख सकते। जून, १९६१ में राष्ट्रपति कैनेडी वियना में खुश्चेव से मिलने के बाद अमरीका लौटे तो उन्होंने कहा कि "केवल इस प्रकार के विचार-विमर्श द्वारा ही मैं इस बारे में निश्चित हो सका कि खुश्चेव यह जानते हैं कि हम वर्तमान तथा भविष्य को किस प्रकार भिन्न रूप में सोचते हैं। मारा दृष्टिकोण पूरी तरह से परस्पर विरोधी है किन्तु अन्त में आखिर हम यह

तो जान गये कि हम कहां खड़े हैं।" इस प्रकार दोनों गुटों के बीच अस्पष्टता, संदेह एवं गलतफहमी के कारण अनेक परेशानियां एवं संकट उपस्थित हो जाते हैं वे न रहेंगे। जनवरी, १९६१ में राष्ट्रपति ने यह निर्णय लिया कि लाओस की समस्या के कारण रूस व अमरीका के बीच जो विवाद बढता जा रहा है उसे कम किया जाय। इसी महीने उसने आणविक परीक्षण के प्रयोग पर नियन्त्रण लगाने के बारे में महाशक्तियों के गतिरोध एवं विरोधों को दूर करने के प्रयास भी किये। जब प्रशासन ने सैनिक संतुलन का स्तर कमकरने की बात कही तो इस संतुलन के अमरीकी पक्ष को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का प्रयास किया गया।

नवीन प्रशासन ने अटलाण्टिक सन्धि का आर्थिक एवं राजनैतिक आधार मजबूत करने की ओर भी महत्वपूर्ण कदम उठाये किन्तु इनकी गति धीमी थी तथा यह सुरक्षात्मक प्रकृति के थे। न टो संधि में पश्चिमी योरोप का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इसे पहचानने तथा बढ़ते हुए राष्ट्रीय अणुशक्ति के प्रसार को रोकने का कैनेडी शासन ने प्रयत्न किया। इसने नाटो अणुशक्ति का विचार रखा। फ्रांस ने फरवरी, १९६० में एक न्यैष्टिक प्रयोग किया। अटलाण्टिक आर्थिक सहयोग को अमरीका ने वहीं तक समर्थन प्रदान किया जहां तक कि उसकी आर्थिक कठिनाइयां ऐसा करने की अनुमति देती थी।

क्यूबा का संकट तथा उस पर राष्ट्रपति कैनेडी का दृढ़ निर्णय उनकी नीति की सबसे बड़ी सफलता समझे जाते हैं। ४ सितम्बर, १९६२ को अपने एक वक्तव्य में राष्ट्रपति ने बताया कि सरकार को प्राप्त एक सूचना के अनुसार सोवियत संघ क्यूबा में इस प्रकार के गगनभेदी प्रक्षेपणास्त्र तथा अन्य रण-सामग्री भेज रहा है कि जिससे अमरीकी सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। २३ अक्टूबर, १९६२ को क्यूबा में रूसी राकेट अड्डों की स्थापना की निन्दा करते हुए राष्ट्रपति ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी जिसके अनुसार अमरीका के जहाजों द्वारा क्यूबा के बन्दरगाहों को घेर लेना था ताकि यहां के अड्डों को आणविक शस्त्रों से सुसज्जित करने वाली सामग्री नहीं भेजी जा सके। कैनेडी की घोषणा से विश्वभर में हलचल मच गई किन्तु प्रधान मन्त्री खुश्चेव के बुद्धिमानीपूर्ण निर्णय ने तीसरे विश्व युद्ध को रोक दिया। २८ अक्टूबर को प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की कि सोवियत संघ क्यूबा से प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डों को उखाड़ लेगा।

इस प्रकार कैनेडी के नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति कुछ परिवर्तनों के साथ अपनी पुरानी लकीरों पर ही चलती रही। जॉन एफ० कैनेडी की असामयिक हत्या के बाद उपराष्ट्रपति लिण्डन जॉनसन ने यह घोषणा की कि वे सम्भवतः उन नीतियों का पालन करते रहेंगे जिन पर कि कैनेडी शासन चल रहा था। यह घोषणा प्रारम्भ में तो बहुत कुछ यथार्थ सी प्रतीत होती थी किन्तु बाद के अमरीकी व्यवहारों में इसकी सार्थकता क्रमशः कम होने लगी। वर्तमान विश्व में राष्ट्रों के राजनैतिक रूप बड़ी तेजी के साथ परिवर्तित होते जा रहे हैं यहां तक की इनके सम्बन्ध में कुछ कल्पना करना

भी मुश्किल हो गया है। एशिया में भारत तथा चीन के बीच संघर्ष बना ही हुआ है। चीन की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से पकिस्तान ने भी अगस्त १९६५ में भारत के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इधर वियतनाम में अमरीकी एवं चीनी सेनाओं के बीच हिंसात्मक संघर्ष छिड़ा हुआ है। यहां जॉनसन प्रशासन ने अमरीका की आन एवं प्रतिष्ठा के पीछे अपने कदमों को रोक रखा है। अपार जन-धन की हानि के कारण अमरीकी राष्ट्रपति ने इस क्षेत्र में शांति स्थापित करने के अनेक उपाय खोजे तथा सुझाव प्रस्तुत किये किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक मार्ग उपलब्ध नहीं हो पाया है। अमरीकी पर्यटक राजदूत एवरल हेरीमैन तथा उपराष्ट्रपति हम्फ्री की अनेक देशों के लिए की गई यात्रा का प्रभाव भी निर्णायक नहीं हो सका है। अफ्रीका में घाना में अहिंसात्मक रूप से राष्ट्रपति नक्रूमा को अपदस्थ करके सरकार पर सेना ने अधिकार कर लिया तथा नई सरकार ने अमरीका से आर्थिक सहायता देने का अनुरोध किया है। इन्डोनेशिया में भी राष्ट्रपति सुकार्णो ने अपने सभी अधिकार जनरल सुहार्तो को सौंप दिये हैं। जनरल सुहार्तो ने इन्डोनेशिया साम्यवादी दल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया है तथा साम्यवाद के समर्थक सभी मन्त्रियों को हिरासत में ले लिया। योरोप में राष्ट्रपति जनरल दिगाल के नेतृत्व में फ्रांस निरन्तर अपनी शक्ति को बढ़ाता जा रहा है। उसने अणु आयुधों के विकास की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है, साम्यवादी चीन को इसने मान्यता दे दी है तथा इसने हाल ही में अमरीकी राष्ट्रपति को दिये गये एक पत्र में कहा है कि अटलाण्टिक सन्धि संगठन के अधीन अड्डों पर जो अमरीकी सेना फ्रांस की सीमा में है उसको वह अपने अधिकार में कर लेगा। अमरीकी राष्ट्रपति द्वारा इस घोषणा का कटु विरोध किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस संधि संगठन की एकता अब ढीली होती जा रही है। इन सभी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा परिवर्तनों का अमरीकी विदेश नीति पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ रहा है तथा पड़ेगा।

SELECTED READINGS

1. Samuel F. Bemis and G. G. Griffin, Guide to the Diplomatic History of the United States, 1775–1921 (Washington, 1935)
2. Thomas A. Bailey, A Diplomatic History of the American People (revised edition, New York, 1950)
3. Samuel Flagg Bemis, A Diplomatic History of United States (revised edition, New York, 1950)
4. Richard W. Van Alstyne, American Diplomacy in Action (Stanford, 1944)
5. Ruhl J. Bartlett (ed), The record of American Diplomacy (revised edition, New York, 1954)
6. Henry Steele Commager (ed.), Documents of American History (New York. 1950)
7. Dexter Perkins : The Evolution of American Foreign Policy (Cambridge, Mass , 1948)

8. Dexter Perkins : The American Approach to Foreign Policy (Cambridge, Mass., 1952)
9. Theodore Clark Smith The United States as a Factor in World History (New York, 1941)
10. Walter Lippmann; U S Foreign Policy ; Shield of Republic (Boston, 1943)
11. Samuel F. Bemis, The United States as a World Power (New York, 1950)
12. Richard W. Van Alstyne, American Crisis Diplomacy (Stanford, 52)
13. Whitney Hart Shephardson, The Interests of the United States as a World Power (Claremont, Cal., 1942)
14. Dexter Perkins, America and Two Wars (Boston, 1944)
15. George F. Kennan, American Diplomacy : 1900-1950 (Chica o, 1952)
16. Merle Curti, Peace or War ; The American Struggle, 1636-1936 (New York 1936)
17. James Fred Rippy, America and the Strife of Europe (Chicago, 1938)
18. Charles A. Beard and G. H. E. Smith, The Idea of National Interest (New York, 1934)
19. Thomas A. Bailey, The Man in the Street, Impact of American Public opinion on American Foreign Policy (New York, 48)
20. Gabriel A. Almond, The American People and Foreign Policy (New York, 1950)
21. Robert E. Osgood, Ideals and Self Interest in America's Foreign Relations (Chicago, 1953)
22. A. Whitney Griswold, The Far Eastern Policy of the United States (New York, 1938)
23. John K. Fairbank, The United States and China (Cambridge, Mass., 1948)
24. Foster Rhea Dulles, China and America (Princeton, 1946)
25. John Bartlet Brebner, Jr. The North Atlantic Triangle : The Inter-play of Canada, the United States and Great Britain (New Haven, 1947)
26. Albert K. Weinberg : Manifest Destiny : A study of Nationalist Expansion in American History (Baltimore, 1935)
27. Julius W. Pratt, America's Colonial Experiment (New York 1950)
28. Alfred Thayer Mahan, The United States Looks Outward, 'Atlantic Monthly', LXVI (Dec., 1890)
29. Brooks Adams The Spanish War and the Equilibrium of the World, Forum, XXV (August, 1898)

30. William G. Sumner, The Fallacy of Territorial Extension, 'Forum', XXI (June, 1896)
31. James Bryce. The Policy of Annexation for America, 'Forum', XXIV (December, 1897)
32. J.G. Carlisle, Our Future Policy, 'Harper's Magazine, XCVII (October, 1898)
33. Henry Cabot Lodge, Our Blundering Foreign Policy, 'Forum', XIX (March, 1895)
34. Richard Olney. Growth of Our Foreign Policy, 'Atlantic Monthly', LXXXV (March, 1900)
35. John R. Procter, Isolation or Imperialism. 'Forum' XXVI (September, 1898)
36. F. E. Chadwick, The Relations of the United States and Spain (3 Vols. New York, 1909-11)
37. John H. Latane, America as a World Power, 1897-1907 (New York, 1909)
38. Archibald Cary Coolidge, The United States as World Power (New York, 1918)
39. Josephus Daniels, The Wilson Era : Years of War and After, 1917-23 (Chapel Hill, N.C., 1946)
40. Charles C. Tansill, America Goes to War (Boston, 1938)
41. Alice M. Morrissey, The American Defence of Neutral Rights, 1914-1917 (Cambridge, Mass., 1939)
42. H.C. Peterson, Propaganda for War : The Campaign, Against American Neutrality, 1914-1917 (Norman, Okla, 1939)
43. Daneil Aaron (Ed.), America in Crisis (New York, 1952)
44. Paul Scott Mowret, Our Foreign Affairs (New York, 1924)
45. Arthur Bullard, American Diplomacy in the Modern World (Philadelphia, 1928)
46. George Hubbard Blakeslee, The Recent Foreign Policy of the United States (New York, 1925)
47. James T. Shotwell, War as an Instrument of National Policy and Its Renunciation in the Pact of Paris (New York, 1929)
48. David Hunter Miller, The Peace Pact of Paris (New York, 1928)
49. Francis Miller and Helen Hill, The Giant of the Western World (New York, 1930)
50. Paul M. Mazur, America Looks Abroad (New York, 1930)
51. George T. Davis, A Navy Second to None (New York, 1940)
52. William F. Willoughby, Territories and Dependencies of the United States (New York, 1950)

53. William H. Hass (ed.), The American Empire (Chicago, 1940)
54. Julius W. Pratt. America's Colonial Experiment (New York, 1950)
55. Garel A. Grunder and William E. Livezey, The Philippines and the United States (Norman, Okla, 1951)
56. Denna F. Fleming, The United States and World Organization, 1920-33 (New York, 1938)
57. B.H. Williams, The United States and Disarmament (New York, 1931)
58. Russell M. Cooper, American Consultation in World Affairs for the Preservation of Peace (New York, 1934)
59. Merze Tate, The United States & Armaments (Cambridge, Mass., 1948)
60. The Stimson and Bundy, On Active Service in Peace and War.
61. Edwin M. Brochard and William P. Lage, Neutrality for he United States (New Haven, 1937)
62. Allen W. Dulles and Hamilton Fish Armstrong, Can America Say Neutral ? (New York, 1939)
63. Hartley Livingston, Is America Afraid ? (New York, 1937)
64. Nicholas J. Spykman, America's Strategy in World Politics, New York, 1942)
65. William Allen White (ed.), Defence for America (New York, 1940)
66. Edward O Guerrant, Roosevelt's Good Neighbor Policy (Albuquerque, 1950)
67. John Foster Dulles, Peace and Change (New York, 1939)
68. Henry A. Wallace, Toward World Peace (New York. 1948)
69 Herbert Hoover and Hugh Gibson, The Problems of Lasting Peace (New York, 1943)
70. Robert A. Taft, A Foreign Policy for Americans (New York, 1951)
71. Sumner Welles, Where Are We Heading ? (New York 1948)
72. Walter Lippmann The Cold War : A Study in U. S. Foreign Policy (New York, 1947)
73. Hanson W. Baldwin, The Price of Power (New York, 1948)
74. Emory Reves, The Anatomy of Peace (New York, 1945)

75. Charles B Marshal, The Limits of Foreign Policy (New York, 1954)
76. Thomas K. Finletter, Power and Policy : U.S. Foreign Policy and Military Power in the Hydrogen Age (New York, 1954)
77. Theodore White, Fire in the Ashes (New York, 195
78. Lester Markel (ed.), Public Opinion and Foreign Policy (New York, 1949)
79. Thomas A Bailey, America Faces Russia (Ithaca, 1950)
80. David J. Dallin, The Big Three : The United States, Britain, Russia (New Haven, 1945)
81. John Foster Dulles, War or Peace (New York, 1950)
82. Denna F. Fleming, The United States and the World Court (New York, 1945)

साम्यवादी चीन की विदेश नीति
[THE FOREIGN POLICY OF COMMUNIST CHINA]

१ अक्टूबर, १९४९ को चीन की साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। उसके बाद से विश्व की सबसे बड़ी जनसंख्या एवं सशस्त्र सेना वाले इस देश का एक गतिशील एवं क्रान्तिकारी शक्ति के रूप में उदय विश्व राजनीति का स्पष्ट तथ्य रहा है। एशिया महाद्वीप पर चीन का पर्याप्त प्रभाव है। यह देश एक बड़ी शक्ति के रूप में उदित हो रहा है और चाहता है कि इसी रूप में उसको स्वीकार किया जाये। विश्व की मान्य महाशक्तियों को चुनौती प्रदान करके यह अपना महत्व एवं गौरव सिद्ध करने का हर सम्भव प्रयास करता है। इसकी महत्वाकांक्षाओं के मार्ग में आने वाले प्रत्येक देश के साथ इसका संघर्ष अवश्यम्भावी है। कोरिया संघर्ष तथा वियतनाम संघर्ष में साम्यवादी चीन ने संयुक्त राज्य अमरीका का मुकाबला किया तथा विश्व के दूसरे देशों को यह बताने की चेष्टा की कि एक मान्य शक्ति से टक्कर लेने की उसमें क्षमता है, अतः छोटे मोटे देशों से तो उसका कोई मुकाबला ही नहीं है। चीन की बढ़ती हुई शक्ति एवं प्रभाव के मार्ग में भारतवर्ष की आर्थिक प्रगति तथा सम्मान बाधा उत्पन्न कर रहे थे, इससे भारत एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में साम्यवादी चीन का एक महत्वपूर्ण प्रतिद्वन्द्वि बन गया। मार्ग के इस अवरोध को हटाने के लिए उसने २० अक्टूबर, १९६२ को भारत पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया।

चीन का दृष्टिकोण
[The Chinese Atttitude]

साम्यवादी चीन न केवल अपने खेमे के बाहर के देशों को अपना शत्रु समझता है वरन् वह उन साम्यवादी देशों की प्रगति एवं प्रभाव का भी विरोधी है जो कि उसकी स्वयं की महत्वाकांक्षाओं के मार्ग में आते हैं। इस दृष्टि से सोवियत रूस तथा उसके समर्थक देशों के साथ चीन मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं रखता। उसका दावा है कि साम्यवाद की जो व्याख्या मार्क्सोत्से तुङ्ग द्वारा की गई है वही सही है और एशिया तथा अफ्रीका के देश उसी मार्ग से साम्यवाद ला सकते हैं जो कि माओ द्वारा बताया गया है। दूसरे शब्दों में चीन अपने ऊपर किसी का नेतृत्व नहीं चाहता है, इसके विपरीत वह स्वयंविश्व साम्यवादी आंदोलन का नेतृत्व करना चाहता है। इसलिए विश्व राजनीति में साम्यवादी चीन की विदेश नीति का अध्ययन अत्यन्त जरूरी एवं उपयोगी बन जाता है।

साम्यवादी चीन की विदेश नीति वहां के आक्रमणकारी राष्ट्रवाद एवं वहां के नेताओं द्वारा अभिव्यक्त साम्यवादी विचारधारा का एक मिश्रित रूप है। इस विदेश नीति में मार्क्सवाद, लेनिनवाद, स्टालिनवाद एवं माओवाद के सिद्धान्तों का समन्वय है। इन सिद्धान्तों को चीन के राष्ट्रीय हित की मौलिक मान्यताओं के साथ संयुक्त किया जाता है। राष्ट्रीय हित का निर्धारण यहां की भौगोलिक स्थिति, बढ़ती हुई जनसंख्या, इसका इतिहास एवं संस्कृति, इतिहास की राजनैतिक उलझनें, राष्ट्रीय साधन स्रोतों का स्तर तथा मितव्ययता के साथ प्रगति करने के इसके प्रयास, संदेह, डर एवं महत्वाकांक्षा आदि के आधार पर किया जाता है। डोक बरनेट के कथनानुसार चीन ने अपनी औद्योगिक शक्ति का जो आधुनिकीकरण किया है वह इतिहास का एक आश्चर्यजनक विकास है। इसका प्रभाव इस देश की सीमाओं से दूर स्थित अर्धविकसित देशों पर भी पर्याप्त रूप से पड़ता है।[1] आज साम्यवादी चीन ने अपने इतिहास के अनुभवों, मार्क्सवाद के विश्वासों तथा सोवियत संघ के अनुभवों को माओ के निर्देशन के अधीन मिला लिया है ताकि नेतृत्व के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भारी जनसंख्या का प्रयोग किया जा सके। यहां के नेता कम समय में ही पिछड़ी अर्थव्यवस्था को आधुनिकीकृत औद्योगीकरण से युक्त बनाने की धुन में हैं।

अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए चीन के नेता साम्यवाद की रूसी व्याख्या को चुनौती प्रदान करने में भी आगा पीछा नहीं देखते। वे सोवियत आज्ञा को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। ताइवान, भारत, इन्डोनेशिया, वियतनाम, अफ्रीका, संयुक्त राज्य अमरीका आदि के सम्बन्ध में चीनी नेताओं द्वारा जो नीति अपनायी गई है वह रूस से बातचीत करके या सलाह मशवरा करके नहीं अपनायी गई। इसके विपरीत कुछ स्थानों पर तो रूस की मर्जी के विरुद्ध व्यवहार किया गया है। आन्तरिक एशिया (Inner Asia) हमेशा से ही रूस और चीन के बीच संघर्ष का क्षेत्र रहा है। मंगोलिया, मचूरिया, बाहरी सिंकियांग तथा भारतीय सीमा प्रदेश के सम्बन्ध में दोनों के बीच संघर्ष है। एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के अर्द्ध-विकसित देशों में साम्यवादी नियंत्रण की स्थापना के प्रश्न पर भी दोनों साम्यवादी देशों के बीच पर्याप्त संघर्ष पूर्ण स्थिति है।

सोवियत रूस की अपेक्षा चीन की जनसंख्या तीन गुनी है। चीन में परम्परागत हथियारों से लैस सैनिक शक्ति भी पर्याप्त है। अणुबम तथा हाइड्रोजन बम का विघटन करने के बाद से चीन एक अणुशक्ति सम्पन्न देश बन गया है तथा इस क्षेत्र में उसकी प्रगति जारी है। इस प्रकार चीन अपनी शक्ति के आधार पर स्वावलम्बी बनता जा रहा है तथा रूस के साथ उसके समझौते के आसार कम होते जा रहे हैं। इतने पर भी यह कहा जाता है कि यदि युद्ध में चीन की साम्यवादी सरकार के अस्तित्व को खतरा हुआ तो सोवियत संघ उसकी सहायता के लिए आगे आयेगा।

---

1. *A. Doak Barnett*, Communist China and Asia, 1960, P. 4

साम्यवादी चीन में निर्णय लेने की प्रक्रिया
(Decision Making in Communist China)

साम्यवादी चीन में विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णय लेने की प्रक्रिया इतनी स्पष्ट एवं खुली हुई नहीं है कि उसका अध्ययन आसानी से किया जा सके। यहां सोवियत रूस से भी अधिक गोपनीयता रखी जाती है और अनेक बातों के सम्बन्ध में केवल सम्भावित परिकल्पना के आधार पर ही कार्य चलाना होता है। यद्यपि चीन एक कृषि प्रधान देश है किन्तु फिर भी यहां के प्रशासन ने इस देश को शीघ्र ही एक औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति के रूप में परिवर्तित करने के लिए क्रांतिकारी साधनों को अपनाया है। इस देश की आक्रमणकारी नीतियों का प्रमाण कोरिया युद्ध में व्यापक स्तर के हस्तक्षेप से प्राप्त हुआ। इसने इन्डोचीन से फ्रांसीसी शक्ति को समाप्त किया, तिब्बत को अपने अधिकार में कर लिया, भारतवर्ष एव दक्षिण के कुछ देशों की सीमाओं पर घुसपैठ की, इन्डोनेशिया में साम्यवादी क्रांति को सक्रिय समर्थन प्रदान किया तथा अफ्रीका महाद्वीप में कई एक साहसिक कार्य किये। इन सब में चीन की आक्रमणकारी राष्ट्रवाद की नीति सामने आती है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में संघर्षों को उकसाने, प्रोत्साहन देने तथा व्यापक बनाने में साम्यवादी चीन द्वारा जो कुछ भी किया गया है वह विश्व राजनीति का एक तथ्य है। चीन के नेता भी इस तथ्य को गर्व के साथ स्वीकार करते हैं। ३ सितम्बर, १९६५ को चीन के सुरक्षा मंत्री ने यह कहा कि "आक्रान्त राष्ट्रों एवं लोगों द्वारा किये जाने वाले क्रांतिकारी युद्धों का विरोध करने की अपेक्षा हमने उनको निश्चित समर्थन तथा सक्रिय सहायता प्रदान की है। अतीत में भी ऐसा होता था, वर्तमान में भी ऐसा ही है तथा समय के साथ-साथ ज्यों-ज्यों हम अधिक शक्ति शाली होते जायेंगे त्यों-त्यों भविष्य में उनको अधिक समर्थन प्रदान करेंगे।"[1]

यदि हम चीन के साम्यवादी दृष्टिकोण की उत्पत्ति जानना चाहें तो हमें यह जानना होगा कि चीन बाहरी दुनियां के प्रति बहुत पहले से ही शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण रखता है। इसके अतिरिक्त वह अपने निकट की सभ्यताओं में सर्वोच्च होने का दावा करता है। आज चीन के राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पर्याप्त बलिदान की आवश्यकता है। जनता में इस बलिदान की प्रेरणा पैदा करने के लिए यहां के नेताओं को संघर्षपूर्ण वातावरण बनाना होता है। जनता के सामने विदेशी शत्रुओं का भय दिखाया जाता है, भय और निराशा की तस्वीर खींची जाती है, भोजन की कमी तथा सामान का

1. "As for revolutionary wars waged by the oppressed nations and peoples, so far from opposing them we invariably give them firm support and active aid. It has been so in the past, it remains so in the present and, when we go in strength as time goes on, we will give them still more support and aid in the future."
—Defence Minister of Communist China, on 3rd Sep., 1965

अभाव दिखाया जाता है और इन सभी चुनौतियों का सामना करने के लिए बाध्यकारी श्रम की आवश्यकता एवं औचित्य को सिद्ध किया जाता है।

क्रांति के इस स्तर पर यदि चीन द्वारा आक्रामक विदेश नीति अपनायी जाती है तो यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। चीन अपनी प्राचीन धारणाओं के अनुसार एशिया का सबसे महान देश बनना चाहता है। वह सोवियत संघ को अपनी बराबरी का दर्जा देने के लिए तैयार नहीं है। एक क्रांतिकारी उत्साह से प्रेरित होकर चीन आक्रमणकारी नीतियां अपनाता है तथा उसका विचार है कि इस नीति को अपनाने पर उसका स्वयं का बहुत कम नुकसान होता है।

नीति निर्माण में साम्यवादी दल का योगदान
(The Role of Party in Policy Making)

सोवियत संघ की भांति चीन में भी साम्यवादी दल को नीति निर्माण का एक सर्वशक्तिशाली साधन माना जाता है। दल के पोलिट ब्यूरो में कड़े अनुशासन युक्त कार्यकर्त्ता कार्य करते हैं। वे गृहनीति एवं विदेशनीति से सम्बन्धित निर्णय लेने में केन्द्रीय कार्य करते हैं। सरकार तो दल की इच्छा को क्रियान्वित करने का एक साधन मात्र है। दल इस सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है कि पदसोपान के शीर्ष स्तर की आज्ञाओं का पूर्ण रूप से पालन किया जाये। सोवियत संघ की भांति चीन में भी दल के सदस्यों की संख्या कुल जनसंख्या का एक छोटा भाग होता है। यहां की लगभग सात सौ मिलियन जनसंख्या में दल के लोगों की संख्या लगभग २० मिलियन है।

साम्यवादी चीन में शक्ति के पदसोपान का जो रूप अपनाया गया है वह पर्याप्त महत्व रखता है। दल का संविधान यह घोषणा करता है कि राष्ट्रीय दलीय कांग्रेस दल का सर्वोच्च नेतृत्वकारी निकाय है। इतने पर भी कांग्रेस को सन् १९४५ से १९५६ तक संगठित नहीं किया गया। उसके बाद दस वर्ष के काल में इसकी बैठक केवल एक बार ही की गई जबकि संविधान के अनुसार इसकी बैठकें प्रतिवर्ष होना जरूरी था। जब कांग्रेस की बैठक की गई तो इसने कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया। केवल भाषणों को सुना, एक केन्द्रीय समिति का चुनाव किया तथा प्रस्तुत किये गये प्रस्तावों को स्वीकृति प्रदान की।

दल की केन्द्रीय समिति दल के कार्यों को निर्देशित करने के लिए उत्तरदायी है किन्तु उसका यह उत्तरदायित्व केवल सैद्धान्तिक सत्यता रखता है। रूस की भांति यहां की केन्द्रीय समिति भी पोलिट ब्यूरो तथा सचिवालय की राय को स्वीकृति मात्र प्रदान करती है। नीति निर्माण एवं नीति के क्रियान्वयन के लिए ये ही प्रमुख यंत्र हैं। परम्परागत रूप से पोलिट ब्यूरो में २६ सदस्य होते हैं। इन सदस्यों द्वारा ही नीति सम्बन्धी समस्त निर्णय लिए जाते हैं तथा बाद में इन्हें सरकार और दल द्वारा कार्य रूप

प्रदान किया जाता है। पालिट ब्यूरो में एक स्थायी समिति होती है जो कि इस बड़े निकाय के उच्च श्रेणी के सदस्यों को मिला कर बनायी जाती है। इस स्थायी समिति के सदस्य गण ही साम्यवादी चीन में शक्ति के वास्तविक केन्द्र होते हैं। इस समिति द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों का रूप व्यक्तिगत होता है। सिद्धान्त या विदेशनीति से सम्बंधित विषयों पर लिये जाने वाले निर्णयों को प्राय: पॉलिट ब्यूरो की राय एवं स्वीकृति के अनुसार ही लिया जाता है।

दल का सचिवालय दलीय सभापति के निर्देशन में कार्य करता है तथा नीति सम्बंधी विषयों में उसका वही योगदान है जो कि सोवियत रूस में सचिवालय का होता है। यह अपने प्रचार विभाग के माध्यम से ऐसे व्यापक कार्यक्रमों का सम्पादन करता है जो कि जनता को साम्यवादी सिद्धान्तों के सामने झुका दे। समुद्र-पार के चीनियों के साथ भी सम्बन्ध बनाये रखा जाता है ताकि साम्यवादी चीन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में उनकी सहायता प्राप्त की जा सके। दल द्वारा नियंत्रित अनेक सामाजिक एवं आर्थिक संगठनों द्वारा जनमत को इस प्रकार मोड़ा जाता है कि वह जनमत को शासन तथा उसकी नीतियों के लिए तैयार कर सके।

सरकार की औपचारिक संस्थायें
(The Formal Institutions of Govt.)

सरकार की कई एक औपचारिक संस्थायें ऐसी होती हैं जो कि नीति निर्माण के कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं। ऐसी ही एक प्रमुख संस्था राष्ट्रीय जन कांग्रेस (National People's Congress) है, एक कांग्रेस की स्थायी समिति है जो कि सोवियत संघ की प्रीसिडियम जैसी होती है, एक राज्य परिषद होती है जो कि सोवियत मंत्री परिषद से समानता रखती है। दल के प्रस्ताव करने पर तथा दल के निर्देशन के अनुसार राज्य के सभी विभागों द्वारा महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय लिये जाते हैं। सरकार का यह कार्य है कि वह दलीय नेतृत्व द्वारा लिए गये निर्णयों को राज्य की शक्ति के माध्यम से तथा नौकरशाही के साधन द्वारा क्रियान्वित करे।

गणराज्य का सभापति (Chairman) राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद तथा राज्य के सर्वोच्च सम्मेलन की अध्यक्षता करता है। इस सम्मेलन में सरकार के उच्च श्रेणी के नेता होते हैं। सभापति तथा सम्मेलन में सरकार का संयुक्त नेतृत्व होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में जो कार्य केबिनेट तथा राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद द्वारा किया जाता है बहुत कुछ वही कार्य चीन में सर्वोच्च राज्य सम्मेलन द्वारा सम्पन्न किया जाता है। राज्य मंत्री परिषद का अध्यक्ष प्रधान मंत्री कहलाता है, इसकी नियुक्ति गणराज्य के सभापति द्वारा की जाती है। दल एवं सरकार की एकता के कारण नीति का नियन्त्रण किसी संस्था के हाथों में रहने की अपेक्षा कुछ प्रमुख व्यक्तियों के हाथ में आ जाता है। ये प्रमुख व्यक्ति ही अपने विवेक तथा स्वेच्छा के आधार पर जो तय करते हैं वही विदेश नीति का अंग बन जाता है।

विदेश मंत्रालय
[Ministry of Foreign Affairs]

वैसे साम्यवादी सिद्धान्त सेना की अपेक्षा दल की सर्वोच्चता पर जोर देता है किन्तु फिर भी चीन की विदेश नीति के निर्णय लेने की प्रक्रिया में सेना के दृष्टिकोण का भी पर्याप्त प्रभाव रहता है। पालिट ब्यूरो तथा उसकी स्थायी समिति सुरक्षा और शस्त्रों के प्रश्नों को राष्ट्रीय नीति के साथ संयुक्त करने का अन्तिम अधिकार रखती है। सुरक्षा तथा रणनीति के तकनीकी पहलुओं पर राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद द्वारा निर्णय लिये जाते हैं। इसकी सहायता सुरक्षा मंत्रालय द्वारा की जाती है। सुरक्षा मंत्रालय के अधिकारी दल में भी ऊंचा स्तर रखते हैं अतः वे विदेश नीति पर अपना प्रभाव रखने में सफल हो जाते हैं।

आर्थिक विकास
[Economic Development]

साम्यवादी चीन की बढ़ती हुई शक्ति का आधार यह है कि दल के द्वारा चीन के उद्योगों एवं विज्ञान को विकसित करने के लिए पर्याप्त प्रयास किया जा रहा है। आर्थिक नीति का निर्धारण शीर्ष के दलीय नेतृत्व द्वारा किया जाता है। ऐसा करते समय वह जिस परिकल्पना द्वारा कार्य करता है वे हैं—बड़े उद्योगों का प्रसार, खपत पर प्रतिबन्ध, अधिक से अधिक धन लगाना तथा एक बड़ी सशस्त्र सेना का संगठन आदि। उत्पादन को यथा-सम्भव अधिक बढ़ाने के लिए बड़े स्तर पर राष्ट्रीय नियोजन किया जाता है। नियोजन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सभी सम्भव साधनों को अपनाया जाता है। इन सभी नीतियों एवं तरीकों के सहारे साम्यवादी चीन ने सन् १९५० के दौरान पर्याप्त प्रगति की।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी आयोग द्वारा देश के वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास का प्रयास किया जाता है। अनुसंधान एवं विकास कार्यों द्वारा मौलिक अनुसंधान कार्यों को प्रोत्साहन दिया जाता है। चीन की यात्रा करने वाले अनेक विदेशी वैज्ञानिकों का मत है कि विज्ञानों की अकादमी का नीति निर्धारण में पर्याप्त प्रभाव रहता है। चीन द्वारा सन् १९६४ में जो अणुबम का परीक्षण किया गया वह इस बात का द्योतक है कि इस देश द्वारा वैज्ञानिक अनुसंधान एवं विकास पर कितना कुछ खर्च किया जा रहा है। साम्यवादी चीन की सबसे बड़ी कठिनाई खाद्य समस्या को सुलझाना है। यहां जनसंख्या की समस्या और भी अधिक आलोचनात्मक है। इसके फलस्वरूप देश के साधनों को उत्पादन की ओर लगाना होता है। चीन द्वारा सोवियत रूस की भांति यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि प्रारम्भिक वर्षों में वह अपना ध्यान केवल भारी कारखानों की स्थापना पर लगाये, शस्त्रों पर खर्च करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपना सम्मान बढ़ाये।

साम्यवादी चीन में नीति निर्माण की प्रक्रिया अपने लक्ष्य एवं प्रकृति की दृष्टि से पश्चिमी प्रजातंत्रों से भिन्न होती है। नीति रचना का कार्य या

तो मंत्रालयों में प्रारम्भ हो सकता है अथवा दलीय सचिवालय में। यदि यह मंत्रालय में प्रारम्भ हुआ है तो राज्य परिषद के माध्यम से पालिट ब्यूरो को भेज दिया जायेगा। यदि यह दलीय सचिवालय में प्रारम्भ हुआ है तो इसे सीधा पॉलिट ब्यूरो को भेजा जा सकता है। पॉलिट ब्यूरो सम्बन्धित मंत्रालयों को उस विषय का अध्ययन करने का कार्य सौंपता है जो कि तत्पश्चात् अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। पॉलिट ब्यूरो तथा प्रधान मंत्री द्वारा जब एक बार निर्णय ले लिया जाता है तो तत्सम्बन्धी निर्देशों को राज्य परिषद के माध्यम से मंत्रालयों को भेजा जाता है। यदि शीर्ष का नेतृत्व इस पर अधिकारी-मत प्राप्त करना आवश्यक समझे तो दल की केन्द्रीय समिति या सर्वोच्च राज्य सम्मेलन की बैठक बुलायी जा सकती है। असाधारण परिस्थितियों में नेताओं को सुनने के लिए तथा स्वीकृति के हेतु मतदान के लिए दलीय कांग्रेस भी बुलायी जा सकती है। इसके बाद जो निर्णय ले लिए जाते हैं उनको क्रियान्वित करने का कार्य दल और सरकार को सौंप दिया जाता है। इस समस्त प्रक्रिया में निर्णयों का रूप संस्थाओं द्वारा नहीं वरन् व्यक्तियों के द्वारा निश्चित किया जाता है। इन व्यक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता के लिए कोई समूह नहीं होता।

साम्यवादी चीन में विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णय लेने की प्रक्रिया को प्रजातन्त्रात्मक मापदण्डों के आधार पर चाहे कितना ही बुरा-भला कहा जाये किन्तु इसकी एक मुख्य विशेषता है और वह यह है कि यहां के नेता अपने उद्देश्य की दृष्टि से जब भी कभी आवश्यक समझें तभी अपने तरीकों तथा नीतियों में तुरन्त परिवर्तन कर लेते हैं। समझौता वार्ताओं की स्थितियों को तुरन्त बदला जा सकता है। इसी प्रकार जब अर्ध-विकसित देशों द्वारा सहायता की मांग की जाती है तो उसे पूरा करने के लिए असाधारण गति से कार्य किया जाता है। नीति सम्बन्धी निर्णयों एवं उनके क्रियान्वयन में इस प्रकार का परिवर्तन पश्चिमी प्रजातन्त्रों में सम्भव नहीं है।

विदेश नीति का व्यावहारिक पक्ष
[The Practical Side of Foreign Policy]

निपोलियन ने एक बार कहा था कि "चीन एक सोया हुआ अजगर है, उसे सोने दो; यदि वह जाग गया तो संसार को पछताना पड़ेगा।" इस कथन की सत्यता वर्तमान विश्व में चीन द्वारा निर्मित अशान्ति की अवस्था को देखने पर स्पष्ट हो जाती है। चीन की जनसंख्या ७० करोड़ है जो बीस लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ती जा रही है। चीन के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ से ही यह विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी नीतियां अपनाता रहा है। साम्यवादी नवीन शासन की स्थापना के साथ ही चीन की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं का प्रस्फुटन होने लगा जिसका विदेश नीति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। पिछले एक शताब्दी के विदेशी हस्तक्षेप एवं अपमान के कारण चीन की आन्तरिक दशा में कुछ कमजोरी आ गई थी किन्तु साम्यवाद के कठोर नियन्त्रण, तानाशाही व्यवस्थापन एवं

नियन्त्रित आर्थिक विकास के कारण वह शीघ्र ही सुदूरपूर्व में एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया।

विदेश नीति के आधारभूत तत्व
[The Basic Elements of Foreign Policy]

साम्यवादी चीन की विदेश नीति अन्य देशों की भांति कुछ आधारभूत सिद्धान्तों के आश्रय पर संचालित होती है तथा उसके ऊपर अनेक तत्वों का प्रभाव रहता है। इनमें से प्रमुख का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) साम्यवादी विचारधारा

सोवियत रूस की भांति चीन की विदेश नीति पर भी मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों का पूरा प्रभाव है। चीनी साम्यवादी सरकार की स्थापना की दसवीं वर्ष गांठ के अवसर पर राज्य-अध्यक्ष ल्यूशाओची ने जो घोषणा की थी उससे चीन का साम्यवादी विचारधारा पर भारी जोर देना स्पष्ट हो जाता है। लाल चीन का यह विश्वास है कि उसने जिस तीव्र गति के साथ आर्थिक प्रगति की है उसकी प्राचीनकाल में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। चीन में आधुनिक कृषि, उद्योग, विज्ञान एवं संस्कृति का विकास इसलिए सम्भव हो सका कि उसने क्रान्ति द्वारा साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाही-पूंजीवाद एवं पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंका है। साम्यवादी दल का वहां के जन-जीवन में भारी महत्व बढ़ गया है। जनता की समस्त सफलताओं को दल की विजय घोषित किया जाता है। वहां सामाजिक क्रान्ति तथा निर्माण दल की सहायता से ही सम्भव हो सका है। ल्यूशाओची के शब्दों में—"हमारी सारी सफलतायें, मार्क्सवाद-लेनिनवाद की नवीन पुष्टियां एवं नवीन सफलतायें हैं।" साम्यवाद के कारण ही चीन इतना समर्थ हुआ है कि उसने अतीत के अपने अपमान को समाप्त कर दिया है तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों की साम्यवादी क्रान्ति में सहायता करने में सक्षम है। साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष, इतिहास की भौतिक व्याख्या, पूंजीवाद का साम्राज्यवादी रूप आदि से चीन की विदेश नीति पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुई है। इस दृष्टि से एशिया तथा अफ्रीका में साम्यवाद के प्रसार को चीन अपना उत्तरदायित्व मान कर चलता है।

(२) राष्ट्रीय हित

साम्यवादी चीन की विदेश नीति अपने राष्ट्रीय हित की साधना में विचारधारा को भी साधन बना लेती है। सोवियत रूस निःशस्त्रीकरण पर जोर दे रहा है तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर चल रहा है। किन्तु चीन द्वारा इन व्यवहारों की कटु आलोचना की जाती है क्योंकि वहां के नेताओं की दृष्टि में ये नीतियां चीन के राष्ट्रीय हित को साधने में असमर्थ हैं। जहां तक चीन की विदेश नीति का प्रश्न है उसमें सिद्धान्त तथा राष्ट्रीय हित दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। 'सिद्धान्त' राष्ट्रीय हित को प्रभावित करता है तथा 'राष्ट्रीय हित' के अनुसार ही सिद्धान्त का भी रूप ढाल दिया

जाता है। सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय उस देश के भूगोल, इतिहास, राष्ट्रीय परम्परा, अतीत के अनुभव तथा देश की वर्तमान आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाता है। चीन के नेताओं के प्रत्येक कार्य का मूल लक्ष्य देश के शक्ति स्तर (Power Status) को बढ़ाना होता है। वे चीन को सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा अमरीका के समकक्ष बनाना चाहते हैं। उनका विचार है कि उनके देश के पास इतनी शक्ति आ जाय जो एक महान् शक्ति (Great Power) के पास होती है। जो देश इसे महान् शक्ति मानने से इन्कार करे उसे ऐसा मानने के लिए बाध्य किया जाना चाहिये अथवा कोई बड़ी शक्ति उसे अपने समान न माने तो उसको इसका पाठ पढ़ाया जाना चाहिये। शक्ति को पाने एवं बढ़ाने में चीनी नेता किसी भी बलिदान को बड़ा नहीं मानते। भारत भ्रमण के समय चाऊ-एन-लाई ने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल से कहा था कि "यदि आधे विश्व को साम्यवादी बनाने के प्रयत्न में चीन की आधी जनसंख्या की बलि देनी पड़े, तो भी हमें कोई परवाह नहीं होगी।"[1]

(३) पूंजीवाद का विरोध

साम्यवादी देश होने के नाते चीन की विदेश नीति पूंजीवादी देशों के साथ प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण सम्बन्ध रखती है। इन सम्बन्धों के पीछे अतीत के अनुभवों की कटुता काम करती है जब कि उसे साम्राज्यवादी शक्तियों के अत्याचार एवं शोषण का शिकार बनना पड़ा था। इस समय जहां भी कहीं उपनिवेशवादी शक्तियों का विरोध किया जाता है वहीं पर चीन का हस्तक्षेप प्रारम्भ हो जाता है। ल्यूशाओची का कहना है कि सभी शोषित देशों में चीनी जनता अपना प्रतिबिम्ब देखती है। यही कारण है कि एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के देशों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता एवं प्रजातंत्र प्राप्त करने के लिए जो भी संघर्ष किया है, चीन की जनता ने उनको यथाशक्ति सहायता प्रदान की है। पिछड़े देशों में राष्ट्रवादी तत्वों को उभाड़ कर वहां साम्यवादी क्रान्ति के उपयुक्त वातावरण बनाना चीन की विदेश नीति का मूल सिद्धान्त एवं आधारभूत तत्व रहा है।

(४) राष्ट्रवादी चीन की समस्या

साम्यवादी चीन के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में सबसे बड़ी बाधा राष्ट्रवादी चीन की फारमोसा में स्थित सरकार को माना जा सकता है। राष्ट्रवादी चीन के नेता चांग काई शेक को ही विश्व के कई प्रमुख राष्ट्रों द्वारा चीन का उचित शासक माना जाता है। सुरक्षा परिषद् में भी इसी चीन को स्थायी पद प्राप्त है। फारमोसा चीन की भूमि से केवल सौ मील की दूरी पर स्थित है इसलिये यह साम्यवादी चीन की सुरक्षा के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। फारमोसा की रक्षा में अमरीका का सातवां बेड़ा तथा सम्भावित सशस्त्र सेना लगी हुई है। इस सब के कारण साम्यवादी चीन की विदेश नीति हर सम्भव प्रयत्न द्वारा अपनी सुरक्षा एवं एकीकरण की दिशा में प्रयास करती है। लाल चीन के नेता फारमोसा की समस्या पर अबौद्धिक घृणा एवं अबौद्धिक व्यवहार

---

1. "Evening News", Bombay. 8th March-Nov. 1962.

पर उतर आते हैं। वे किसी प्रकार का ऐसा समझौता नहीं करना चाहते जिसमें कि इस समस्या को अछूता ही छोड़ दिया गया हो।

(५) विदेश नीति के जनक 'माओ'

जिस प्रकार शान्तिप्रिय भारत की विदेश नीति के सृजनकर्त्ता स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू थे उसी प्रकार युद्धप्रिय, विस्तारवादी लाल चीन की विदेश नीति का निर्माण बहुत कुछ साम्यवादी नेता माउत्से तुंग के मस्तिष्क द्वारा हुआ है। माओ एक साम्यवादी है तथा चीन के लोगों एवं वस्तुओं का उसका ज्ञान बहुत व्यापक है किन्तु पश्चिमी विचार एवं संस्कृति के बारे में वह शून्य प्रायः है। माओ ने एक बार लिखा था कि "पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने वियतनाम, बर्मा, कोरिया, नेपाल और भूटान को चीनी साम्राज्यवाद से अलग कर दिया था, वैसे असल में ये चीन के ही भाग हैं।" इससे स्पष्ट होता है कि माओ चीनी परम्पराओं में पूरी तरह रंगा हुआ है। वैसे ये भाग कभी भी राजनैतिक दृष्टि से चीनी साम्राज्य का भाग न थे। ये संस्कृति एवं सभ्यता की उच्चता के कारण चीन को अवसरवश कुछ भुगतान करते थे। वास्तविकता चाहे कुछ भी हो किन्तु माओ के विचारों से चीन की विदेश नीति के स्वरूप की एक झलक प्राप्त होती है। माओ को अपने देश के महान् अतीत पर नाज है तथा उसे यह देख कर भारी असन्तोष होता है कि रूस एवं अमरीका द्वारा चीन को समानता का स्तर नहीं दिया जाता और महान शक्तियों के साथ बैठकर विश्व की समस्याओं पर विचार करने से उसे रोका जाता है। यह असन्तोष ही चीन के आक्रमणकारी राष्ट्रवाद के विभिन्न कारणों में प्रधान है।

माओ चीन में सबसे प्रमुख शक्तिशाली व्यक्ति है जिसने मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद की नीतियों के लिए व्याख्या की है, चीन के साहित्य एवं कला के आदर्श एवं स्तर निर्धारित किये हैं, सभी राजनैतिक नीतियां एवं कार्यवाहियां उसी के नाम से प्रसिद्ध होती हैं। सारा देश माओ की नीतियों एवं कार्यों का गुणगान करता है। माओ के नेतृत्व में चीन द्वारा जो नीतियां अपनायी जा रही हैं वे शायद ही किसी अन्य नेता के नेतृत्व में अपनायी जा सकती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि चीन द्वारा अपनी नीतियों में अपनायी गई मजबूती एवं दृढ़ता में माओ का बहुत कुछ हाथ रहा है। यहां तक कि कई बार चीन की विदेश नीति ने अनेक जोखिम (Risk) उठाने का भी साहस किया है। उदाहरण के लिए सोवियत संघ के साथ उसके मतभेद को लिया जा सकता है। साम्यवादी चीन ने एक स्वतंत्र बड़ी शक्ति के रूप में व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया है। महान् शक्ति की समस्त आवश्यकताओं को वह प्राप्त करने में प्रयत्नशील है जैसे सीमाओं पर सुरक्षा, पड़ोसी देशों में मनपसन्द शासन, उसके स्वार्थ के प्रभाव क्षेत्र, प्रभावशाली सन्धि-व्यवस्था, अपनी नीति को क्रियान्वित करने के लिए सब प्रकार के साधन अपनाना आदि-आदि।

विदेश नीति के लक्ष्य

साम्यवादी सरकार ने देश का शासन अपने हाथ में लेते ही जिस

विदेश नीति की घोषणा की थी उसके प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित बताये गये—

(१) देश की स्वतन्त्रता एवं अखण्डता की रक्षा

यह कहा गया कि साम्यवादी चीन अपनी अखण्डता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए पूरी शक्ति के साथ प्रयास करेगा। यह शासन की सीमा को वहां तक विस्तृत कर देगा जहां तक कि कभी राष्ट्रीय सरकार शासन करती थी। चीन के कुछ ऐसे प्रदेश भी हैं जिन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों ने उससे छीन लिया था तथा जिन्हें राष्ट्रीय सरकार भी वापस नहीं लौटा सकी थी। इस प्रकार के प्रदेश मुख्यतः तिब्बत, भारत एवं बर्मा द्वारा नियन्त्रित कुछ सीमावर्ती प्रदेश, मंगोलिया एवं कोरिया थे जिन्हें साम्यवादी सरकार अपने अधिकार में लेने का प्रयास करेगी। दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्यवादी आन्दोलनों को प्रोत्साहन दे कर इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाने का लक्ष्य बनाया गया।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं मैत्रीपूर्ण सहयोग

यह कहा गया कि चीन स्थायी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय शांति को प्राप्त करने का प्रयास करेगा और विश्व के सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखेगा। बहुत से विद्वानों का विचार है कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का चीनी शासकों के लिए एक विशेष अर्थ है। उनका मत है कि यह तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि संसार से 'साम्राज्यवाद' पूरी तरह समाप्त हो जायेगा और सारे विश्व में साम्यवाद की स्थापना हो जायेगी। चीन का यह मत है कि स्थायी शान्ति की स्थापना केवल तभी की जा सकती है जबकि साम्राज्यवादियों को युद्ध एवं हिंसात्मक साधनों द्वारा मिटा दिया जाय। माओ ने अपने भाषणों एवं पुस्तकों में इस विचार का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।

(३) मित्रों के साथ मित्रता

साम्यवादी चीन यह प्रयास करेगा कि जिन देशों का भाव मैत्रीपूर्ण है उनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये जायें। असाम्राज्यवादी देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करने का उद्देश्य यह था कि असाम्यवादी देशों को भी कुछ समय तक मित्रता के बन्धन में बांध कर साम्राज्यवादियों से अलग कर दिया जाय तथा अपने प्रधान शत्रु की शक्ति को कमजोर कर दिया जाय। इस दृष्टि से चीन ने अनेक देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने में पहल की किन्तु साम्राज्यवादियों में से कुछ देशों की पहल होने पर भी उसने मित्रता स्थापित करने में उदासीनता दिखाई। उसकी मुख्य सहानुभूति तो उन विभिन्न साम्यवादी आन्दोलनों के साथ रही जो या तो आरम्भ हो चुके थे अथवा सशस्त्र विद्रोह की तैयारी में लगे हुए थे। एशिया तथा अफ्रीका के देशों को साम्यवाद की स्थापना के लिए चीन के दिखाये मार्ग को अनुसरण करने को कहा गया जिसमें साम्यवादी नेतृत्व में 'मुक्ति सेनाओं' तथा 'सशस्त्र संघर्ष' का महत्वपूर्ण स्थान है।

(४) शत्रु के विरुद्ध मित्रों को सहायता

संयुक्त राज्य अमरीका साम्राज्यवादी देशों का अगुआ है। सोवियत संघ एवं अन्य समाजवादी देशों ने इसके विरुद्ध संघर्ष छेड़ रखा है। साम्यवादी चीन अपनी पूरी शक्ति के साथ अपने भाइयों की सहायता करेगा। चीन का यह विश्वास था कि पूंजीवाद का विरोध करने के लिए अनेक देशों में जो साम्यवादी आन्दोलन चल रहे हैं उनकी सफलता के लिए अन्य साम्यवादी देशों के सहयोग की आवश्यकता है। माओ ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में सोवियत मित्रता पर बहुत जोर दिया तथा साम्राज्यवादी संघर्ष में रूस का साथ देने का पूरा आश्वासन दिया। उसका विचार था कि सभी समाजवादी देशों और आन्दोलनों का सोवियत संघ के नेतृत्व में एकीकरण होना चाहिये।

१४ फरवरी, १६५० को सोवियत संघ तथा चीन के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार रूस ने चीन को आर्थिक तथा सैनिक सहायता देने का वचन दिया। यह स्वीकार किया गया कि विदेशी मामलों में दोनों देश एक दूसरे का सहयोग करेंगे और जापान तथा जापान के समर्थक किसी भी देश द्वारा आक्रमण किये जाने पर मिल कर सहयोग करेंगे। यह भी कहा गया कि पांच वर्ष के समय में रूस तीस करोड़ डालर की आर्थिक सहायता चीन को दे दे। इस संधि के बाद दोनों देशों के आपसी सम्बन्ध बड़े मैत्रीपूर्ण रहे। चीन में स्टालिन को महान नेता माना गया तथा रूस ने गैर-साम्यवादी देशों में चीन के दृष्टिकोण का समर्थन किया। ८ जनवरी, १६५० को जब चीन ने संयुक्त राष्ट्र संघ में राष्ट्रीय चीन की जगह अपने प्रतिनिधित्व का दावा किया तो रूस ने उसका समर्थन किया। इस दावे को अस्वीकार कर देने के कारण सोवियत रूस ने बहुत समय तक सुरक्षा परिषद का बहिष्कार कर दिया।

(५) प्रवासियों के हितों की रक्षा

साम्यवादी चीन की सरकार इस बात का पूरा ध्यान रखेगी कि विदेशों में रहने वाले चीनियों के अधिकारों की रक्षा की जाय। कुछ विश्लेषकों का कहना है कि चीनी प्रवासियों के बारे में साम्यवादी सरकार को भारी चिन्ता थी। इस बात से यह प्रकट हो जाता है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में बसे चीनी अल्पसंख्यकों पर राजनैतिक नियन्त्रण की स्थापना करना चाहता था। कम्बोडिया, इन्डोनेशिया तथा बर्मा का रुख चीन के प्रति नरम था किन्तु थाइलैंड तथा बर्मा में चीन की चालें न चल पायीं। चीन की विदेश नीति पर साम्यवाद की विचारधारा एवं यहां के राष्ट्रीय हित के बीच पर्याप्त भेद है। एक ओर तो साम्यवाद को संसार में फैलाने के लिये वह सोवियत संघ के साथ बंधा हुआ है तथा दूसरी ओर उसके राष्ट्रीय हित यह मांग करते हैं कि एक महान शक्ति बनने के लिए उसे रूस का पिछलग्गू नहीं बनना चाहिये वरन् अपना एक पृथक ही मार्ग बनाना चाहिये।

इस प्रकार साम्यवादी चीन ने अपने विदेश नीति के लक्ष्यों की स्थ-

रेखा शासन के प्रारम्भ में ही बना ली थी। अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थन एवं सैद्धान्तिक प्रभाव के कारण सोवियत चीन का राष्ट्रीय हित इस बात में निहित हो जाता है कि वह अपनी सीमाओं की रक्षा करे, एक शक्तिशाली आधुनिक राज्य के रूप में विकसित होने के लिए विदेशी साधनों का उपयोग करे, अपने प्रभाव एवं शक्ति का अपने निकटवर्ती प्रदेशों में इस प्रकार विस्तार करे ताकि उसकी सुरक्षा भी बनी रहे।

विदेश नीति के साधन
(The Means of Foreign Policy)

चीन धीरे-धीरे अपने आपको साम्यवादी बनाता जा रहा है। यहां जीवन की प्राचीन परम्परा, धर्म एवं जीवन पद्धति को बुर्जुआ कह कर बदला जा रहा है। साम्यवादी चीन ने अपनी जिस एकमात्र परम्परा को नहीं बदला है वह है विस्तारवाद एवं साम्राज्यवाद की भूख। जिस किसी भी देश पर चीनी राजा ने अस्थायी या नाममात्र को भी अधिकार किया था उसे चीन की वर्तमान सरकार 'खोया हुआ भाग' कह कर पुकारती है। अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए चीन की विदेश नीति जिन साधनों का प्रयोग करती है वे मुख्यतः निम्न प्रकार हैं—

(१) युद्ध एवं हिंसा

चीन को युद्धप्रिय एवं विश्व-शान्ति का दुश्मन बनाने वाले अनेक तत्व हैं उदाहरण के लिए नेताओं की महत्वाकांक्षा, साम्यवादी क्रान्ति का समर्थन, भूतकाल में पूंजीपतियों के शोषण का कटु अनुभव आदि। सन् १९३९ में माओ ने लिखा था कि साम्राज्यवादियों ने चीन के बहुत से भाग उससे ले लिए हैं। जापान ने कोरिया, ट्यूक्यू द्वीप, पेस्केडोरेज और पोर्ट आर्थर; इंग्लैण्ड ने बर्मा, भूटान, नेपाल तथा हांग-कांग, फ्रांस ने एन्नम और पुर्तगाल जैसे मामूली देश ने मेकाओ का क्षेत्र चीन से छीन लिया।[1] इस प्रकार की भावना व्यक्त करने वाला व्यक्ति जब पूरी शक्ति अपने हाथ में ले ले तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह क्या करेगा। माओ तथा चीन के अन्य नेता युद्ध को अनिवार्य तथा उचित मानते हैं; उनका विचार है कि अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उनके पास एकमात्र मार्ग युद्ध ही है। माओ ने लिखा है कि—"हम साम्यवादी युद्ध को सर्व-व्यापक मानते हैं। यह युद्ध अनुचित न हो कर उचित एवं मार्क्सवादी होता है। हम ने बन्दूक के जोर से समाजवाद स्थापित किया है। सारा संसार केवल बन्दूक की सहायता से ही बदला जा सकता है। युद्ध को केवल युद्ध से ही समाप्त किया जा सकता है। बन्दूक से छुटकारा पाने के लिए बन्दूक हाथ में लेनी होगी।"[2] चीन युद्ध को साम्यवाद के प्रसार के लिए आवश्यक मानता

---

1. Mao-tse-tung, Chinese revolution and the Chinese Communist party.
2. Selected works of Mao-tse-tung, Vol. II, Bombay P P. 272-3

है। उसका मत है कि शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति जिसका सोवियत संघ पालन कर रहा है वह साम्यवाद के विरुद्ध है तथा संशोधनवाद की प्रतीक है।

(२) लम्बे संघर्ष की योजना

चीन के साम्यवादी अधिकारियों का विश्वास है कि एशिया में साम्यवाद के प्रसार के लिए लम्बे संघर्ष की योजना का उपयोग करना पड़ेगा। यह योजना साम्यवादी सिद्धान्तों से ही ली गई है किन्तु इसकी व्याख्या माओ ने की है। माओ का विचार है कि पूंजीवादी देशों में दृढ़ निश्चय तथा साहस नहीं होता इसलिए जब उनके विरुद्ध सावधानी के साथ अवसर देख कर लम्बा संघर्ष छेड़ा जायगा तो वे टिक नहीं सकेंगे। साम्यवादी देशों के पीछे सिद्धान्त का बल होता है तथा राजनीति का सहारा और इसी कारण वे पूंजीवादी देशों में तोड़-फोड़ कर सकते हैं। लम्बे संघर्ष की योजना के अधीन पश्चिमी देशों का तीव्र विरोध किया जाता है और अन्य देशों में साम्यवादी दलों की सहायता की जाती है। चीन द्वारा पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध आक्रमण की धमकी देने की नीति अपनाई जाती है। इस धमकी का लक्ष्य पहले तैवान को लेना, वहां स्थिति अमरीकी शक्ति को उकसाना, तथा एशिया देशों में जहां साम्यवादी आन्दोलन हो रहे हों वहां पश्चिम के हस्तक्षेप को रोकना था। कोरिया, वियतनाम आदि स्थानों पर इस धमकी ने वास्तविकता भी ग्रहण कर ली है।

(३) साम्यवादी प्रचार

एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप में कहीं-कहीं साम्यवादी आन्दोलन हो रहे हैं। चीन द्वारा इनको सहयोग एवं मार्ग-दर्शन दिया जाता है। उसका यह प्रयास रहता है कि ये आन्दोलन चीन को आदर्श मान कर सशस्त्र रूप धारण कर लें। ऐसा करने के लिए चीन द्वारा केवल शब्दों का समर्थन ही प्रदान किया जाता है न कि शस्त्रास्त्रों की सहायता। चीन का विश्वास है कि इस प्रकार के हिंसात्मक आन्दोलनों द्वारा साम्यवाद का पक्ष मजबूत होता है, पूंजीवाद की जड़ें ढीली पड़ती हैं तथा सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि चीन को लोकप्रियता प्राप्त होती है।

(४) सैनिक सहायता कार्यक्रम

साम्यवाद की स्थापना एवं अपने प्रभाव का रंग जमाने के लिए चीन द्वारा एक देश को सैनिक सहायता दी जा सकती है अथवा देने की धमकी दी जाती है। जिस देश को इस प्रकार की सहायता दी जा रही है उसमें कुछ बातों का होना जरूरी है जैसे—उस देश के लक्ष्य प्रायः वही हों जो स्वयं चीन के हैं, इस सहायता से चीन की सुरक्षा को किसी प्रकार का खतरा पैदा न हो, इस सहायता की प्रतिक्रिया-स्वरूप किसी बड़े देश का मुकाबला न करना पड़े, पश्चिम द्वारा उस देश में हस्तक्षेप की सम्भावना न हो आदि। साम्यवाद की स्थापना के लिए किसी भी देश को सैनिक सहायता प्रदान करते समय चीन सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि वह किसी बड़े युद्ध में न

पड़ जाय। यह सहायता गैर-सरकारी एवं लचीली होती है तथा खतरनाक मुकाबला होने की अवस्था में इसे कभी भी बन्द किया जा सकता है।

(५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व

इस साधन का उपयोग प्रायः लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए किया जाता है। चीनी नेताओं ने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति की व्याख्या इस प्रकार से की है कि वे अवसर के अनुसार युद्ध एवं शान्ति दोनों ही रास्तों को अपनाने के लिए स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनकी प्रतिष्ठा को किसी प्रकार की आंच नहीं आती। चीन यह कहता है कि पश्चिमी देश आक्रमणकारी हैं। यदि वह सैनिक कार्यवाही करता है तो इसका लक्ष्य वह आत्मरक्षा बताता है; इसी प्रकार जब उसे लगता है कि विपक्षी का पलड़ा भारी है तो सेना की ओर आंख भी नहीं उठाता तथा सैनिक साधन न अपनाने पर शान्तिप्रिय होने का सुफल का गौरव लूट लेता है। अपनी इस नीति के अधीन चीन एशिया के देशों से यह मांग करता है कि वे तटस्थ बने रहें तथा अपना रुख पश्चिम की ओर झुका हुआ न रखें वरन् इस प्रकार की नीति अपनायें जो चीन की नीति के अनुकूल हो। यदि कोई देश जो शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करता है, पश्चिम के साथ सहयोग करने लगे तो यह आवश्यक नहीं रहता कि चीन उसकी स्वतन्त्रता तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में वर्णित अन्य सिद्धान्तों के प्रति सम्मान दिखायेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो देश चीन की लोकप्रिय राजनयिकता का स्वागत नहीं करता, स्थानीय साम्यवादी दल द्वारा किये गये चीनी प्रचार का दमन करता है; स्थानीय साम्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाता है तथा पश्चिम के साथ उदार रुख अपनाता है वह चीन का मित्र नहीं रह सकता, शत्रु बन जायेगा तथा उसके साथ चीन शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व जैसे किसी सिद्धान्त का पालन नहीं करेगा।

(६) दोहरी नीति

चीन की विदेश नीति पर विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित इन दो तत्वों का मुख्य रूप से प्रभाव है। इन दोनों के बीच असंतुलन पैदा हो जाने या सामन्जस्य न रहने पर जो नीति बन जाती है उसका अनुमान चीन और रूस के सम्बन्धों को देख कर लगाया जा सकता है। इन दोनों देशों की नीति एक ही साथ सहयोग एवं प्रतिस्पर्धा की है। दोनों देशों के बीच सहयोग का आधार एक सी विचारधारा है। दोनों ही विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना चाहते हैं, दोनों ही पूंजीवाद के शत्रु हैं। इन कारणों से दोनों देशों के बीच परस्पर मैत्री एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की रचना हुई। किन्तु सन् १९५३ के आस-पास यह स्पष्ट होने लगा कि चीन के हित सोवियत संघ के हितों से भिन्न ही नहीं वरन् विरोधी भी हैं। चीन यह प्रयत्न करता है कि साम्यवाद के प्रसार का कार्य वह सोवियत संघ के अनुचर के रूप में नहीं वरन् साथी के रूप में करे तथा गैर-साम्यवादी देशों में उसे एक बड़ी शक्ति माना जाय। इस प्रकार सोवियत संघ के साथ चीन के सम्बन्ध प्रतिस्पर्धापूर्ण हो गये।

जब इन दो साम्यवादी देशों के आपसी सम्बन्धों का यह रुख हो गया तो सोवियत संघ द्वारा चीन को दी जाने वाली सहायता में भी सावधानी तथा सौदेबाजी आ गई। चीन को रूस से आर्थिक सहायता चाहिये और विध्वंसक कार्यवाहियों एवं अप्रत्यक्ष आक्रमणों द्वारा एशिया में साम्यवाद के प्रसार के लिए सहयोग चाहिए। यह उसे तभी प्राप्त हो सकेगा जबकि वह रूस के हितों की साधना में सहयोग दे। रूस का सबसे बड़ा हित अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी तन्त्र को अपने हाथों में रखना है। इसके लिए उसे चीन पर काफी प्रभाव डालना होगा और उसके विस्तार पर भी नियन्त्रण रखना होगा। इस प्रकार दोनों देशों के हितों के बीच विरोध पैदा हो जाता है। इस उलझन में से निकलने के लिए चीन आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने का अथक प्रयास कर रहा है; वहां सभी प्रकार के अमानवीय साधनों का प्रयोग कर मानव शक्ति के सहारे देश का औद्योगिक विकास किया जा रहा है। दोनों देशों के बीच की प्रतिस्पर्धा अब इतनी बढ़ चुकी है कि यह किसी के अनुमान का विषय न रह कर एक स्पष्ट तथ्य बन गई है। माओ ने अपने भाषणों में रूस की वर्तमान नीतियों को संशोधनवादी, बुर्जुआवादी तथा प्रतिक्रियावादी कह कर कटु आलोचना की है तथा यह बताया है कि चीन द्वारा साम्यवाद की स्थापना के लिए जो कम्यून प्रणाली अपनायी जा रही है वही एशिया और अफ्रीका के देशों में साम्यवाद लाने के लिए उपयुक्त रहेगी। चीनी नेताओं का यह दावा है कि वे जिस मार्ग पर चल रहे हैं वह अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय तथा मार्क्सवाद और लेनिनवाद के अधिक नजदीक है। दोनों देशों के मतभेद इतने बढ़ चुके हैं कि इनमें समझौता होने की निकट भविष्य में कोई सम्भावना नजर नहीं आती।

चीन और संयुक्त राज्य अमरीका
[China and U.S.A.]

सुदूर पूर्व में संघर्ष का कारण बहुत कुछ चीन एवं संयुक्त राज्य अमरीका के आपसी सम्बन्ध हैं। प्रारम्भ में ये सम्बन्ध बड़े ही घनिष्ट थे। अमरीका चाहता था कि चीन का विकास हो क्योंकि उसकी नीति का आधार यह था कि एशिया में सुरक्षा एवं स्थायित्व तभी रह सकता है जबकि एक मजबूत, स्थायी तथा मित्र चीन का उदय हो। इसी कारण उसने चीन को पांच बड़ी शक्तियों में समाहित करने का समर्थन किया। साम्यवादी एवं राष्ट्रवादी तत्वों के बीच गृहयुद्ध छिड़ जाने पर अमरीका ने दोनों पक्षों को बातचीत के लिए तैयार किया। राज्य सचिव जार्ज मार्शल चीन आये तथा बीच-बचाव करके मिली-जुली सरकार बनाई। किन्तु मार्शल के प्रयासों को अतिवादी (Extremist) बता कर दोनों पक्षों ने आलोचना की। आखिर गृहयुद्ध बढ़ गया। मि० चाङ्ग काईशेक ने समय की मांग के अनुसार किसी प्रकार के राजनैतिक एवं आर्थिक सुधार नहीं किये, अतः १९४९ के मध्य में साम्यवादी शक्तियों द्वारा उसे मुख्य भूमि से फारमोसा की ओर खदेड़ दिया गया। इस संघर्ष के दौरान तथा बाद में साम्यवादी चीन एवं सयुक्त

राज्य अमरीका के सम्बन्ध बहुत कटु हो गये। इस कटुता के मुख्य कारण निम्न प्रकार थे—

(१) गृहयुद्ध के समय अमरीका द्वारा राष्ट्रवादियों को सैनिक सहायता दी गई थी इसके कारण उसके प्रति साम्यवादियों के मन में अविश्वास, सन्देह एवं घृणा के भावों का बीजारोपण हो चुका था। अतः शक्ति पाते ही उन्होंने इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अमरीका का विरोध करना अपनी विदेश नीति का लक्ष्य बना लिया।

(२) अमरीका ने सन् १९४९ में चीनी साम्यवादी सरकार को मान्यता नहीं दी अतः चीन ने भी अमरीकी कूटनीतिज्ञों को देश से बाहर निकाल किया। सन् १९५० में जब कोरिया का युद्ध छिड़ा तो अमरीका ने अपना निश्चय बताया कि वह तेवान की रक्षा करेगा फिर भी राष्ट्रवादियों को चीन की मुख्य भूमि पर हमला करने से रोकेगा। चीन ने यह घोषणा कर दी थी कि वह केवल उन देशों के साथ ही सरकारी सम्बन्ध रखेगा जो चीनी राष्ट्रवादियों से अपना सम्बन्ध तोड़ लेंगे तथा तेवान के ऊपर साम्यवादी सत्ता को स्वीकार कर लेंगे। इस शर्त के साथ अमरीका से सम्बन्ध होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था।

(३) सन् १९५६ में चीन ने अमरीका की कटु आलोचना की क्योंकि वह जेनेवा समझौते के अनुसार वियतनाम में देश के एकीकरण के लिए चुनाव न करने के दक्षिणी वियतनाम के मत का समर्थन कर रहा था। दक्षिणी वियतनाम की सरकार का मत था कि उसने जेनेवा समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं अतः वह वह उसे मानने को बाध्य नहीं है। अमरीका ने दक्षिणी वियतनाम को भारी मात्रा में सैनिक सहायता दी है और इस समय वियतनाम का युद्ध, जो विश्व शान्ति की प्रधान समस्या बना हुआ है, के मूल में अमरीका के रुख को ही उत्तरदायी माना जाता है।

(४) सन् १९५८ तक 'चीन' अमरीका द्वारा स्थापित घेरेबन्दी को तोड़ चुका था और उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया, नेपाल तथा बर्मा आदि पर उसका प्रभाव बढ़ने लगा। चीन चाहता है कि अमरीका एशिया से अपना हाथ खींच ले और चीन को अपने समान महा शक्ति मान कर व्यवहार करे। चीन का दृष्टिकोण यह था कि अमरीका के साथ अधिक से अधिक संघर्ष बढ़ाया जाये और उसे कुछ छूट देने के लिए बाध्य किया जाय।

(५) सैद्धान्तिक दृष्टि से पीकिङ्ग ने यह मान कर व्यवहार किया कि यह क्रांति का युग है तथा अब न केवल साम्राज्यवादी व्यवस्था वरन् स्वयं पूंजीवाद ही असंगठित हो जायगा। अफ्रीका तथा एशिया के देशों में साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ जो संघर्ष छिड़ा हुआ था चीन वहां समाजवादी पक्ष मजबूत होने की आशा कर रहा था। चारों ओर से समस्याओं से घिरे हुए अमरीका को फारमोसा की समस्या सुलझाने के लिए तैयार किया जा सकता था। चीन का विश्वास है कि इतिहास से हमको यह शिक्षा मिलती है कि आक्रमणकारी का सामना मजबूती के साथ किया जाय और शांति एवं

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता केवल तभी प्राप्त हो सकती है जबकि साम्राज्यवादी आक्रमणकारी का दृढ़ता से मुकाबला किया जाय ।

(६) चीनी साम्यवादी अमरीका से इसेलिए भी क्रुद्ध हैं कि वह दो चीन के सिद्धान्त का समर्थन करता है तथा उसे बढ़ावा देता है। इसके अतिरिक्त चीन को अपनी महत्वाकांक्षायें पूरी करने के लिए तीव्र गति से आर्थिक विकास करने की आवश्यकता है अतः लोगों में उत्साह, प्रेरणा एवं प्रयास के विकास के लिए किसी बड़े देश की शत्रुता बहुत महत्वपूर्ण होती है। उससे देश में उत्तेजना पैदा होती है। 'चीन' सोवियत रूस से अधिकाधिक सैनिक सहायता प्राप्त करना चाहता है इसलिए भी वह अमेरिका के साथ संघर्ष बनाये रखने में रुचि लेता है ।

उक्त सभी कारणों से प्रभावित होकर साम्यवादी चीन का अमरीका के साथ तीव्र संघर्ष है। दोनों देशों के राष्ट्रीय हित परस्पर इतने भिन्न तथा विरोधी हैं कि उनके बीच समायोजन की सम्भावना निकट भविष्य में दिखाई नहीं देती। माओ का कहना है कि सभी साम्राज्यवादी तथा प्रतिक्रियावादी लोग कागज के शेर (Paper Tiger) हैं। वर्तमान युग में क्रान्ति की शक्तियां प्रतिक्रियावादी शक्तियों से अधिक उत्कृष्ट हो चुकी हैं। चीन का मत है कि सभी मित्रों एवं सहयोगियों को अमरीका का मित्र बनने से रोकना चाहिए और यदि कोई बन भी जाता है तो वह सम्भावित शत्रु (Potential Enemy) है। इस मत के कारण चीन ने मार्शल टीटो, जवाहरलाल नेहरू और निकिता ख्रुश्चेव की आलोचना की थी। अक्टूबर और नवम्बर, १९५७ में सोवियत संघ ने जब प्रथम बार उपग्रहों को छोड़ा तो चीनियों ने समझा कि शक्ति का पलड़ा निश्चित रूप से साम्यवादी देशों के पक्ष में हो गया है अतः पश्चिम के प्रति उसका रुख और भी अधिक आक्रमणात्मक हो गया। सन् १९५८ में चाऊ-एन-लाई ने यह दावा किया कि राकेट विज्ञान में सोवियत प्रगति के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति निश्चित रूप से साम्यवादी देशों के अनुकूल हो गई है और इस प्रकार वह निश्चय ही पूंजीवादियों के विरुद्ध संघर्ष में सफल हो जायगा। आज पूंजीवादी देशों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे साम्यवादी देशों के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सम्बन्ध कायम करें। इसी वर्ष के अगस्त में चीनियों ने इस बात पर जोर दिया कि साम्यवादी देश पश्चिम के विरुद्ध अपने प्रभाव को जारी रखें ताकि पश्चिम की स्थिति को कमजोर बनाया जा सके। माओ का कहना है कि आधुनिक परिशोधनवादी साम्राज्यवादियों की न्यूक्लियर युद्ध की बन्दर-घुड़की वाली नीतियों से घबराये हुए हैं। युद्ध का भय उनमें क्रान्ति का भय उत्पन्न करता है और वे स्वयं क्रान्ति न चाहने के कारण दूसरों द्वारा की जाने वाली क्रान्ति का भी विरोध करते हैं। इस प्रकार के सैनिक सिद्धान्त द्वारा इस बात पर प्रभाव डाला गया कि साम्राज्यवादियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ना आवश्यक तथा उचित है। स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए साम्राज्यवादियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ना आवश्यक है ।

सन् १९५९ में चीन तथा अमरीका के बीच संघर्ष के और भी कई

कारण उपस्थित हो गये। लाओस में संघर्ष के लिए चीन ने अमरीका को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि वह वियतनाम के प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य एवं चीन की सुरक्षा को सीधी चुनौती देने के लिए ही सुदूर पूर्व में संघर्ष चाहता है। तिब्बत की क्रान्ति के बारे में संयुक्त राज्य अमरीका का रुख देख कर भी चीन को भारी असंतोष हुआ। इसके अतिरिक्त जनवरी, १९६० में जापान तथा अमरीका के बीच पारस्परिक सहयोग एवं सुरक्षा की सन्धि हुई। इससे भी चीन के सम्बन्ध कटु बने। चीन ने हर सम्भव प्रयत्न द्वारा जापान व अमरीका के गठबन्धन को तोड़ने का प्रयास किया। सोवियत रूस के अमरीका के प्रति बदलते हुए उदार दृष्टिकोण का भी साम्यवादी चीन बहुत तीव्र विरोध करता है। उसका मत है कि अमरीका की वर्तमान नीतियां उसकी अतीत की नीतियों से भी अधिक खतरनाक हैं।

चीन तथा साम्यवादी रूस
(China and Communist Russia)

सोवियत संघ के साथ मैत्री चीन की विदेश नीति की प्रमुख विशेषता रही है। इसके कारण उसे सुरक्षा, आर्थिक एवं सैनिक सहायता तथा अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुधारने का अवसर प्राप्त हुआ है। दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक समानता होने के कारण प्रारम्भ में सम्बन्ध बड़े घनिष्ट थे किन्तु सन् १९५६ के बाद दोनों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाने के कारण दोनों के राष्ट्रीय हितों में क्लेष पैदा हो गया। सन् १९५४ में जब ख्रुश्चेव तथा अन्य सोवियत नेता चीन गये तो संयुक्त विज्ञप्ति में सोवियत संघ ने चीन को एक स्वतंत्र तथा समान दर्जे का राज्य स्वीकार किया और यह माना गया कि दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध समानता, पारस्परिक लाभ, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता एवं प्रादेशिक अखण्डता के पारस्परिक आदर के सिद्धान्त पर आधारित हैं। दोनों देशों की मित्रता अधिक समय तक न रह सकी और चीन ने सोवियत रूस के राजनैतिक व्यवहार, विचारधारा तथा अन्य नीतियों का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। शीघ्र ही दोनों देशों के बीच कटुता की एक गहरी खाई बन गई। मिल्टन कोवनर (Milton Kovner) के शब्दों में "एक विशाल ज्वालामुखी की तरह विरोध और संघर्ष की चिनगारियां, जो अब तक मैत्री एवं सद्भावना के झूठे आवरण से आच्छादित थीं, पूर्ण सक्रिय होकर चमक उठीं जिनके शान्त होने की सम्भावना निकट भविष्य में दिखाई नहीं देती।"[1] इन दोनों देशों के संघर्ष के सम्बन्ध में विचारकों के अलग-अलग मत हैं। कुछ लोग इसे कृत्रिम तथा पश्चिमी राष्ट्रों को भुलावे में डालने वाला मानते हैं। कुछ लोग इसे सैद्धान्तिक मतभेद न मानकर शक्ति राजनीति का प्रतीक बताते हैं। दूसरे विचारकों का मत

---

1. "Like a long Smouldering Valcano now active, now quiescent, the Sino-Soviet dispute has erupted anew with unprecedented intensity and the dust has not yet settled."
—*Milton Kovner*, "Sino Soviet Dialogue in Current History" Sep. 1963, P. 120

है कि इस संघर्ष का कारण मुख्यत: दोनों देशों का आर्थिक और सामाजिक विकास तथा विश्व राजनीति में दोनों देशों का स्थान है। रॉबर्ट ए० स्केल्पिनो (Robert A. Scalpino) के मतानुसार यह संघर्ष तीन कारणों का परिणाम है–(i) संगठन, निर्णय प्रणाली एवं साम्यवादी गुट का नेतृत्व (ii) क्रांतिकारी तरीके एवं २०वीं शताब्दी के मध्य की विश्व राजनीति (iii) अन्तर्गुट सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहायता का रूप।[1]

सोवियत रूस का विचार है कि बीसवीं शताब्दी के मध्य से विश्व राजनीति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हो गये हैं जैसे साम्यवाद को प्रजातंत्रात्मक तरीकों से लाने का प्रयास किया जा रहा है। उसका मत है कि पिछड़े देशों में साम्यवाद का प्रसार करने के लिए अथवा उपनिवेशों से पूंजीवादी तत्वों का सफाया करने के लिए अप्रत्यक्ष साधनों को अपनाया जाना चाहिए, उसकी नीति नम्र एवं उदार है। वह किसी भी देश के साथ तनावपूर्ण सम्बन्धों में विश्वास नहीं करता बल्कि सभी देशों की स्वतन्त्रता, समानता और सार्वभौमिकता का सम्मान करता है।[2] रूस का यह विश्वास है कि भिन्न विचारधारा, राजनैतिक प्रणाली तथा भिन्न सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा होते हुए भी वह दूसरे देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रख सकता है। साम्यवादी चीन रूस की इन बदली हुई नीतियों की निन्दा करता है तथा उसकी उदारता और सहिष्णुता को कायरता का नाम देता है एवं मार्क्सवाद व लेनिनवाद के प्रति गद्दारी मानता है। चीन का कहना है कि रूस ने सन् १९५६ में स्टालिन की नीति की जो खुली आलोचना की वह गलत थी। अल्बानियां की आलोचना करके उसके साथ अपमानजनक व्यवहार करना ठीक नहीं था। रूस को यूगोस्लाविया से पुन: सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए था। उसने क्यूबा पर अमेरीका से समझौता कर लिया यह भी उसकी कायरता का प्रतीक है। भारत-चीन सीमा विवाद के समय रूस ने मौन रहने की जो नीति अपनायी वह भी चीन के दिल को न भायी। ये सभी बातें चीन के मत में सन् १९५७ की मास्को घोषणा तथा १९६० की पार्टी की घोषणा के विरुद्ध थीं। इसके अतिरिक्त रूस-चीन के सम्बन्धों में इस कारण भी मनमुटाव पैदा हुआ क्योंकि रूस ने चीन को दी जाने वाली सहायता कम कर दी थी तथा अणु शक्ति सम्बन्धी प्रयोग करने में उसकी मदद नहीं की थी और सांस्कृतिक एवं आर्थिक आदान-प्रदान को कम कर दिया था। साम्यवादी चीन रूस एवं अन्य बड़े राष्ट्रों के साथ समानता चाहता है, यह परम्परागत एवं पुराने साम्यवादी तरीकों में विश्वास करता है, यह आन्दोलन

---

1. "The Sino-Soviet Conflict in Perspective". *The Annals*, Jan. 1964, P. 1

2. The Soviet Union has no territorial claims on any state, including any of her neighbours. It is inviolable principle of our Foreign Policy to respect the national freedom and sovereignty of every country big or small.
—*Malenkov*, Moscow Radio, Aug. 8, 1953.

को सफल बनाने के लिए संघर्ष की निरंतरता पर जोर देता है, यह अमेरीका को अपनी शक्ति विस्तार के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा मानता है तथा रूस की उसके साथ उदार नीति उसे पसन्द नहीं है अतः वह रूस से मतभेद रखता है। उसका कहना है कि अमेरीका के साथ रूस जिस शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को अपना रहा है वह साम्यवादी आन्दोलनों का पक्ष कमजोर कर देगी। राष्ट्रवाद की भावना से प्रभावित चीन अपने ऊपर रूस के किसी प्रकार के प्रभुत्व को मानने को तैयार नहीं है।

स्केलेपिनों (Scalapino) का कहना है कि "इन दोनों देशों के बीच जो संघर्ष है उसका मूल कारण यह है कि साम्यवादी विश्व तो बहुलवादी है किन्तु साम्यवादी विचारधारा एकाग्र प्रकृति की है तथा इन दोनों के बीच विरोधाभास है।"[1]

चीनी रूसी सम्बन्धों का भविष्य
[Future of Sino-Soviet Relations]

साम्यवादी चीन और रूस की विदेश नीति के सम्बन्ध में एक मुख्य प्रश्न यह किया जाता है कि इनका भावी सम्बन्ध क्या मोड़ लेगा? इस सम्बन्ध के बारे में भविष्यवाणियां करना तो खतरे से खाली नहीं है किन्तु फिर भी इससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार करना उपयोगी रहेगा। सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन के बीच संघर्ष रहेगा अथवा सहयोग रहेगा इससे संयुक्त राज्य अमरीका, पश्चिमी शक्तियों एवं अफ्रीका तथा एशिया के देशों के हितों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा।

मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद के मूल सिद्धान्तों में यह कल्पना नहीं की गई थी कि दो बड़ी साम्यवादी शक्तियों के बीच विश्व नेतृत्व के लिए संघर्ष होगा। लेनिन तथा स्टालिन ने सदैव ही ऐसी स्थिति की कल्पना की थी जिसमें कि सोवियत रूस सदैव ही एक नमूना रहेगा, नेतृत्व करेगा तथा एक बड़ी साम्यवादी शक्ति बना रहेगा। सभी साम्यवादी देश उसके साथ सहयोग करेंगे तथा उनके द्वारा नेतृत्व के लिए सोवियत संघ की ओर देखा जायेगा। युद्ध एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सम्बन्ध में सोवियत संघ के नेताओं द्वारा समय-समय पर जो वक्तव्य दिये जाते हैं उनसे ये मान्यतायें स्पष्ट हो जाती है। आज का व्यवहार इन मान्यताओं के ठीक विपरीत है।

इन दो साम्यवादी महाशक्तियों के बीच का मत-भेद अब पर्याप्त स्पष्ट हो चुका है। साम्यवादी चीन के नेता रूस की श्रेष्ठता को अस्वीकार करते हुए अपने आपको मार्क्स तथा लेनिन का एक सच्चा समर्थक कहते हैं तथा सोवियत संघ को संशोधनवादी कहते हैं। उनके अनुसार साम्को ने

---

1. "The underlying cause of the Sino-Soviet conflict is the basic paradox between pluralism in the communist world and monolithism in communist ideology"
—*Robert A. Scalapino*, "Sino Soviet conflict in perspective". The Annals, Jan. 1964, P. 1

है कि इस संघर्ष का कारण मुख्यतः दोनों देशों का आर्थिक और सामाजिक विकास तथा विश्व राजनीति में दोनों देशों का स्थान है। रॉबर्ट ए० स्केल्पिनो (Robert A. Scalpino) के मतानुसार यह संघर्ष तीन कारणों का परिणाम है–(i) संगठन, निर्णय प्रणाली एवं साम्यवादी गुट का नेतृत्व (ii) क्रांतिकारी तरीके एवं २०वीं शताब्दी के मध्य की विश्व राजनीति (iii) अन्तर्गुट सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहायता का रूप।[1]

सोवियत रूस का विचार है कि बीसवीं शताब्दी के मध्य से विश्व राजनीति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हो गये हैं जैसे साम्यवाद को प्रजातंत्रात्मक तरीकों से लाने का प्रयास किया जा रहा है। उसका मत है कि पिछड़े देशों में साम्यवाद का प्रसार करने के लिए अथवा उपनिवेशों से पूंजीवादी तत्वों का सफाया करने के लिए अप्रत्यक्ष साधनों को अपनाया जाना चाहिए, उसकी नीति नम्र एवं उदार है। वह किसी भी देश के साथ तनावपूर्ण सम्बन्धों में विश्वास नहीं करता बल्कि सभी देशों की स्वतन्त्रता, समानता और सार्वभौमिकता का सम्मान करता है।[2] रूस का यह विश्वास है कि भिन्न विचारधारा, राजनैतिक प्रणाली तथा भिन्न सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा होते हुए भी वह दूसरे देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रख सकता है। साम्यवादी चीन रूस की इन बदली हुई नीतियों की निन्दा करता है तथा उसकी उदारता और सहिष्णुता को कायरता का नाम देता है एवं मार्क्सवाद व लेनिनवाद के प्रति गद्दारी मानता है। चीन का कहना है कि रूस ने सन् १९५६ में स्टालिन की नीति की जो खुली आलोचना की वह गलत थी। अल्बानियां की आलोचना करके उसके साथ अपमानजनक व्यवहार करना ठीक नहीं था। रूस को यूगोस्लाविया से पुनः सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए था। उसने क्यूबा पर अमेरीका से समझौता कर लिया यह भी उसकी कायरता का प्रतीक है। भारत-चीन सीमा विवाद के समय रूस ने मौन रहने की जो नीति अपनायी वह भी चीन के दिल को न भायी। ये सभी बातें चीन के मत में सन् १९५७ की मास्को घोषणा तथा १९६० की पार्टी की घोषणा के विरुद्ध थीं। इसके अतिरिक्त रूस-चीन के सम्बन्धों में इस कारण भी मनमुटाव पैदा हुआ क्योंकि रूस ने चीन को दी जाने वाली सहायता कम कर दी थी तथा अणु शक्ति सम्बन्धी प्रयोग करने में उसकी मदद नहीं की थी और सांस्कृतिक एवं आर्थिक आदान-प्रदान को कम कर दिया था। साम्यवादी चीन रूस एवं अन्य बड़े राष्ट्रों के साथ समानता चाहता है, यह परम्परागत एवं पुराने साम्यवादी तरीकों में विश्वास करता है, यह आन्दोलन

---

1. "The Sino-Soviet Conflict in Perspective". The Annals, Jan. 1964, P. 1
2. The Soviet Union has no territorial claims on any state, including any of her neighbours. It is inviolable principle of our Foreign Policy to respect the national freedom and sovereignty of every country big or small.
—*Malenkov*, Moscow Radio, Aug. 8, 1953.

को सफल बनाने के लिए संघर्ष की निरंतरता पर जोर देता है, यह अमेरीका को अपनी शक्ति विस्तार के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा मानता है तथा रूस की उसके साथ उदार नीति उसे पसन्द नहीं है अतः वह रूस से मतभेद रखता है। उसका कहना है कि अमेरीका के साथ रूस जिस शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को अपना रहा है वह साम्यवादी आन्दोलनों का पक्ष कमजोर कर देगी। राष्ट्रवाद की भावना से प्रभावित चीन अपने ऊपर रूस के किसी प्रकार के प्रभुत्व को मानने को तैयार नहीं है।

स्केलेपिनों (Scalapino) का कहना है कि "इन दोनों देशों के बीच जो संघर्ष है उसका मूल कारण यह है कि साम्यवादी विश्व तो बहुलवादी है किन्तु साम्यवादी विचारधारा एकाग्र प्रकृति की है तथा इन दोनों के बीच विरोधाभास है।"[1]

चीनी रूसी सम्बन्धों का भविष्य
[Future of Sino-Soviet Relations]

साम्यवादी चीन और रूस की विदेश नीति के सम्बन्ध में एक मुख्य प्रश्न यह किया जाता है कि इनका भावी सम्बन्ध क्या मोड़ लेगा? इस सम्बन्ध के बारे में भविष्यवाणियां करना तो खतरे से खाली नहीं है किन्तु फिर भी इससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार करना उपयोगी रहेगा। सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन के बीच संघर्ष रहेगा अथवा सहयोग रहेगा इससे संयुक्त राज्य अमरीका, पश्चिमी शक्तियों एव अफ्रीका तथा एशिया के देशों के हितों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा।

मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद के मूल सिद्धान्तों में यह कल्पना नहीं की गई थी कि दो बड़ी साम्यवादी शक्तियों के बीच विश्व नेतृत्व के लिए संघर्ष होगा। लेनिन तथा स्टालिन ने सदैव ही ऐसी स्थिति की कल्पना की थी जिसमें कि सोवियत रूस सदैव ही एक नमूना रहेगा, नेतृत्व करेगा तथा एक बड़ी साम्यवादी शक्ति बना रहेगा। सभी साम्यवादी देश इसके साथ सहयोग करेंगे तथा उनके द्वारा नेतृत्व के लिए सोवियत संघ की ओर देखा जायेगा। युद्ध एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सम्बन्ध में सोवियत संघ के नेताओं द्वारा समय-समय पर जो वक्तव्य दिये जाते हैं उनसे ये मान्यतायें स्पष्ट हो जाती हैं। आज का व्यवहार इन मान्यताओं के ठीक विपरीत है।

इन दो साम्यवादी महाशक्तियों के बीच का मन-मुटाव अब पर्याप्त स्पष्ट हो चुका है। साम्यवादी चीन के नेता रूस की अधीनता को अस्वीकार करते हुए अपने आपको मार्क्स तथा लेनिन का एक सच्चा समर्थक कहते हैं तथा सोवियत संघ को संशोधनवादी कहते हैं। उनके मतानुसार मास्को ने

---

1. "The underlying cause of the Sino-Soviet conflict is the basic paradox between pluralism in the communist world and monolithism in communist ideology."
—*Robert A. Scalapino*, "Sino-Soviet conflict in perspective". The Annals, Jan. 1964, P. 1

संयुक्त राज्य अमरीका के साथ हर प्रकार का गंदा समझौता कर लिया है। वह दुनियां पर आधिपत्य जमाने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के साथ मिल कर कार्य करना चाहता है। यही कारण है कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध सोवियत संघ द्वारा बहुत कम बातें कही जाती हैं। मास्को के विरुद्ध चीन का सबसे बड़ा दोषारोपण एक यह है कि उसने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ चीन विरोधी संधि की है और अपने भाइयों के विरोध की अवहेलना करते हुए मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद को ठुकराया है।

दूसरी ओर सोवियत रूस साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति ने भी चीनी साम्यवादी दल के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की एक लम्बी सूची प्रकाशित की है। इसमें यह कहा गया कि चीन ने उन सभी प्रयासों एवं प्रस्तावों को ठुकरा दिया जो कि सोवियत संघ द्वारा उनके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की खातिर किये गये थे, चीन ने सोवियत संघ के विरुद्ध एक राजनैतिक युद्ध छेड़ रखा है। चीन की जनता को यह बताया जाता है कि सोवियत संघ उसका वास्तविक शत्रु है, सोवियत राज्य एवं सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ने के लिए वह संगठित रूप से प्रयास करने के लिए यत्नशील है, चीन सीमा पर संघर्ष को उत्तेजित करता है ताकि सोवियत संघ के साथ सैनिक संघर्ष के लिए तैयारियां कर सके, इसने उस मार्ग को रोक दिया है जहां से कि सोवियत संघ वियतनाम के लिए युद्ध सामग्री भेज सके आदि-आदि।

इस सबके अतिरिक्त सोवियत संघ का तो यहां तक कहना है कि चीनी नेता दक्षिण पूर्वी एशिया में एक लम्बा युद्ध चाहते हैं। उनका उद्देश्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बनाए रखा जाये ताकि वे चीन को एक घिरा हुआ किला सिद्ध कर सकें और रूस तथा अमेरिका को परेशान कर सकें। चीन के नेता यह चाहते हैं कि वे पहाड़ पर बैठ कर चीतों की लड़ाई को देखने का आनन्द उठायें। मास्को के कथनानुसार इस प्रकार की नीतियां चीन के सैनिक महाशक्ति बनने के लक्ष्य को पूरा करती हैं।

युद्ध के सम्बन्ध में दोनों देशों के नेताओं के विचार एक जैसे नहीं हैं। रूस का कहना है कि अणु युद्ध को टाला जा सकता है। शान्तिप्रिय समाजवादी खेमे की बड़ी शक्ति एवं प्रभाव ने यह सम्भव बना दिया है कि युद्ध को राजनैतिक नीति के साधन के रूप में न अपनाया जाये। चीन की युद्धप्रिय नीतियां समाजवाद के लक्ष्य को नुकसान पहुँचा रही हैं।

सोवियत रूस तथा साम्यवादी चीन एक दूसरे को गालियां देते हुए तथा दोषारोपण करते हुए भी किस प्रकार मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रख सकते हैं—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। विचारों का इस प्रकार से आदान-प्रदान होने पर अच्छे सहयोगपूर्ण एव मैत्रीपूर्ण सम्बंधों वाले देश भी परस्पर शत्रु बन जाते हैं। इतने पर भी यह सम्भव है कि साम्यवादी बातचीत के शब्दकोष में शायद यह बात इस रूप में न हो। चीनी नेताओं के कथनानुसार, 'उनकी कूटनीति सरल है। जब वे अपने शत्रु के मुंह पर आघात कर रहे होते हैं तो वे अपने दरवाजे खुले रखते हैं।"

वस्तुस्थिति यह है कि चीन ही एकमात्र ऐसा महत्वपूर्ण देश है जो कि सोवियत सेना की सहायता के बिना ही सोवियत खेमे में शामिल हुआ है। चीन में समस्त सैनिक कार्यवाहियां स्वयं चीनियों द्वारा ही की गई थी इसलिए चीन को इस खेमे में एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ। अपने आकार एवं जनसंख्या के कारण चीन ही एकमात्र ऐसा साम्यवादी देश है जो कि सम्भवतः सोवियत संघ से अधिक शक्तिशाली है। चीन ने कम्यून व्यवस्था का व्यापक रूप में प्रयोग करके देख लिया है। इसके अतिरिक्त चीन की सेनायें कोरिया में संयुक्त राज्य अमरीका से लड़ चुकी हैं, वियतनाम में वे संघर्ष कर रही हैं, भारत तथा अन्य कई देशों के साथ वे अपनी शक्ति आजमा चुकी है। इस सबके बाद चीन को यह विश्वास सा हो गया है कि वह विश्व साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व कर सकता है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति को मानने के लिए सोवियत संघ के नेतागण तैयार नहीं हैं।

रूस-चीन सम्बन्धों के बारे में एक आशा यह की जाती है कि राष्ट्रीय हितों के अन्तर केवल सैद्धान्तिक विवाद न होकर और भी गहरे हो जायें। चीन और सोवियत संघ इन दोनों देशों में साम्यवादी शासन होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनके दृष्टिकोण एक जैसे रहेंगे अथवा उनके द्वारा एक जैसी नीतियां ही अपनाई जायेंगी। दोनों ही राष्ट्रीय राज्य हैं जिनकी सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमियां बहुत भिन्न हैं। वे आर्थिक विकास के जिस स्तर पर हैं वह भी पर्याप्त भिन्न हैं।

साम्यवादी चीन की नीति में विशेष रूप से यह बात पायी जाती है कि वह सौदेबाजी करते समय बहुत बड़ा दृष्टिकोण अपनाता है। उसके द्वारा ऊंची मांगें की जाती हैं, चालबाजियां अपनायी जाती हैं, विरोधियों का नाम लेकर उनको गालियां तक दी जाती हैं तथा अन्तिम रूप से समझौता होने तक ऐसा लगता है कि समझौता हो ही नहीं सकता। चीन में अपने को विदेशियों से उच्च मानने की भावना परम्परागत रूप से है और यही सोवियत संघ पर भी लागू होती है।

जनसंख्या के विशेषज्ञों का कहना है कि १९७५–२००० तक सोवियत संघ व चीन में जनसंख्या तथा उत्पादन वृद्धि इतनी हो सकती है कि यदि इन देशों के आपसी भेदभाव मिट गये तो विश्व के शक्ति संतुलन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जायेगा। यदि भेदभाव न भी मिटे तो भी चीन की प्रसारवादी नीतियों की छाया एशिया के देशों पर छा कर इस महाद्वीप के शक्ति संतुलन को तथा भावी अन्तर्राज्यीय व्यवहार को बड़े रूप मे प्रभावित करेगी। रूस और चीन के भावी सम्बन्धों का रूप अन्य देशों की नीति एवं व्यवहार को पर्याप्त प्रभावित करेगा।

चीन और भारत
(China and India)

भारत और चीन एशिया महाद्वीप के दो बड़े राष्ट्र हैं। इन दोनों देशों के बीच के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का इतिहास अत्यन्त पुराना है। दोनों में

जो सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं व्यापारिक आदान-प्रदान होता था उसका विवरण हमें इतिहास में प्राप्त होता है। चीन में जब साम्राज्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो भारत ने उसे मान्यता प्रदान कर दी तथा राजनयिक सम्बन्ध जोड़ लिए। उसे संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने का भी प्रयास किया। पंचशील के सिद्धान्तों में दोनों देशों ने अपना विश्वास प्रकट किया। इस सबके बाद भी दोनों के बीच कटुता पैदा हुई तथा बढ़ने लगी। कहा जाता है कि इसका कारण चीन का तटस्थ राष्ट्रों के प्रति विशेष दृष्टिकोण है। चीन अपने महाशक्ति बनने के स्वप्न को साकार करने में भारत को एक बाधा मानता है। साम्यवादी चीन किसी भी ऐसे देश को अपना मित्र नहीं कहना चाहता जो कि संयुक्त राज्य अमरीका से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उत्सुक एवं तैयार हैं। चीन के कहने और करने के बीच भारी अन्तर रहता है। २६ जनवरी, १९५९ को चीन के विदेश मन्त्री ने यह कहा था कि "भारत ने पिछले नौ वर्षों में नेहरू के नेतृत्व में देश को बनाने तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में क्रान्तिकारी उन्नति की है। हमने हमेशा ही यह माना है कि राजनैतिक रूप से स्वतन्त्र एवं आर्थिक रूप से शक्तिशाली भारत, एशिया तथा विश्व की शान्ति के लिए अधिक देन दे सकेगा। हमें प्रसन्नता है कि पिछले साल भारत ने विश्व शान्ति की स्थापना एवं अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को कम करने में बहुत मूल्यवान कार्य किया है।"[1] एक वर्ष से कम समय में ही उसने यह कहना शुरू कर दिया कि भारत शत्रु के हाथों में चला गया है और नेहरू एशिया में ब्रिटिश उपनिवेशवादी शक्ति से भी बड़ा साम्राज्यवाद स्थापित करना चाहते हैं। इसके साथ ही भातर की सीमाओं पर चीनी आक्रमण प्रारम्भ हो गये। भारत में चीन की नीतियों एवं राष्ट्रीय विकास के प्रति भारत में उदासीनता छाने लगी। स्वतन्त्रता को सीमित करने की नीति, पश्चिम के साथ हिंसात्मक संघर्ष, सभी दृष्टिकोणों के प्रति असहनशीलता का रुख आदि बातों ने भारत पर विरोधी प्रभाव डाला और चीनी प्रयोग के प्रति उपेक्षा के भाव आने लगे।

सन् १९५९ में तिब्बत के क्रान्तिकारियों के कार्यों से भारत-चीन के सम्बन्धों में बहुत मनमुटाव आ गया। तिब्बत के क्रान्तिकारियों को बुरी तरह से कुचलने के प्रयत्नों का भारतीय जनमत पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। भारत एवं तिब्बत के ऐतिहासिक रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः तिब्बत के समर्थन में यहां के अखबारों ने बहुत कुछ कहा। चीन ने भारत पर आरोप लगाया कि वह उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है। प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई ने कहा था कि "हमें विश्वास है कि भारत व चीन की सरकार सही रूप में पांचों सिद्धान्तों का पालन करेंगे तथा दोनों देशों के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को बिगड़ने से रोकेंगे।"[2] किन्तु जब दलाई लामा उड़ कर भारत आ गये और यहां उनको शरण दे दी गई तो चीन के रोष की हद हो गई। दोनों देशों के सम्बन्ध जहरीले बन गये। चीन द्वारा यह कहा गया

1. Peking Review, No. 5, 3 Feb, 1954 P. 14
2. New China News Agency, Peking, 20th April, 1959.

कि वह किसी को भी अपने आन्तरिक मामलों में अपनी नाक नहीं घुसाने देगा तथा क्षेत्रीय अखण्डता पर आंच नहीं आने देगा।

भारत की इन न्यायपूर्ण किन्तु चीन के हितों के विरुद्ध नीतियों क प्रतिक्रियास्वरूप साम्यवादी चीन ने भारत को ही अपनी विस्तारवादी नीतियों का लक्ष्य बनाना प्रारम्भ कर दिया तथा भारत की उत्तरी सीमाओं की हजार वर्ग मील भूमि पर अपना दावा किया। उसके बाद दोनों देशों के बीच विरोध-पत्रों, उनके प्रत्युत्तरों, सीमा उल्लंघनों एवं जवाब में की गई कार्यवाहियों का लम्बा दौर प्रारम्भ हुआ। चीन न भारत के सम्मान को धक्का पहुंचाने के लिए जो प्रचार प्रारम्भ किया उसका लक्ष्य यह सिद्ध करना था कि–(अ) भारतीय सरकार 'देश एवं विदेश'–दोनों स्थानों पर प्रतिक्रिया-वादी बन गई है। (ब) भारतीय असंलग्नता एक धोका है। यथार्थ में वह शत्रु के हाथों में जा चुका है। (स) भारत में आर्थिक सङ्कट गहरा हो गया है तथा अब साम्यवाद के प्रसार का समय आ चुका है। चीन के प्रचार का एक लक्ष्य यह था कि भारत को मिलने वाली सोवियत सहायता बन्द हो जाय। अक्टूबर १९६२ में चीन ने भारत पर अचानक ही सशस्त्र हमला कर दिया और भारत को भी अपनी सुरक्षा में शस्त्र उठाने को बाध्य होना पड़ा। युद्ध चलता रहा। चीन के बहुत समय से नियोजित एव सुव्यवस्थित हमले का भारतीय सेनाओं द्वारा जी-जान से मुकाबला करने का प्रयत्न किया गया किन्तु कई कारणों से भारतीय सेनायें पूरी तरह से इस आक्रमण के लिए तैयार नहीं थीं। आखिर २१ नवम्बर, १९६२ को युद्ध-विराम हुआ। सेनाओं ने शस्त्रों की मार धीमी कर दी और आगे बढ़ना बन्द कर दिया। किन्तु इस युद्ध-विराम का अर्थ यह नहीं था कि चीनी सेना द्वारा किये जाने वाले सीमा के उल्लंघन दूर हो गये थे; वे तो होते ही रहे और अवसर के अनुसार होते ही रहते हैं।

चीन और एशिया एवं अफ्रीका
(China and Africa-Asia)

एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीपों में साम्यवाद के उपयुक्त भूमि होने के कारण यहां के देश चीन की सक्रिय विदेश नीति के स्थल बने हैं। कोरिया में चीन द्वारा की गई सशस्त्र कार्यवाही से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसका स्तर थोड़ा ऊंचा उठ गया। जून १९५० में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर किये गये आक्रमण को चीन की सरकार ने नैतिक समर्थन प्रदान किया और कोरिया में राष्ट्र संघ की सेनाओं द्वारा किये गये हस्तक्षेप की उसने कटु आलोचना की। तैवान में चीन की राष्ट्रीय सरकार को अमरीका द्वारा संरक्षण प्रदान करने की घोषणा की गई। इसे चीन ने अपने आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप माना। कहा जाता है कि चीन ने तैवान पर आक्रमण नहीं किया उसी प्रकार वह कोरिया के युद्ध में भी न उतरता यदि संयुक्त राष्ट्र की सेनायें ३८ अक्षांश रेखा के पार न जातीं।

नवम्बर १९५० में जब चीन ने अपनी सेनायें कोरिया में भेजीं उससे

पूर्व वह प्रतीक्षा करता रहा था किन्तु जब संघ की सेनायें मन्चूरिया सीमा के कुछ भागों तक पहुंच गई तो उससे न रहा गया। फिर भी उसने हस्तक्षेप करते समय काफी सावधानी से काम लिया क्योंकि वह उस समय किसी बड़े संघर्ष में अपने को नहीं फसाना चाहता था। आखिर सन् १९५३ में युद्ध बन्द हुआ, युद्ध-विराम किया गया। इधर १९५० के अन्तिम दिनों में चीनी सेनाओं ने तिब्बत को घर दबाया। भारतीयों ने जब इसका विरोध किया तो चीन ने इसे घरेलू मामला कह कर रोक दिया। २३ मई, १९५१ को चीन ने तिब्बत की स्थानीय सरकार के साथ समझौता किया जिसमें चीन के नियन्त्रण को औपचारिक रूप दे दिया गया। कोरिया में युद्ध-विराम होने के बाद चीन ने हिन्द चीन में साम्यवादियों के राष्ट्रीय आन्दोलन में वियतमिन्ह को अधिक सहायता देना शुरू किया। हिन्द चीन की फ्रांसीसी सरकार एवं फ्रांस को इस तथ्य का पता था तो भी वे चुप रहे और अमेरिका के सहयोग से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाते रहे। चीन का आक्रमण होने पर ही वे अमेरिका से सीधी सैनिक सहायता प्राप्त कर सकते थे। सन् १९५३ में वियतमिन्ह की शक्ति काफी बढ़ गई तो भी अमेरिकी हस्तक्षेप की आशंका से उसने युद्ध न छेड़ कर बात-चीत करने का ही रुख अपनाया। सन् १९५४ में जेनेवा समझौता हुआ जिसमें हिन्द चीन के विषय में समझौता हो गया। वियतमिन्ह ने यह वायदा किया कि लाओस और कम्बोडिया से वह अपनी सेनायें हटा लेगा। वियतमिन्ह उत्तरी वियतनाम में चला गया; उसका दक्षिणी भाग वियतनाम गणतन्त्र के अधिकार में रहा जिस पर फ्रांस का और बाद में अमेरिका का प्रभाव हो गया। यहां दो साल में आम चुनाव होने थे ताकि राष्ट्र में एकीकृत शासन व्यवस्था स्थापित की जा सके किन्तु अमेरिका की प्रेरणा से दक्षिणी गणतन्त्र ने इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि वहां बेहद गड़बड़ी थी और सरकार विघटित होती दीख रही थी। इसके फलस्वरूप वियतनाम में अमेरिका और चीन आमने-सामने लड़ाई में उतर आये।

जेनेवा में बरती गई कुशलता के कारण प्रधान मंत्री चाउ-एन-लाई का सम्मान विश्व राजनीति में बढ़ गया तथा विश्व के देश उनकी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर भरोसा करने लगे। एशिया में इस नीति का प्रसार करने में चीन को भारत की सद्भावना का भारी योग मिला। श्री नेहरू ने अक्टबर, १९५४ में चीन की यात्रा की तथा सन् १९५४ में वर्मा के प्रधान मंत्री यू नू भी चीन गये। इधर साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन (SEATO) की रचना की जिसका लक्ष्य इस सन्धि में शामिल होने वाले लाओस, कम्बोडिया, वियतनाम आदि देशों की सुरक्षा का आश्वासन देना था। साम्यवादी चीन ने इस सन्धि की कटु आलोचना की तथा इसमें भाग लेने वाले देशों को चीन विरोधी घोषित किया। सन् १९५५ में कोलम्बो शक्तियों द्वारा आयोजित बाण्डुग सम्मेलन में चीन की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई तथा इन्डोनेशिया आदि देश उसके गहरे मित्र बन गये। दोनों के बीच एक द्वैत राष्ट्रीयता समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार चीनी प्रवासियों को दो वर्ष के भीतर दो में से किसी एक देश की नागरिकता का वरण करना था। चीनी

साम्यवादी अनेक विरोधी घोषणाओं के बावजूद भी प्रवासी चीनियों से यह आशा करते थे कि वे साम्यवादी शासन के प्रति लोगों की मित्रता में बढ़ावा देकर एशिया में साम्यवादी प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे।

सन् १९५५ के आरम्भ से ही चीन और भारत के बीच खिंचाव पैदा हो गया। सीमा विवाद प्रारम्भ हुआ, भारत ने दूसरे अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन का विरोध किया। इधर भारत–रूस के सम्बन्ध घनिष्ठ होते जा रहे थे। कश्मीर और पख्तूनिस्तान के प्रश्नों पर सोवियत रुख से पाकिस्तान रुष्ठ था, चीन ने इसका लाभ उठाया तथा भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के साथ उसकी मैत्री दिन प्रति दिन बढ़ती गई। सन् १९५६ के आरम्भ से ही चीन और रूस के सम्बन्धों में अनेक कारणों से खिंचाव आने लगा। अक्टूबर, १९५८ में भारत के साथ उसका सीमा विवाद उग्र एवं स्पष्ट हो गया। उन्होंने दावा किया कि भूटान के पूर्व तथा जम्मू-कश्मीर में एक बड़ा भाग चीनियों का है जिस पर भारतीयों ने अवैध रूप से अधिकार कर रखा है। भारत-चीन विवाद के समय चीन को सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ उल्टे भारत के प्रति सोवियत मैत्री अधिक दृढ़ हो गई। सोवियत संघ के प्रति द्वेष एवं रोष होने पर भी चीन उसके साथ अपनी एकता की घोषणा करता रहा और अपने स्वयं के युद्ध एवं हिंसा के मार्ग पर चलता रहा। उसने एशिया में साम्यवादी आन्दोलनों को इस बात के लिए उकसाया कि वे हिंसात्मक मार्गों का अनुसरण करें। एशिया में चीनी प्रचार के मुख्यतः दो प्रलोभन हैं। एक तो यह इस बात का दावा करता है कि अर्ध-विकसित देशों में राष्ट्र-निर्माण का सही रास्ता साम्यवाद है। दूसरे, यह इस बात पर जोर देता है कि साम्यवाद के मार्ग पर चल कर ही साम्राज्यवादियों से स्थायी रूप से छुटकारा पाया जा सकता है। पश्चिम के कुछ एशियाई मित्र देश चीन की शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की कूटनीति तथा उसके साम्यवादी प्रचार का किसी न किसी मात्रा में स्वागत करते हैं। चीन अपनी शक्ति एवं प्रभाव को बढ़ाने के लिए तथा साम्यवाद को फैलाने के लिए प्रयत्न करता है ताकि एशिया से पश्चिमी शक्तियों के प्रभाव, सहायता एवं संरक्षण को हटा दे। चीन द्वारा दी गई चुनौतियों का सामना करने के लिए गैर-साम्यवादी देश मुख्यतः दो मार्ग अपनाते हैं। या तो वे पश्चिम के साथ अपने सम्बन्धों को और भी घनिष्ठ बना लेते हैं अथवा वे साम्यवाद की ओर झुकी हुई तटस्थता की नीति का अनुसरण करने लगते हैं। चीन एक शक्तिशाली, युद्ध-प्रिय एवं हिंसा का समर्थक देश है और उसके इरादे अच्छे नहीं हैं। उसके विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता, शान्ति एवं सम्मान को बनाये रखने के लिए एशिया एवं अफ्रीका के गैर-साम्यवादी देशों के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे तुरन्त ही अपनी उन कमजोरियों को दूर कर लें जिनसे कि अप्रत्यक्ष आक्रमण को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। दूसरी ओर उन्हें अपनी सैनिक-शक्ति बढ़ाने की ओर भी ध्यान देना चाहिये। इन दोनों कार्यों की साधना में यह उचित रहेगा कि वे एक दूसरे के साथ सहयोग करके चलें। कुछ विचारकों के मतानुसार इन देशों की आधारभूत कमजोरियों की सबसे अच्छी औषधि यह है कि वे अपने आर्थिक एवं राजनैतिक एकीकरण की दिशा में सामुदायिक क्षेत्रीय प्रयत्न करें।

SUGGESTED READINGS

1. People's China, Supplement, No. 14-16 July, 1956 P p. 3-14.
2. Jen-Min Jih-pao, editorial, 20 July, 1958.
3. Peking Review, 8th November, 1960, P p. 21-25.
4. Department of State, United States Relations with China with special reference to the period 1944-49. Washington. 1949, P. 218.
5. Yuan Hsicn-lu, "Sanguinary Lover of Peace", Hung-chi, No. 23, 1st Dec., 1961.
6. Kuo-chi Wen-t'i Yen-Chiu, No. 6, 3rd Oct., 1959.
7. Hsiao Leng, "Some Problems Facing India's Third Five year Plan", Shilh-Chieh Chih-Shih, No. 15, 10 Aug, 1961
8. Hsiao Leng, "India and Foreign Aid", Peking Review, No. 45, 10 Nov., 1961 Pp. 12-13
9. Hein Ming, "How to interpret the Conference of Non-aligned Nations," Shih·Shih Shou-ts e, No. 18, 21 Sep. 1961.
10. V. P. Dutta, China's Foreign Policy., 1964.
11. Indian School of International Studies, International Studies, Vol. V, Nos. 1-2, July-Oct. 1963 Special Double issue on Chinese Aggression and India.

अध्याय—५

ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति
[FOREIGN POLICY OF GREAT BRITAIN]

योरोप के पश्चिमी किनारे पर बसा हुआ यह छोटा किन्तु घनी जन-संख्या वाला देश अपनी अनेक सामाजिक एवं एतिहासिक परम्परायें रखता है। ९४००० वर्ग मील का प्रदेश योरोपीय मापदण्ड की दृष्टि से भी पर्याप्त छोटा है। ब्रिटिश खाडी (British Channel) के कारण यह देश अपने तरीके की गृहनीति एवं विदेश नीति का विकास करने में समर्थ हो सका है। मध्यकाल के समाप्त होते ही ग्रेट ब्रिटेन ने एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार अपनाली ताकि वह अपनी राष्ट्रीय संरचना की ओर ध्यान दे सके। ब्रिटिश राष्ट्र में न केवल अंग्रेजों को ही वरन् वेल्स तथा स्कॉट्स को भी स्थान प्राप्त हुआ। ग्रेट ब्रिटेन को विदेशी आक्रमण का भय नहीं था तथा इसकी राष्ट्रीय एकता भी बढ़ती चली गई जिसके परिणामस्वरूप यहां स्थायी राजनैतिक व्यवस्था का विकास हुआ। सन् १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति के बाद से यह विकास निरन्तर गति से चल रहा है। यह देश केवल एकीकृत ही नहीं है वरन् केन्द्रीकृत भी है। इसमें अधिकांश सामाजिक कार्य लन्दन स्थित सरकार द्वारा संचालित किये जाते हैं। लन्दन में पूरे देश की जनसंख्या का का $\frac{1}{6}$ भाग निवास करता है।

ग्रेट ब्रिटेन की पृथकता का उसकी विदेश नीति पर भी पर्याप्त प्रभाव है। ग्रेट ब्रिटेन योरोप में हमेशा से ही रुचि लेता है तथा इस खतरे को दूर रखने के प्रयास करता रहा है कि कोई बाहरी शक्ति योरोप पर अधिकार करके उसकी सुरक्षा को संकट में न डाल दे। सन् १५५८ में ग्रेट ब्रिटेन का उसके अन्तिम महाद्वीपीय आधिपत्य केलेस (Calais) से सम्बन्ध छूट गया। उसके बाद वह योरोप का एक भाग नहीं रहा। ग्रेट ब्रिटेन ने समुद्री शक्ति पर अपना पूरा ध्यान दिया तथा संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली नौ सेना की रचना की और दुनिया में सबसे बड़ा उपनिवेशी साम्राज्य स्थापित कर लिया तथा महान् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास किया। ग्रेट ब्रिटेन ने प्रारम्भ से ही इस बात पर ध्यान दिया है कि योरोप में शक्ति संतुलन बना रहे तथा समुद्री मार्ग स्वतन्त्र बना रहे।

ग्रेट ब्रिटेन में नीति निर्माण
[Policy Making inGreat Britain]

ग्रेट ब्रिटेन में नीति निर्माण का कार्य पहले राजा के हाथ में था,

बाद में यह राजा एवं उसके परामर्शदाता गुट के हाथों में आ गया तथा उसके बाद यह कामन्स सभा के बहुमत दल के नेताओं अर्थात् मन्त्रीमण्डल के हाथ में आ गया। यह मन्त्रीमण्डल अपने कार्यों के लिए कामन्स सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। ब्रिटिश ताज के विशेषाधिकार पूर्ण नियन्त्रण से घट कर केवल परामर्श देने, प्रोत्साहन देने एवं चेतावनी देने तक ही आकर रुक गये हैं। परम्परागत रूप से प्रधानमन्त्री राजा के दृष्टिकोण को मानने के लिए बाध्य नहीं है किन्तु फिर भी उसे आदर के साथ सुना जाना चाहिए। विदेश नीति से सम्बन्धित पहल एवं नियन्त्रण का अधिकार प्रधानमन्त्री तथा केबिनेट के हाथों में रहता है।

गृह कार्यों की भांति विदेशी मामलों का संचालन भी राजा या रानी के नाम पर किया जाता है। किन्तु समस्त निर्णय केबिनेट में मन्त्री द्वारा लिए जाते हैं और राजा केवल नाम मात्र का अध्यक्ष होता है। विदेश नीति से सम्बन्धित विषयों का संचालन करने वाला ब्रिटिश यन्त्र एक दृष्टि से विशेष होता है क्योंकि उसमें अन्तिम रूप से निर्वाचकों का प्रभावशाली प्रजातन्त्रात्मक नियन्त्रण रहता है और साथ की साथ सरकार को कार्य करने की स्वतन्त्रता भी रहती है। इस व्यवस्था का उदाहरण बहुत कम देखने में आता है। एकीकृत तथा केन्द्रीकृत होने के कारण ग्रेट ब्रिटेन ने जिस राजनैतिक व्यवस्था का विकास किया है उसमें दो अनुशासित दल हैं जिनके क्षेत्रीय एव वर्गगत प्रभाव आसानी से सरकार के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। ग्रेट ब्रिटेन की कूटनीति सम्भवत: संसार में सबसे अधिक अनुभव पूर्ण है। यह लोचशील है तथा अनुभववादी है। यह व्यवस्थापिका तथा जनमत के हस्तक्षेप से मुक्त है।

प्रधानमन्त्री एवं केबिनेट

[The Prime Minister and the Cabinet]

ग्रेट ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री और उसका मन्त्री मण्डल नीति निर्माण के लिए उत्तरदायी है। उसे नीति बनाने के बाद देश तथा संसद के सम्मुख इसका प्रतिवेदन प्रस्तुत करना होता है। यह संसद के माध्यम से राष्ट्रीय हित का व्यवस्थापन करता है, बने हुए कानूनों को क्रियान्वित करता है तथा सरकारी विभागों को निर्देशित करता है। विदेश नीति से सम्बन्धित व्यापक निर्णय सरकार के विभागों में लिए जाते हैं। जब मन्त्रीमण्डल अपनी नीतियों के प्रति संसद का विश्वास खो देता है तो उसे परम्परागत रूप से त्याग पत्र देना होता है। इस व्यवस्था के होने के कारण मन्त्रीमण्डल के सदस्यों को एक होकर कार्य करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त संसद भी एक अनुशासित द्विदलीय व्यवस्था के द्वारा सदैव ही राष्ट्रीय नीति की रचनात्मक आलोचना करती रहती है।

मन्त्रीमण्डल के सदस्यों का चयन प्रधानमन्त्री द्वारा साधारणत: उसके अपने ही दल के नेताओं में से किया जाता है। लार्ड सभा के सदस्यों को भी

मन्त्रीमण्डल में लिया जा सकता है किन्तु फिर भी अधिकांश महत्वपूर्ण विभाग कामन्स सभा के राजनैतिक नेताओं के लिए संरक्षित रख लिए जाते हैं। युद्ध के समय अथवा किसी भी दल के स्पष्ट बहुमत न होने पर प्रधानमन्त्री अन्य दल के सदस्यों को भी मन्त्रीमण्डल में आने के लिए आमन्त्रित कर सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय विंस्टन चर्चिल के मन्त्रीमण्डल में लेबर पार्टी के भी कुछ सदस्य थे। स्वयं उपप्रधानमन्त्री क्लीमेंट एटली ही इस दल के थे।

मन्त्रीमण्डल में प्रायः लगभग बीस सदस्य होते हैं। इसमें विदेश सचिव, सुरक्षा मन्त्री, व्यापार मण्डल का अध्यक्ष, चान्सलर ऑफ एक्सचेकर तथा प्रधानमन्त्री द्वारा चाहे गये अन्य विभागीय नेता होते हैं।

मन्त्रीमण्डल राष्ट्रीय नीतियों की रचना के अपने मुख्य कार्य को करने के अतिरिक्त अनेक मन्त्रालयों के कार्यों तथा नीतियों के बीच समन्वय स्थापित करता है ताकि सरकार एवं राष्ट्र के समग्र लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। मन्त्रीमण्डल के अन्तर्गत स्थायी समितियों का प्रयोग किया जाता है ताकि नीति सम्बन्धी भेदों को दूर किया जा सके तथा पूर्ण मन्त्रीमण्डल का समय लिए बिना ही सम्बन्धित मन्त्रालयों की क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित किया जा सके। इनमें सुरक्षा समिति, व्यवस्थापन समिति तथा नीति समिति सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। सुरक्षा समिति राष्ट्रीय सुरक्षा का कार्य करती है। इसका सभापतित्व प्रधानमन्त्री द्वारा किया जाता है तथा इससे कुछ-कुछ ऐसा ही कार्य लेने का प्रयास किया जाता है जो कि संयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद (N,S C.) द्वारा लिया जाता है। विदेशी मामलों पर अलग से कोई समिति नहीं हैं। इन पर सम्पूर्ण मन्त्रीमण्डल द्वारा विचार किया जाता है।

मन्त्रीमण्डल की साप्ताहिक बैठकों के कार्यक्रम में विदेशी मामलों को प्रायः सर्व प्रथम स्थान प्रदान किया जाता है। कभी-कभी विचार विमर्श समझौता वार्ताओं की प्रगति के प्रतिवेदनों अथवा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तक ही सीमित रहता है। दूसरे अवसरों पर विदेश सचिव अपने निर्णय को दृढ़ बनाने के लिए तथा अपने हाथों को मजबूत करने के लिए मन्त्रीमण्डल के सदस्यों की राय जान सकता है। जब कभी किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में किसी आलोचनापूर्ण विषय पर विचार करना होता है तो उससे पहले ही मन्त्रिमण्डल में विचार कर लिया जाता है। इसी प्रकार जब दूसरे देश के साथ कोई सन्धि करनी होती है तो मन्त्रीमण्डल उसके सभी प्रभावों एवं ऊंच-नीच पर विचार कर लेता है। जब कोई उलझनपूर्ण मसला संसद में आने वाला होता है तो उस पर भी मन्त्रीमण्डल पहले से ही विचार कर लेता है।

कूटनीतिक कागजातों को मन्त्रीमण्डल के सभी सदस्यों के बीच वितरित कर दिया जाता है। यह व्यवहार संयुक्त राज्य अमरीका से भिन्न है। ग्रेट

ब्रिटेल में इसे इसलिए अपनाया गया है क्योंकि यहां मन्त्रीमण्डल सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी हैं। मन्त्रीगण समस्त राष्ट्रीय नीतियों के लिए एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अमेरिका तथा फ्रांस के कई मन्त्रियों को विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णयों की सूचना अखबार पढ़ने के बाद हो पाती है। इस स्थिति को रोकने के लिए ही ग्रेट ब्रिटेन में इस अभ्यास को अपनाया गया है। यहां का मन्त्रीमण्डल केवल परामर्श देने के लिए ही उत्तरदायी नहीं होता है वरन् यह एक निर्णय लेने वाला निकाय है और इसलिए इसके सदस्यों के पास पर्याप्त सूचना का होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रधानमन्त्री सरकार एवं मन्त्रीमण्डल का नेता होता है और इसलिए विदेश नीति को बनाने तथा क्रियान्वित करने के लिए वही अन्तिम रूप से उत्तरदायी है। ग्रेट ब्रिटेन के कुछ प्रधान मन्त्रियों ने विदेश नीति से सम्बन्धित विषयों में प्रभावशील रूप से कार्य किया है। विस्काउन्ट पामर्स्टन (Viscount Palmerston), लायड जार्ज (Lloyd George), विंस्टन चर्चिल (Winston Churchill) तथा मैकमिलन (Sir Harold Macmillan) आदि को व्यक्तिगत कूटनीति के लिए सदा याद किया जाता रहेगा।

प्रधानमन्त्री का अन्तिम उत्तरदायित्व इतना मौलिक है कि उसकी विदेश नीति की गम्भीर आलोचना एक नेता के रूप में उसके सम्मान एवं प्रभाव को समाप्त कर देगी चाहे उसकी नीति के पीछे उसके दल तथा मन्त्रीमण्डल का कितना ही समर्थन क्यों न हो। उदाहरण के लिए सन् १९५६ मे सर एन्थानी ईडन (Sir Anthony Eden) ने प्रधानमन्त्री की हैसियत से स्वेज नहर पर आक्रमण की आज्ञा प्रसारित की। ग्रेट ब्रिटेन के विरोधी दल ने, संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ तथा राष्ट्रमण्डल के अनेक देशों ने और संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस आज्ञा का विरोध किया। यद्यपि मन्त्रीमण्डल और कामन्स सभा का बहुमत आक्रमण की नीति का समर्थन कर रहा था किन्तु फिर भी व्यापक विरोध के कारण प्रधानमन्त्री को पर्याप्त नीचा देखना पड़ा और उन्होंने थोड़े समय बाद ही त्यागपत्र दे दिया।

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एवं अमरीकी राष्ट्रपति
(British Prime Minister and American President)

यदि हम नीति निर्माण की दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की तुलना करें तो पायेंगे कि राष्ट्रपति दो दृष्टि से लाभ में रहता है। प्रथम, राष्ट्रपति चार साल के निश्चित कार्यकाल तक अपने पद पर कार्य करता है। इस बीच कांग्रेस अथवा मतदाताओं के बीच उसका सम्मान कम हो जाये तो भी उसे अपने कार्यालय में बने रहने का तथा अपनी शक्तियों को प्रयुक्त करने का सांवैधानिक अधिकार है। प्रधानमन्त्री का ऐसा कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता। सैद्धान्तिक रूप से संसद किसी भी

समय उसे त्यागपत्र देने के लिए अथवा नये चुनाव कराने के लिए बाध्य कर सकती है।

दूसरे, राष्ट्रपति अपने मन्त्रीमण्डल में सर्वोच्च होता है। इसके मन्त्रीमण्डल में जो प्रशासक होते हैं उनका कोई भी सांवैधानिक स्तर नहीं होता तथा इनसे विचार-विमर्श करने के लिए बाध्य नहीं है। ब्रिटिश मन्त्रीमण्डल में सभी राजनैतिक नेता होते हैं तथा प्रधानमन्त्री को इन्हें अपने साथ लेकर चलना होता है। मन्त्रीमण्डल का सहारा होने पर उसे संसद की ओर से कोई खतरा नहीं रहता।

संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति को सैद्धान्तिक रूप से जो लाभ प्राप्त होते हैं उनका व्यवहार में बहुत कम महत्व है। जब ब्रिटिश प्रधान मंत्री अपने दलीय बहुमत के साथ पद ग्रहण करता है तो वह भी अमरीकी राष्ट्रपति की भांति एक निश्चित कार्यकाल तक कार्य करता है। यह सच है कि प्रधान मंत्री मंत्रीमण्डल के अपने साथियों की राय से प्रभावित होता है किन्तु साथ ही यह भी सच है कि वह मन्त्रीमण्डल में एक प्रभावपूर्ण स्थान रखता है। प्रधान मंत्री को एक सब से बड़ा लाभ यह रहता है कि व्यवस्थापिका पर उसका प्रभाव रहता है। कठोर दलीय नियंत्रण एवं संसद को विघटित करने की प्रधान मंत्री की शक्तियां ऐसी हैं जो कि अमरीकी राष्ट्रपति को प्राप्त नहीं हैं। सांवैधानिक दृष्टि से 'कांग्रेस राष्ट्रपति के बराबर की भागीदार होती है तथा सिद्धान्त एवं व्यवहार में वह व्ययस्थापन एवं अनुदान के सहारे राष्ट्रपति की नीतियों का समर्थन करने के लिए बाध्य नहीं होती। मन्त्रीमण्डल एवं संसद के बहुमत का समर्थन साथ रहने के कारण प्रधान मंत्री संसद से अपनी नीति को समर्थित कराने की व्यवस्था कर सकता है। संसद की स्थिति उसके नियंत्रण में कार्य करने वाली एक सभा की सी होती है।

ब्रिटिश प्रधान मंत्री पांच वर्ष तक अपने पद पर कार्य करता है तथा वह कितनी ही बार पुनः निर्वाचित किया जा सकता है। प्रधान मंत्री पांच वर्ष से पूर्व भी निर्वाचन करा सकता है जैसा कि विलसन ने सन् १९६६ में किया था। ऐसा वह प्रायः तभी करता है जब कि उसे यह विश्वास हो कि ऐसा करने में कामन्स सभा में उसके दल की स्थिति सशक्त हो जायेगी। जब तक प्रधान मंत्री अपने पद पर रहता है तब तक उसे संसद के विरोधी दल के सदस्यों एवं जनता की आलोचनाओं का शिकार बनना होता है। ब्रिटिश प्रधान मंत्री अपनी शक्तियों का प्रयोग प्रतिबन्धित एवं उत्तरदायी रूप में करता है। ब्रिटिश राजनीति में शीर्ष तक पहुंचने वाला व्यक्ति वहां के सांवैधानिक प्रजातंत्र में अपनी शक्तियों का प्रयोग करने का अभ्यस्त हो जाता है।

विदेश सचिव एवं विदेश कार्यालय
[Foreign Secretary and the Foreign Office]

ग्रेट ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था में विदेश सचिव (विदेश मंत्री) द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। विदेश नीति

से सम्बंधित विषयों में उसका पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान रहता है। इसका एक कारण तो यह है कि विदेशी मामलों का महत्व अधिक होता है। इसके अतिरिक्त इस पद पर प्रारम्भ से ही प्रभावशाली व्यक्तित्व आते रहे हैं। पामर्स्टन, सेलिसबरी तथा एडवर्ड ग्रे आदि विदेश सचिवों ने विदेश कार्यों के व्यवहार में एक निरन्तरता की व्यवस्था की है।

विदेश सचिव का पद मंत्रीमण्डल का एक महत्वपूर्ण पद है। इसको राजनैतिक सम्मान की दृष्टि से दो या तीन उच्च स्तर के मंत्रियों में गिना जाता है। इसके कार्यों की लगातार छानबीन एवं समालोचना होती रहती है। विदेश सचिव अपने व्यवहार में कितनी स्वतंत्रता का प्रयोग करेगा यह बात कई तत्वों पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए–प्रधान मंत्री के साथ उसके सम्बंध कैसे हैं, जनता पर उसका प्रभाव कैसा है तथा बहुमत दल में उसकी क्या स्थिति है, आदि-आदि। संसद तथा देश के सामने प्रधान मंत्री द्वारा ही सत्ता एवं उत्तरदायित्व का प्रतिनिधित्व किया जाता है, ऐसी स्थिति में विदेश सचिव को प्रधान मंत्री का विश्वास प्राप्त होना चाहिए तथा उसे हमेशा यह मानकर चलना चाहिये कि प्रधान मंत्री नीति निर्माण में कभी भी दखल कर सकता है। महत्वपूर्ण सीमाओं के अन्तर्गत रह कर विदेश सचिव विदेश नीति से सम्बंधित निर्णय लेने के लिए तथा उन निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी होता है। संसद में सरकार की नीति को स्पष्ट करना तथा उसकी रक्षा करना उसका कार्य है। ब्रिटिश विदेश सचिव अमरीकी विदेश सचिव की भांति विदेश कार्यालय का संचालन करने के लिए उत्तरदायी है। उसे विदेशी कूटनीतिज्ञों से सम्बंध रखना होता है। शिखर सम्मेलनों के समय वह प्रधानमंत्री की सहायता करता है।

संयुक्त राज्य अमरीका एवं ग्रेट ब्रिटेन के विदेश सचिवों के बीच मुख्य अन्तर यह है कि ग्रेट ब्रिटेन में इसके पास संस्थागत रूप में परिभाषित कार्यालय होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में विदेश सचिव प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होता है तथा उसी की इच्छा पर्यन्त कार्य करता है। राष्ट्रपति उसे किसी भी समय हटा सकता है। ब्रिटिश विदेश सचिव का अपना स्वयं का व्यक्तित्व होता है। वैसे दोनों ही व्यवस्थाओं में समय-समय पर ऐसे व्यक्तित्व भी रहे हैं जो कि अपनी सरकार के अध्यक्षों से प्रभावित रहते थे तथा ऐसे भी रहे हैं जो कि विदेश नीति के क्षेत्र में निर्णायक एवं प्रभावपूर्ण हाथ रखते थे। यह हो सकता है कि ग्रेट ब्रिटेन के विदेश सचिव का इतना शक्तिहीन तथा प्रभावहीन स्तर कभी न रहे जैसा कि अमरीका में राष्ट्रपति विलसन के समय में रोबर्ट लान्सिङ्ग का था। साथ ही यह भी सम्भव है कि ग्रेट ब्रिटेन का कोई विदेश सचिव इतनी शक्ति का प्रयोग न करे जितना कि आइजन हावर के राष्ट्रपतित्व के प्रथम छः वर्षों में राज्य सचिव जान फास्टर डलेस द्वारा किया गया था।

विदेशी मामलों के निदेशन कार्य में विदेश सचिव की सहा[illegible] लिए कुछ राज्यमंत्री तथा संसदीय अवर सचिव होते हैं। इनमें से [illegible]

सदस्य होता है और इसलिए सरकार के परिवर्तन के साथ-साथ बदलता रहता है। राज्य मंत्री केबिनेट स्तर का नहीं होता। वह अपना अधिकतर ध्यान संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य संगठनों में ब्रिटिश योगदान पर लगाता है। वह ऐसे सम्मेलनों के सम्बंध में कार्य करता है जिनमें कि उच्च स्तर के राजनैतिक प्रतिनिधित्व की आवश्यकता हो। संसदीय अवर सचिवों का कार्य यह है कि संसद भवन में विषयों को रखने में प्रधानमन्त्री तथा विदेश सचिव की सहायता करें वे संसद एवं विदेश कार्यालय के बीच सम्पर्क स्थापित करने वाली कड़ी के रूप में कार्य करते हैं।

विदेश कार्यालय के नागरिकों का एक बड़ा स्टाफ भी विदेश सचिव की सहायता करता है। स्थायी अवर सचिव एक वरिष्ठ नागरिक सेवक होता है। सरकार में होने वाले परिवर्तनों का उसके पद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार विदेश नीति से सम्बंधित मामलों में एक तरह से निरन्तरता बनी रहती है। स्थायी अवर सचिव विदेश सचिव का प्रमुख नीति सम्बंधी परामर्शदाता होता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उसे देश की नीति एवं विदेश सम्बन्धों का व्यापक ज्ञान होना जरूरी है। उसे सामयिक घटनाओं एवं कूटनीतिक व्यवहारों का निकट से ज्ञान होना चाहिए स्थायी अवर सचिव का यह कर्तव्य माना जाता है कि वह प्रत्येक ऐसे कार्य के प्रति विदेश सचिव को सजग कर दे जो कि देश की ऐतिहासिक नीतियों से भिन्न हैं अथवा जिनको करने से विशेषज्ञों के मतानुसार देश कठिनाई में पड़ सकता है। स्थायी अवर सचिव के प्रशासकीय नियंत्रण के आधीन उपसचिव, सहायक सचिव, सभाग के अध्यक्ष आदि होते हैं। स्थायी अवर सचिव का पद एक ऐसा पद है जो कि विदेश सेवा के प्रायः सभी अधिकारियों की महत्वाकांक्षा का विषय होता है।

नीति एवं नीति निर्माताओं पर संसदीय नियंत्रण
[Parliamentary Control over Policy and Policy Makers]

ग्रेट ब्रिटेन की संसद विदेश नीति के संचालन में महत्वपूर्ण योगदान करती है। सरकार की नीति का समर्थन करने के लिए इसके द्वारा कानून बनाये जाते हैं तथा यह उन नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करती है। वैसे अमेरिकी कांग्रेस की भांति इसे विदेश व्यापार को नियमित करने तथा सन्धियों को स्वीकृति प्रदान करने की सांवैधानिक शक्तियां नहीं हैं। ब्रिटेन में संसद की अपेक्षा मंत्री-मंण्डल द्वारा युद्ध की घोषणा की जाती है किन्तु फिर भी यह सम्बन्धी कार्यवाही को संचालित करने के लिए संसद के कानून की आवश्यकता पड़ेगी। संसद का मुख्य योगदान यह है कि यह एक ऐसे स्रोत का कार्य करती है जहां से सरकार के नेताओं का चयन किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसे मंच का कार्य करती है जहां पर कि सरकार की नीतियों एवं कार्यों की छानबीन की जाती है, आलोचना की जाती है, समर्थन किया जाता है; इन्हें जनता के लिए विदित बनाया जाता है तथा स्वयं सरकार का समर्थन किया जाता है अथवा उसे पदविमुक्त किया जाता है।

संसद में स्पष्ट बहुमत एवं सुअनुशासित दल से संयुक्त एक सरकार यह जानती है कि वह नीतियों का संचालन करने के लिए केवल तभी तक स्वतंत्र है जब तक कि उसको संसद में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त है। सरकार की नीति एवं प्रशासन की आलोचना एक सुसंगठित विरोधी दल के नेताओं द्वारा की जाती है। ये नेता भावी मंत्रीमण्डल होते है तथा कुछ समय पूर्व प्राप्त सूचना के आधार पर ही मंत्रीमण्डल बना लेते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार के लोक हित एवं जनमत के प्रति सदैव सजग रहना होता है।

जब संसद में सरकार के साथ केवल किनारे का ही बहुमत रहता है तो प्रधान मंत्री को विवादपूर्ण नीति एवं कार्यक्रमों के सम्बंध में जागरूक रहना पड़ता है। हेरल्ड विलसन की लेवर सरकार के पास १९६४–६६ के दौरान ऐसा ही बहुमत था। अतः विलसन ने इस काल में अपने दल की एक परम्परागत नीति अर्थात स्टील का राष्ट्रीयकरण को मान्यता देने से मना कर दिया। इसके अतिरिक्त वह रोडेशिया संकट पर भी कदम फूंक–फूंक कर चला।

जिस सरकार के पीछे स्पष्ट बहुमत होता है उसे विरोधी दल द्वारा मतदान के आधार पर नहीं हराया जा सकता। किन्तु फिर भी यदि विरोधी दल के प्रवक्ता लगातार विरोध करते रहें तो इससे सरकारी नीति की कमजोरी झलकती है, प्रशासन की गड़बड़ी सामने आती है तथा महत्वपूर्ण मसलों पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। नीति में निहित खतरों के प्रति विरोधी दल देश को उभाड़ सकता है। इसी दृष्टि से संसदीय सरकार विदेश नीति के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान करती है।

कभी-कभी विदेश नीति के किसी मसले पर संसद में लगातार वाद विवाद होता रहता है। कई अवसरों पर विरोधी दल सरकार की नीति का समर्थन करते हैं। इस समर्थन के पीछे यह मान्यता रहती है कि संकट के समय राजनीति को रूक जाना चाहिए। किन्तु फिर भी यह अंदेशा तो हमेशा ही रहता है कि विरोधी दल कभी भी नीति सम्बंधी प्रश्न को वादविवाद के लिए ले आये। यदि सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया गया तो उसे त्याग पत्र देना पड़ेगा। इसके विपरीत सरकार भी अपने प्रति विश्वास का प्रस्ताव ला सकती है और यदि सदन ने इसकी नीतियों एवं प्रशासन के प्रति बहुमत से विश्वास प्रकट किया तो इससे सरकार का उत्साह, मोरेल एवं राजनैतिक सम्मान बढ़ जायेगा। ग्रेट ब्रिटेन में वास्तविक शक्तियां केवल कामन्स सभा के पास है। लार्ड सभा के पास विरोध की शक्ति बहुत थोड़ी है क्योंकि वह सरकार को अपदस्थ नहीं कर सकती और न ही व्यवस्थापन को अनिश्चित समय के लिए रोक सकती है। लार्ड सभा में की गई बहस का एक यह महत्व हो सकता है कि इसके द्वारा राष्ट्रीय स्थिति या नीति से सम्बंधित महत्वपूर्ण पहलू प्रकाश में लाये जायें।

राजनैतिक दल एवं नीति
(Political Parties and the Policy)

ग्रेट ब्रिटेन में द्विदलीय व्यवस्था है। यहां कन्जरवेटिव तथा लेबर

–ये दो दल प्रमुख हैं। इन दोनों दलों के बीच कुछ बातों पर सहमति है। उदाहरण के लिए पश्चिमी प्रजातन्त्रों को साम्यवादी रूप से खतरा है इस प्रश्न पर दोनों दलों के बीच थोड़ा ही अन्तर है। यद्यपि यह सच है कि कन्जरवेटिव दल द्वारा साम्यवादी आक्रमण का व्यापक रूप से विरोध किया जाता है किन्तु लेबर पार्टी भी इस दृष्टि से विरोधी रुख नहीं अपनाती। क्लीमेन्ट एटली (Clement Attlee) की लेबर सरकार ने नाटो में शामिल होना स्वीकार किया तथा शस्त्रीकरण के लिए एक व्यापक कार्यक्रम अपनाया।

दोनों दलों के बीच इस बात पर भी सहमति है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ विशेष सम्बन्ध रखे जायें और नाटो की शक्तियों के साथ भाग लिया जाये। कन्जरवेटिव नाटो के प्रमुख समर्थक हैं। यद्यपि मिस्र में स्वेज नहर विवाद के समय इनके सम्बन्धों में एक दरार सी आ गई थी किन्तु तो भी इस दल द्वारा अमेरिकी नीतियों का सामान्य रूप से समर्थन किया गया। लेबर पार्टी के नेता हेरल्ड विलसन, डेनिस हेले (Denis Healey) तथा माइकेल स्टीवार्ट (Michael Stewart) आदि ने नाटो को समाप्त करने से सम्बन्धित बातों का बहिष्कार किया और उनको खतरनाक बताया। अपने दल के कुछ नेताओं की राय न होने पर भी विलसन ने वियतनाम में संयुक्त राज्य अमेरिका का समर्थन किया है।

दोनों दल साम्यवादी गुट के साथ बढ़ते हुए तनाव को कम करना चाहते हैं। इसके लिए वह अपनी जनता को पूर्व और पश्चिम के बीच समझौते की वार्ता के लिए समझाते हैं। दोनों ही दल अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ को कम करना चाहते हैं। लेबर सरकार तो क्षेत्रीय निःशस्त्रीकरण योजनाओं में भी पर्याप्त रुचि लेती है। जर्मनी के सम्बन्ध में दोनों दलों का यह विचार है कि बर्लिन पर अधिकार नहीं रखा जाना चाहिए। कन्जरवेटिव इस बात पर जोर देते हैं कि एकीकृत जर्मनी को नाटो के माध्यम से पश्चिम का मित्र बनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए जबकि लेबर पार्टी के नेता जर्मनी के एकीकरण को उसकी तटस्थता के साथ जोड़ देते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन के साधन स्रोत सीमित हो गये और इसलिए उसकी विदेश नीति पर एक मर्यादा लग गई। आज दोनों ही दल यह चाहते हैं कि ग्रेट ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वही खोया हुआ स्तर प्राप्त हो जाये।

ग्रेट ब्रिटेन के दोनों प्रमुख दलों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर बहुत कुछ सहमति होने का अर्थ यह नहीं है कि उनके बीच किसी प्रकार का मतभेद ही न हो। सहमति के क्षेत्र के अतिरिक्त दोनों दलों के बीच अनेक महत्वपूर्ण असमानतायें भी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के कारणों के सम्बन्ध में दोनों के अलग-अलग तर्क हैं। लेबर पार्टी की विदेश नीति फेबियन समाजवादी विचारधारा पर आधित है। वे यह मानते हैं कि सार्वभौमिक कल्याण एवं

सामाजिक समानता की स्थापना करके अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को कम किया जा सकता है। यही कारण है कि वे अर्ध-विकसित देशों का स्तर ऊंचा उठाने पर तथा विदेश नीति पर अधिक जोर देते हैं। दूसरी ओर कन्जरवेटिव इस विश्वास को ठुकरा देते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का कारण सामाजिक या आर्थिक असमानता है। ये शक्ति के लिए संघर्ष पर अधिक जोर देते हैं तथा इसी को अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का मुख्य कारण मानते हैं। यद्यपि कन्जरवेटिव नेताओं का सम्बन्ध सुरक्षा एवं कूटनीति से अधिक रहा है किन्तु फिर भी उनका दल आर्थिक सहायता को नीति की एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण तकनीक नहीं मानता।

दोनों दलों के बीच अन्तर का दूसरा क्षेत्र संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति उनका दृष्टिकोण है। लेबर पार्टी इस विश्व संगठन को एक ऐसी संस्था मानती है जिसके सहारे राष्ट्रीय नीतियों को सचालित किया जा सकता है। दूसरी ओर कन्जरवेटिव पार्टी संयुक्त राष्ट्र संघ की उपयोगिता में कम विश्वास करती है। वह इसे अनेक साधनों में से एक मानती है तथा कूटनीति की परम्परागत तकनीकों एवं राष्ट्रीय हित की मान्यताओं पर अधिक जोर देती है।

विकासशील देशों के प्रति दोनों दलों का दृष्टिकोण एक जैसा नहीं है। कन्जरवेटिव पार्टी द्वारा अफ्रीका के कई स्वतन्त्रता आन्दोलनों की सहायता की गई है तो भी लेबर पार्टी द्वारा उस पर यह दोष लगाया जाता है कि यह अभी भी उपनिवेशवादी नीतियों को अपना रही है। दोनों दलों के बीच का अन्तर मूलतः स्वतन्त्रता बनाम साम्राज्यवाद के ऊपर नहीं है वरन् यह तो विश्व शक्ति संतुलन के सम्भावित विकास के अनुमान के ऊपर है।

जहां तक राष्ट्रमण्डल के सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रश्न है, दोनों ही दल इसका समर्थन करते हैं। यदि तुलनात्मक रूप से देखा जाये तो ज्ञात होगा कि दोनों दलों के बीच सहमति का क्षेत्र विरोध के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक है। दोनों के बीच की भिन्नतायें मुख्य रूप से समय, तकनीकी, प्रक्रिया की पसन्द, तथा सहयोग एवं विरोध की मात्राओं के ऊपर है।

जनमत और विदेश नीति
(Public Opinion and Foreign Policy)

प्रत्येक प्रजातन्त्रात्मक सरकार की भांति ब्रिटिश सरकार भी जनमत के प्रति उत्तरदायी है। पेडिलफोर्ड तथा लिंकन (Padelford and Lincoln) का यह कहना सच है कि "सरकार को विदेश नीति का व्यवहार उन सहनीय सीमाओं में करना चाहिए जो कि जनता को स्वीकार्य होंगी।"[1] जहां कहीं जनमत अस्पष्ट हो अथवा असमंजस में हो वहां सरकार द्वारा नेतृत्व

1. "The Government must oonduct foreign policy within the tolerable iimits of what the public will accept."
—*Padelford and Lincoln*, op cit., p. 260.

प्रदान किया जा सकता है। सरकार जनता की मर्जी से भिन्न व्यवहार भी कर सकती है किन्तु आगे चल कर उसे या तो जनता का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहिए अथवा अगले चुनावों में हार जाने का खतरा रहता है।

जनमत की भावनायें कई एक आवश्यकताओं के प्रति सामान्य रूप से सचेत रहती हैं उदाहरण के लिए भोजन एवं कच्चे माल का आयात करने के लिए समुद्री मार्गों को खुला रखने की आवश्यकता तथा ब्रिटिश उत्पादन की खपत के लिए विश्व बाजार सुरक्षित रखने की आवश्यकता आदि। ब्रिटिश जनता यूरेशियन भूमि पर शक्ति संतुलन बनाये रखना चाहती है और इसके लिए नाटो के माध्यम से सोवियत प्रसार को रोकने का समर्थन करती है। जब से ग्रेट ब्रिटेन को अणु-आक्रमण का खतरा हुआ तब से वहां की जनता विश्व शान्ति की स्थापना के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने के लिए समझौता वार्ताओं को महत्व देने लगी है। इसके अतिरिक्त यह विश्वास किया जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन को अपनी शक्ति एवं प्रभाव का प्रयोग करके एक ऐसे जगत की रचना का प्रयास करना चाहिए जहां कि स्वतन्त्र राष्ट्रों की सुरक्षा प्राप्त हो और कानून का शासन स्थापित हो। ये सभी मूल्य ही ग्रेट ब्रिटेन के राष्ट्रीय हित को बनाने में योगदान करते हैं। सरकारें बदलती रहें चाहे राजनैतिक दल बदलते रहें किन्तु इन मूल्यों तथा आकांक्षाओं के आधार पर जनमत की राय निरन्तर एक जैसी ही रहेगी और प्रत्येक दूरदर्शी सरकार को जनमत की राय का सम्मान करना होगा।

विदेश नीति का व्यावहारिक पहलू
(The Practical Aspect of Foreign Policy)

वर्तमान विश्व की राजनीति में दो महाशक्तियों के अतिरिक्त शक्ति स्तर पर जिसका स्थान है वह निश्चय ही ग्रेट ब्रिटेन है। मध्यकाल से ही इस देश की विदेश नीति दो प्रमुख लक्ष्यों की ओर संचालित की गई है वे हैं– (i) अपनी नौ सेना को पूरी तरह शक्तिशाली बनाना और उसके आधार पर समुद्रों को अपने अधिकार में रखना तथा (ii) योरोप के देशों के बीच शक्ति संतुलन बनाये रखना। इसके लिए ग्रेट ब्रिटेन का यह हर सम्भव प्रयास रहता था कि वह किसी भी देश की शक्ति को अधिक ऊंचा न होने दे; यदि ऐसा हो भी जाय तो विभिन्न सैनिक समझौतों एव सन्धि संगठनों द्वारा उसे नीचा दिखा दे। इन लक्ष्यों की प्रेरणा ब्रिटिश विदेश नीति ने अपने देश की भौगोलिक स्थिति से ग्रहण की है। चारों ओर से समुद्रों से घिरा हुआ एक देश जिसका साम्राज्य सारी वसुन्धरा पर फैला हुआ था यदि अपनी जल शक्ति के विकास पर अधिक ध्यान देता है तो यह स्वाभाविक ही है। ग्रेट ब्रिटेन यह कभी भी पसन्द नहीं करता था कि कोई उसकी नौ सेना को चुनौती दे। सर आयर क्रोव (Sir Eyre Crowe) के विचार से "ब्रिटिश विदेश नीति की सामान्य विशेषतायें योरोप के समुद्री स्तर पर एक प्रायद्वीप के रूप में उसकी भौगोलिक स्थिति की अपरिहार्य परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है।" इसके समुद्र पार पर्याप्त विस्तृत उपनिवेश तथा अधिराज्य थे जिनका अस्तित्व एवं जीवन प्रभावशाली नौ सेना पर आधारित था।

अपने राष्ट्रीय हित से प्रभावित होकर ब्रिटेन ने जो नीति अपनाई उसके फलस्वरूप वह कमजोर राष्ट्रों का संरक्षक तथा राज्यों की स्वतन्त्रता का रक्षक बन गया ताकि उनके बीच सन्तुलन बना रहे। अपने हितों से प्रभावित होकर ही वह बड़ी मात्रा में व्यापार की स्वतन्त्रता का समर्थक बना ताकि देशों के बीच संतुलन रहे। इस प्रकार पामर तथा परकिन्स के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "भूगोल, नौ सेना, व्यापार, शक्ति संतुलन एव साम्राज्यवादी हित ब्रिटेन की परम्परावादी विदेश नीति के परम्परागत आधार रहे हैं तथा पिछली कुछ शताब्दियों का प्रत्येक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इनके प्रति सजग रहा है।"[1] कुल मिलाकर आज तक विश्व रंगमंच पर ब्रिठिश कूटनीतियों द्वारा जिस कुशलता से व्यवहार किया गया है उसका मूल लक्ष्य यही सब तत्व रहे हैं। आज के युग में यद्यपि अनेक प्रभावशील परिवर्तनों के कारण विश्व राजनीति का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है तो भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये परम्परावादी उद्देश्य आज भी ब्रिटिश विदेश नीति का लक्ष्य हैं। आज भी खुले-समुद्र का ब्रिटिश व्यापार में उतना ही महत्व है जितना कि पहले कभी रहा था। 'व्यापार' ब्रिटेन का जीवन रक्त है और यही कारण है कि व्यापार का विकास एवं सुरक्षा हमेशा ही ब्रिटिश विदेश नीति का प्रमुख पहलू रहा है।

यह कहा जाता है कि ब्रिटेन के न तो स्थाई शत्रु हैं और न स्थायी मित्र ही, वरन् उसके कुछ स्थाई स्वार्थ अथवा हित हैं। इन हितों की साधना में जो भी देश सहायक होता है वही उसका मित्र बन जाता है तथा जो विरोध करता है वह उसका शत्रु हो जाता है। ब्रिटेन के राष्ट्रीय हित ने ही उसे प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली का समर्थन करने, निरंकुश एवं अबैध शासन का विरोध करने, समुद्रों को स्वतन्त्र बनाने, ब्रिटिश नहर के सामने के किसी प्रदेश में किसी शक्ति को प्रभावशाली न होने देने तथा इस प्रदेश के बेल्जियम, हालैण्ड आदि देशों को तटस्थ बनाये रखने के लिए प्रेरित किया। प्रथम विश्व युद्ध तक ब्रिटेन विश्व की सबसे बड़ी शक्ति था किन्तु इसके बाद अनेक परिवर्तनों के कारण ब्रिटेन अपने उपनिवेशों पर अधिक निर्भर रहने लगा। आर्थिक कारणों से वह अमरीका के साथ मैत्री रखने को बाध्य हो गया। अब वह अपने व्यापार का विकास केवल तभी कर सकता था जबकि विश्व व्यापार भी साथ-साथ विकसित हो, इसके अतिरिक्त व्यापारिक दृष्टियों से विश्वशांति का महत्व उसके लिए बहुत बढ़ चुका था। युद्ध के परिणामस्वरूप यहां की अर्थ-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो चुकी थी अतः आर्थिक पुनर्निमाण की आवश्यकता पड़ी। इन सभी कारणों से ब्रिटेन की विदेश नीति में कुछ परिवर्तन आये। प्रथम विश्व युद्ध के बाद की ब्रिटिश विदेश नीति को प्रायः तुष्टीकरण की नीति (Policy of apeasement) कहा जाता है क्योंकि इसका प्रमुख उद्देश्य

1. "Geography, seapower, trade, balance of power, imperial interests—these have been the traditional bases of British foreign policy. and every British statesman of the past few centuries has been conscious of them."
—*Palmer and Perkins*, International Relations, P. 732

जर्मनी, जापान, इटली आदि असन्तुष्ट राष्ट्रों को उनकी मांगों को पूरी करते हुए संतुष्ट रखना और इस प्रकार संसार में शांति बनाये रखना था। सन् १९१९ से १९३९ तक के समय में ब्रिटेन इस नीति का पालन करता रहा।

शक्ति संतुलन की नीति
(Balance of Power Policy)

योरोप की यह परम्परागत नीति रही है कि योरोप में किसी एक राज्य को इतना शक्तिशाली न बनने दिया जाय जो कि उसके साम्राज्य के लिए एक गम्भीर खतरा बन जाये। यदि उसे लगता है कि कोई एक राष्ट्र इस प्रकार से शक्ति सम्पन्न होता जा रहा है तो वह उसके विरुद्ध संगठन बनाना प्रारम्भ कर देता है ताकि उस राज्य की शक्ति क्षीण हो जाय। इस प्रकार विश्व राजनीति की तराजू के दोनों पलड़ों के बीच वह सन्तुलन बनाये रखता है। यदि एक पलड़े का भार अधिक प्रतीत हो तो दूसरे पलड़े में राज्यों को रखकर शक्ति संतुलन की स्थापना कर देता है। नेपोलियन के फ्रांस तथा हिटलर के जर्मनी ने जब शक्ति के सन्तुलन को चुनौती दी तो ब्रिटेन ने इस चुनौती का उत्तर दिया। इस प्रकार यदि कहा जाय कि हेनरी सप्तम और कार्डिनल वूल्जे (Cardinal Wolsey) से लेकर आज तक ब्रिटिश विदेश नीति का केन्द्रीय लक्ष्य योरोप पर किसी एक शक्ति के आधिपत्य को रोकना रहा है तो अतिशयोक्ति न होगी। संतुलन स्थापित करने के लिए ही ब्रिटेन ने कई बार योरोप की राजनीति में हस्तक्षेप किया और कई कमजोर राष्ट्रों को मिलाकर उनको एक शक्ति बनाने का यत्न किया है। एक बार विन्स्टन चर्चिल ने कहा था कि "चार सौ वर्षों से ब्रिटेन की विदेश नीति यह रही है कि महाद्वीप की सबसे अधिक शक्तिशाली, आक्रमणकारी तथा सत्ताधारी शक्ति का विरोध किया जाये ताकि छोटे देशों को इन शक्तियों के हाथों में पड़ने से रोका जा सके।"[1] शक्ति सन्तुलन की नीति का अनुसरण करते हुए ग्रेट ब्रिटेन ने उस राष्ट्र की ओर संदेह भरी दृष्टि से सजग होकर देखा है जो कि योरोप के सन्तुलन को चुनौती देने की सामर्थ्य रखता हो। इस दृष्टि से ब्रिटिश विदेश नीति घटनाओं से उत्पन्न परिस्थितियों, पसन्द या नापसन्द अथवा अन्य इसी प्रकार के भावों से प्रभावित नहीं होती। जर्मनी में चाहे किसी भी व्यक्ति का शासन हो या शासन-व्यवस्था का कोई भी रूप अपनाया जा रहा हो ब्रिटेन और जर्मनी के सम्बन्धों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह तो केवल इसी तथ्य में रुचि लेता है कि कौन सर्वाधिक शक्तिशाली है तथा कौन विश्व राजनीति में तानाशाह बन सकता है। राष्ट्रीय हित पर आधारित इस विदेशी

1. "For four hundred years the foreign policy of England has been to oppose the strongest, most aggressive, most dominating power on the continent, and particularly to prevent the low countries falling into the hands of such a power."

—*Sir Winston Churchill*, in his address to the Conservative Members Committee on foreign Affairs, March, 1936.

नीति के शत्रु एवं मित्र परिस्थितियों के साथ-साथ बदलते हैं। चर्चिल के शब्दों में "हम पर फ्रांस समर्थक तथा जर्मन विरोधी होने का आरोप नहीं लगाना चाहिये। यदि परिस्थितियां विरोधी हो तो हम इसी प्रकार से जर्मन समर्थक एवं फ्रांस विरोधी हो सकते थे।"[1] नेपोलियन के समय जो फ्रांस इंगलैण्ड का प्रधान शत्रु था वह विलियम कैसर और हिटलर के समय जर्मनी का उत्कर्ष होने पर उसका घनिष्ठ मित्र बन गया। बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों एवं फ्रांसीसियों ने कई बार समान कारणों के अपना रक्त बहाया है।

शक्ति संतुलन की नीति के स्वर्णिम काल में ग्रेट ब्रिटेन योरोपीय शक्ति राजनीति का सक्रिय भागीदार न था वरन् वह सन्तुलन रखने वाला (The holder of the balance) था। किन्तु आज ब्रिटेन के हाथों में संतुलन-कर्त्ता का कार्य नहीं है और वर्तमान विश्व राजनीति में उन लोगों के लिए बहुत कम आशायें हैं जो कि पुरानी व्यवस्था को बचाये रखना चाहते हैं। पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं विश्व राजनीति मुख्यतः योरोप महाद्वीप तक ही सीमित थे किन्तु आज इनका क्षेत्र विश्व-व्यापी बन गया है। विश्व के अन्य महाद्वीपों की ओर से आंखें बन्द करके केवल योरोप में ही शक्ति संतुलन की स्थापना करना एक असफल एवं प्रभावहीन प्रयास सिद्ध होगा। किन्तु दूसरी ओर विश्वव्यापी स्तर पर शक्ति संतुलन की नीति का व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त योरोप में शक्ति संतुलन पूरी तरह से नष्ट हो चुका है; आज यहां ऐसा कोई राज्य अथवा राज्यों का संघ नहीं रहा है जिसके साथ सन्धिबद्ध होकर ब्रिटेन संतुलन को बनाये रख सके। चर्चिल का कहना था कि "यदि हम संयुक्त राज्य अमरीका को ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मिला दें, यदि हम सम्भावित आक्रमणकारी का नाम बदल दें, यदि हम राष्ट्र संघ को संयुक्त राष्ट्र संघ में बदल दें, यदि ब्रिटिश नहर को अटलाण्टिक सागर मान लें तथा विश्व को योरोप बना दें तो यह आवश्यक नहीं कि इस तर्क को आज अव्यावहारिक कहा जा सके।"[2] किन्तु ये परिवर्तन पूर्णतः असम्भव कल्पनायें हैं अतः शक्ति संतुलन भी आज अवास्तविकता बन चुका है।

---

1. "Therefore, we should not be accused of being pro-French or anti-German. If the circumstances reversed, we could equally be pre-German and anti-French."
   —*Sir Winston Churchill*, edited in Principles and problems of International Politics edited by Morgenthau and Thompson, 1952, P. 262

2. "If we add the United States to Britain and France; if we change the name of the potential aggressor; if we substitute the United Nations Organisation for the League of Nations the Atlantic Ocean for the English Channel, and the world for Europe the argument is not necessarily without its application today."
   —*Churchill*, Ibid, P. 264

ब्रिटिश विदेश नीति एवं वर्तमान विश्व-राजनीति
(The British foreign Policy and modern world Politics)

अपने विस्तृत साम्राज्य की रक्षा करना एवं योरोप में शक्ति संतुलन की स्थापना करना ब्रिटिश विदेश नीति की दो परम्परागत विशेषतायें रही हैं। वर्तमान विश्व राजनीति में ब्रिटेन के पास न तो बड़ा साम्राज्य ही रहा है और न अब शक्ति संतुलन के उपयुक्त परिस्थितियां ही कायम हैं। अत ये दोनों विशेषतायें अपने परम्परागत रूप में अतीत की गाथायें बन चुकी हैं। ब्रिटेन की शक्ति भी निरन्तर ह्रासोन्मुख होती जा रही है। इस परिवर्तन के प्रमुख कारण इस प्रकार के हैं जिन पर ब्रिटेन का बहुत कम नियंत्रण है। तकनीकी विकासों के कारण उसकी नौ सेना की सर्वोच्चता एवं अनेक औद्योगिक लाभों को कम कर दिया है। संयुक्त अमरीका एव जापान का उदय, बिस्मार्क के आधीन जर्मनी का एकीकरण तथा बाद में फ्रांस एव रूस का शक्ति-सम्पन्न होना कुछ ऐसे विकास थे जिनके प्रभाव से ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति एवं प्रभाव क्रमिक रूप से घटने प्रारम्भ हो गये। सन् १९४५के बाद ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह ज्ञान हो गया कि उनकी शक्ति अब घट रही थी। नवीन परिवर्तनों के सदर्भ में ब्रिटेन की विदेश नीति के प्राय: सभी मूल आधारों पर करारी चोटें हुई। वे क्रमश: बहुत कमजोर बनते चले गये। कोयला, फौलाद एवं कपड़े के मूल उद्योग जिनके कारण ब्रिटेन दुनियां का कारखाना बन गया था अपनी सर्वोच्चता खो चुके थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सन् १९५१ में जब कंजर्वेटिव दल की सरकार बनी तो ब्रिटेन ने योरोपीय मामलों में सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया तथा पश्चिमी योरोप के देशों के साथ एक सीमित रूप में ही सहयोग किया। पश्चिमी योरोप की वास्तविक एकता के लिए संगठन बनाने की प्राय: सभी योजनाओं को इसने अस्वीकार किया। वैसे युद्धोपरान्त के समय में ब्रिटेन ने योरोप के देशों के साथ आर्थिक, सैनिक एवं कुछ मात्रा में राजनैतिक घनिष्ठता से युक्त कार्य किया है। पश्चिमी योरोप के संघ बनाने के विचार का उसने सदा ही विरोध किया है। यद्यपि उसका यह विश्वास है कि इन देशों की सरकारों को परस्पर सहयोग से काम लेना चाहिए। इसी कारण उसने ब्रूसेल्स सन्धि तथा योरोपीय आर्थिक सहयोग के लिए संगठन का समर्थन किया है तथा योरोप की परिषद (Council of Europe) और शूमां योजना आदि के प्रति उदासीन तथा विरोधी सा दृष्टिकोण अपनाया।

चर्चिल ने कई बार कहा था कि "ब्रिटेन की एक संघात्मक योरोपीय व्यवस्था में शामिल होने की तनिक भी इच्छा नहीं है। हम उनके साथ हैं उनके नहीं हैं।"[1] अमरीका में ब्रिटिश राजदूत पॉल हाफमेन

1. "Britain had no intention to be merged in a Federal European system.—We are with them, not of them."
—*Sir Winston Churchill*

(G.Hoffman) का विचार है कि ब्रिटिश सरकार की नीति दूसरे पश्चिमी योरोपीय देशों के साथ सहयोग करने की है, वह योरोप की एकता के लिए उनके साथ काम करना चाहता है। पश्चिमी योरोप के राजनैतिक संघ के प्रस्ताव पर विचार प्रकट करते हुए सुप्रसिद्ध ब्रिटिश अर्थशास्त्री रॉबिन्स (Robbins) ने लिखा है कि "यह स्पष्ट रूप से कह देना आवश्यक है कि वह हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारे दृष्टिकोण से अनेक पहलू ऐसे हैं जो इसे न केवल कठिन वरन् पूरी तरह से अवांछित बना देते हैं।"[1] प्रो० रॉबिन्स (Robbins) का मत है कि "उत्तरी अटलाण्टिक सन्धि संगठन (NATO) में ब्रिटेन अपने वर्तमान सम्पर्कों के टूटने का भय किये बिना ही पूरी तरह से सहयोग प्रदान कर सकता है। यह एक इस प्रकार का सामूहीकरण है जिसके द्वारा सदियों पुरानी जर्मनी की समस्या को सुलझाना सम्भव बन सकता है।" पामर तथा परकिन्स के शब्दों में "नाटो इस प्रकार का सहयोग प्रदान करता है जिसमें कि अंग्रेजों का विश्वास है कि वे किसी बड़े बन्धन के बिना ही भाग ले सकते हैं।"[2] इस संगठन में ब्रिटेन बिना अपनी सम्प्रभुता को सीमित किये ही भारी सहयोग की दिशा में कार्य कर सकता है। ब्रिटेन के राष्ट्रमंडल के प्रति उत्तरदायित्वों के साथ इसका विरोध नहीं है।

बड़ी शक्तियों के साथ ब्रिटेन के सम्बन्ध
(Great Britain and the Great Powers)

ब्रिटेन कभी विश्व राजनीति में सबसे बड़ी शक्ति था और आज भी यद्यपि उसका पूर्व स्तर तो नहीं रहा है फिर भी रूस तथा अमरीका के बाद शक्तिशाली एवं प्रभावशील देश उसी को माना जा सकता है। योरोप एवं उससे बाहर के बड़े देशों के साथ उसके सम्बन्धों का इतिहास मित्रता, सहयोग तथा विरोध एव वैमनस्य से भरा हुआ है। जर्मनी तथा फ्रांस उसके निकट के पड़ोसी हैं। जर्मनी में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जिन चार शक्तियों का अधिकार हुआ उनमें से एक ग्रेट ब्रिटेन भी है। पश्चिमी जर्मनी में अपने भाग का शासन चलाते समय उसने फ्रांस तथा अमरीका के साथ पूरा-पूरा सहयोग किया है। मित्र राष्ट्रों की नियन्त्रण परिषद (Allied Control Council) और बर्लिन कोमन्डातुर (Kommandatura) की रचना, रूस के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना एवं पश्चिमी जर्मन राज्य की स्थापना की ओर उठाये गये सभी कदमों का ब्रिटेन ने समर्थन किया है।

---

1. "It is necessary to say with the utmost frankness that is not our goal. that from our point of view there are weighty considerations which render it not merely difficult but positively undesirable."
   —*Lionel Robbins*, "Towards the Atlantic Community", Lloyds Bank Review, New Series, No. 17 (July, 1950) P. 8.
2. "The North Atlantic Treaty organisation provides the kind of collaboration in which the British believe they can participate without major reservations."
   —*Palmer and Perkins*, op. cit., P p. 738-9

क्षति-पूर्ति, उद्योगों के स्तर, जर्मनी के निःशस्त्रीकरण आदि विषयों पर उसने फ्रांस की अपेक्षा कम कठोर दृष्टिकोण अपनाया है। वैसे पश्चिमी जर्मनी के समस्त मूल निर्णय प्रायः तीनों शक्तियों के एकमत द्वारा लिए गये हैं। ब्रिटेन ने संघात्मक गणतन्त्र को एक संघीय राज्य बनाने में पूरा सहयोग दिया है तथा वह चाहता है कि जर्मनी का एकीकरण कर दिया जाये। फ्रांस तथा ब्रिटेन के सम्बन्धों में युद्ध के दौरान तथा उसके बाद मनमुटाव पैदा करने वाले अनेक तत्व पैदा हुए। ब्रिटेन का सैद्धान्तिक राष्ट्रवाद फ्रांसीसियों द्वारा संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। उनका मत है कि जर्मनी में ब्रिटेन जो नीति अपना रहा है वह गलत है और इससे स्पष्ट है कि वह जर्मनी से उत्पन्न खतरों को पहचान नहीं पाया है। ब्रिटेन की आर्थिक एवं व्यापारिक नीतियों का फ्रांस पर प्रायः उल्टा प्रभाव पड़ता है। पश्चिमी योरोप के एकीकरण पर ब्रिटिश अधिकारियों का जो दृष्टिकोण है वह भी फ्रांस के मन में ब्रिटेन के प्रति अविश्वास पैदा करने का कारण बना है। फ्रांस के अधिकारियों का विचार है कि ब्रिटिश प्रतिनिधि को शामिल किये बिना ही ऐसे संघ का एक प्रारूप तैयार कर लिया जाय जिसे ब्रिटेन स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार की नीति से दोनों देशों के बीच गहरी खाई पैदा हुई है।

सोवियत रूस एवं संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की दो महान शक्तियां हैं। इनके साथ ब्रिटेन के सम्बन्ध भिन्न-भिन्न रहे हैं। युद्ध के बाद सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन की नीति यथार्थवादी रही है। उसने इस प्रकार से व्यवहार किया था कि पश्चिम के साथ रूस का सहयोग सम्भव बन सके। ब्रिटेन के अनेक विचारकों ने रूस के प्रति अमरीका के दृष्टिकोण एवं व्यवहार की आलोचना की। ब्रिटेन के कन्जर्वेटिव दल तथा मजदूर दल दोनों ही इस बात पर एकमत थे कि सोवियत संघ एवं अन्य साम्यवादी शासनों के प्रति सहयोग-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पूरा प्रयास करना चाहिए। यही कारण है कि ब्रिटेन ने सोवियत संघ तथा उसके गुट के अन्य देशों के साथ विस्तृत व्यापार बनाये रखने की नीति अपनायी। संयुक्त राज्य अमरीका के साथ युद्ध के बाद से ही ब्रिटेन ने घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया है। दोनों के बीच गहरे बन्धन हैं। एक बार चर्चिल ने कहा था कि 'हमारे अस्तित्व की सम्पूर्ण नींव संयुक्त राज्य अमरीका के साथ सन्धि, मित्रता तथा बढ़ती हुई भाईचारे की भावना पर आधारित है।"[1] अमरीका तथा ब्रिटेन के सम्बन्धों का आधार दोनों देशों की समान नीतियां एवं परम्परायें, समान भाषा, समान शत्रु तथा समान राष्ट्रीय हित हैं।

इन दोनों देशों के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहने पर भी दोनों कुछ प्रश्नों पर एक दूसरे की आलोचना भी करते हैं किन्तु यह आलोचना तथ्यों पर आधारित होती है न कि विरोध की भावना पर। विरोध करते समय

1. 'The whole foundation of our existence stands on the alliance and friendship, and, if I may say so an increasing sense of brotherhood, with the United States."

—*Churchill, Sir Winston.*

दोनों यह मान कर चलते हैं कि एक व्यक्ति अपने मित्र की आलोचना करने का अधिकार रखता हैं। दोनों देशों के बीच मतभेद के मुख्य आधार निम्न-लिखित हैं—

(१) जब अगस्त, १९४५ में झगड़े समाप्त हो गये तो अमरीका ने एकदम से लैन्ड-लीज (Land Lease) को बन्द कर दिया। इससे ब्रिटेन की अर्थनीति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

(२) ब्रिटेन में जो समाजवादी अन्दोलन चल रहा था और श्रमिक सरकार द्वारा जो नीतियां अपनायीं जा रही थी उनके प्रति अमरीका संदेहपूर्ण दृष्टि से देख रहा था।

(३) युद्ध के बाद ब्रिटेन विश्व राजनीति में निम्न स्तर पर आ गया। इस स्तर पर अपने आपको समायोजित करने में यहां के लोगों को भारी परेशानी अनुभव हुई। युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने अमरीका से भी अधिक बलिदान किये थे अतः वह आशा करता था कि इसका इतना फल भी उसे प्राप्त होना चाहिए।

(४) ब्रिटेन ने पश्चिमी योरोप के वास्तविक राजनैतिक एवं आर्थिक एकीकरण के प्रयासों का विरोध किया है। इस नीति को अनेक अमरीकी विद्वानों द्वारा आलोचना का विषय बनाया गया।

(५) ब्रिटेन रूस के प्रति अमरीका की नीति की सदैव आलोचना करता है। उसका विचार है कि साम्यवादी देशों के साथ अधिक से अधिक व्यापारिक सम्बन्ध रखने चाहिये तथा रूस एवं चीन के साथ समझौतापूर्ण रवैया अपनाना चाहिये। ब्रिटेन ने जनवरी, १९५० में ही चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने के विचार की घोषणा कर दी थी जबकि अमरीकी सरकार एवं अमेरिका लोकमत चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का समस्य बनाने का घोर विरोध कर रहा था।

(६) उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में अमेरिकी सरकार के रुख के प्रति भी ब्रिटेन असन्तुष्ट है। उसका मत है कि हिन्द-चीन, उत्तरी अफ्रीका आदि प्रदेशों में उनके लक्ष्यों एवं उपनिवेशी क्षेत्रों में विरोधों के प्रति अमेरिका का रुख विशेषतः सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा है।

(७) स्वेज नहर का सन् १९५६ में नासिर द्वारा राष्ट्रीयकरण किये जाने पर इन दोनों देशों द्वारा विरोधी नीतियां अपनायी गई। अमेरिका ने मिश्र की भूमि में ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी सेनाओं के प्रवेश का घोर विरोध किया। मध्यपूर्व विवाद के सम्बन्ध में भी मतभेद बना रहा।

(८) दोनों देशों के आर्थिक दर्शन एवं व्यापारिक तथा आर्थिक नीतियों में भारी अन्तर है। यह कहा जाता है कि ब्रिटिश अमेरिकी आर्थिक सम्बन्धों के प्रायः सभी तत्वों को मिश्र मतों से विशेषित किया गया है।

ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति जिस रूप में संचालित हो रही है उसका अध्ययन करने के बाद कुछ विचारक यह मत प्रकट करते हैं कि वह धीरे-धीरे संयुक्त राज्य अमेरिका का पिछलग्गू बनता जा रहा है। इस बात में कोई सदेह नहीं कि ब्रिटेन का अस्तित्व एवं विकास विशेष रूप से अमेरिकी मित्रता पर निर्भर करता है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर ब्रिटेन ने प्रायः वही रुख अपनाया है जो कि संयुक्त राज्य अमरीका का होता है। कई बार तो मिश्र-मामले की भांति अपनी इच्छा के विपरीत भी उसे अमेरिकी प्रभाव पर अमल करना पड़ा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में ब्रिटेन के प्रतिनिधि किसी प्रस्ताव का समर्थन या विरोध करने से पूर्व यह जान लेना पसन्द करते हैं कि अमरीका की उस पर क्या प्रतिक्रिया है। इन सभी तथ्यों के आधार पर जो लोग ब्रिटेन के स्वयं के व्यक्तित्व को घटता हुआ देखते हैं उनके बारे में ब्रिटिश नेताओं का मत विरोधी है। वे अब भी यह मानते हैं कि 'ब्रिटेन चाहे विश्व की सर्वोच्च शक्ति न हो किन्तु फिर भी वह एक बड़ी शक्ति (Great Power) अवश्य है तथा इसे विश्व-व्यापी रूप से सोचना पड़ता है।" उसके विश्व-व्यापी हित कभी-कभी आपस में टकरा भी जाते हैं फिर भी उसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की ओर प्रयास करना होता है। कुछ विचारकों के मत में आज भी उसका प्रमुख लक्ष्य अपनी पूर्व शक्ति एवं सम्मान को जहां तक सम्भव हो सके बनाये रखना है। वह अपने सीमित साधनों का प्रयोग वहां करता है जहां कि उसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ सके।

SUGGESTED READINGS

1. E. H. Carr, Britain: A Study of Foreign Policy from the Versailles Treaty to the Outbreak of the War, London, 1939.
2. Winston S. Churchill, The Second World War, 6 vols. Houghton Mifflin 1948-53.
3. Henry C. Allen, Great Britain and the United States, St Martin's Press, 1955.
4. M. A. Fitzsimons, The Foreign Policy of the British Labour Government, 1945-51, University of Notre Dame Press 1952.
5. Sir Oliver Franks, Britain and the Tide of World Affairs, Oxford University Press, 1955.
6. Nicholas Mansergh, The Commonwealth and the Nations; London, 1948.
7. T. E. M. Mc Kittrick, Conditions of British foreign Policy, London, 1951.
8. Rayner and Airey, Britain and Egypt, 1952.

---

groupings. It will undoubtedly continue to exert a major influence in the world affairs."

—*Palmer and Perkins* op. cit., P. 749

कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इस कम्पनी के बहुत से हिस्से ब्रिटेन की सरकार के थे। ब्रिटिश सरकार ने इस मामले में अपनी पूरी कूटनीति एवं चालबाजी से काम लिया। यह डर था कि यदि ईरान में सोवियत रूस की पक्षपाती सरकार कायम हो गई तो ब्रिटेन से उसके तेल का एक बहुत बड़ा स्रोत छिन जायगा। बहुत प्रयासों एवं अमेरिकी मध्यस्थताओं के बाद इस तेल विवाद पर अगस्त, १९५४ में समझौता हो गया। ईरान तथा ब्रिटेन और मिश्र तथा ब्रिटेन के विवादों पर समझौता हो जाने के बाद मध्य पूर्व में ब्रिटेन की स्थिति कुछ सुदृढ़ होने लगी तो भी वह अपनी पहले की स्थिति प्राप्त करने में असमर्थ रहा।

ग्रेट ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल
[Great Britain and Commonwealth]

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद चर्चिल ने ब्रिटिश साम्राज्य को घटाना प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिश साम्राज्य में स्वतन्त्र हुए राष्ट्रों को राष्ट्र मण्डल के रूप में सम्बद्ध किया गया। राष्ट्रमण्डल की उत्पत्ति १८३९ की डरहम रिपोर्ट (Durham Report) से ही मानी जा सकती है। कनाडा १८६७ में ही इसका सदस्य बन गया था। न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका आदि प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व डामिनियन बन गये थे। ब्रिटिश संसदात्मक प्रणाली के आधार पर उत्तरदायी स्वायत्त सरकार इन सम्बन्धों की विशेषता थी। किन्तु सन् १९२६ में लार्ड बालफर (Lord Balfour) ने इन डोमीनियनों को स्वायत्त समुदाय घोषित कर दिया तथा इनको ब्रिटेन के समान मान लिया गया। आज राष्ट्रमण्डल २० से अधिक स्वतन्त्र प्रभुता सम्पन्न राज्यों की एक स्वतन्त्र संस्था है। स्वतन्त्रता एवं भाईचारे की इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का उदाहरण इतिहास में प्राप्त नहीं होता। इसमें सभी सदस्यों को समान समझा जाता है तथा सभी निर्णय सामान्य हित को ध्यान में रख कर सामान्य मत के आधार पर ही लिए जाते हैं। ब्रिटेन को इस संस्था में कोई प्राथमिकता नहीं दी गई है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ब्रिटेन ने राष्ट्रमण्डल के सहारे अपने हितों को सुरक्षित बनाये रखने का एक सफल एवं कुशल प्रयास किया है। साम्राज्य के समय जिन देशों से ब्रिटेन के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं अन्य हित सम्बद्ध होगये थे उनको एकाएक ही तोड़ देना न तो सम्भव था और न ही उपयोगी अतः राष्ट्रमण्डल ने ब्रिटेन तथा उसके अतीत साम्राज्य के बीच एक कड़ी का काम किया है। पामर तथा परकिन्स के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "यद्यपि इसमें बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं और इसका भविष्य भी अनिश्चित है तो भी राष्ट्रमण्डल सम्भवतः सभी अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों में सर्वाधिक सफल रहा है। विश्व राजनीति पर निश्चय ही यह बहुत प्रभाव डालता रहेगा।"[1]

---

1. "Although vast changes are occuring within it and its future is uncertain, the British Commonwealth of Nations has been probably the most successful of all international

ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति जिस रूप में संचालित हो रही है उसका अध्ययन करने के बाद कुछ विचारक यह मत प्रकट करते हैं कि वह धीरे-धीरे संयुक्त राज्य अमेरिका का पिछलग्गू बनता जा रहा है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि ब्रिटेन का अस्तित्व एवं विकास विशेष रूप से अमेरिकी मित्रता पर निर्भर करता है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर ब्रिटेन ने प्रायः वही रुख अपनाया है जो कि संयुक्त राज्य अमरीका का होता है। कई बार तो मिश्र-मामले की भांति अपनी इच्छा के विपरीत भी उसे अमेरिकी प्रभाव पर अमल करना पड़ा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में ब्रिटेन के प्रतिनिधि किसी प्रस्ताव का समर्थन या विरोध करने से पूर्व यह जान लेना पसन्द करते हैं कि अमरीका की उस पर क्या प्रतिक्रिया है। इन सभी तथ्यों के आधार पर जो लोग ब्रिटेन के स्वयं के व्यक्तित्व को घटता हुआ देखते हैं उनके बारे में ब्रिटिश नेताओं का मत विरोधी है। वे अब भी यह मानते हैं कि 'ब्रिटेन चाहे विश्व की सर्वोच्च शक्ति न हो किन्तु फिर भी वह एक बड़ी शक्ति (Great Power) अवश्य है तथा उसे विश्व-व्यापी रूप से सोचना पड़ता है।" उसके विश्व-व्यापी हित कभी-कभी आपस में टकरा भी जाते हैं फिर भी उसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की ओर प्रयास करना होता है। कुछ विचारकों के मत में आज भी उसका प्रमुख लक्ष्य अपनी पूर्व शक्ति एवं सम्मान को जहां तक सम्भव हो सके बनाये रखना है। वह अपने सीमित साधनों का प्रयोग वहां करता है जहां कि उसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ सके।

SUGGESTED READINGS

1. E. H. Carr, Britain: A Study of Foreign Policy from the Versailles Treaty to the Outbreak of the War, London, 1939.
2. Winston S. Churchill, The Second World War, 6 vols. Houghton Mifflin 1948-53.
3. Henry C. Allen, Great Britain and the United States, St Martin's Press, 1955.
4. M. A. Fitzsimons, The Foreign Policy of the British Labour Government, 1945-51, University of Notre Dame Press 1952.
5. Sir Oliver Franks, Britain and the Tide of World Affairs, Oxford University Press, 1955.
6. Nicholas Mansergh, The Commonwealth and the Nations; London, 1948.
7. T. E. M. Mc Kittrick, Conditions of British foreign Policy, London, 1951.
8. Rayner and Airey, Britain and Egypt, 1952.

---

groupings. It will undoubtedly continue to exert a major influence in the world affairs."

—*Palmer and Perkins* op. cit. P. 749